❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेद संहिता ❀

मूल-मन्त्र-सायण-भाष्य

तथा-

सायणभाष्य के अनुकूल

भाषानुवादसहित

एकोनविंश-काण्ड

———o———

जिसको-

ऋ० कु० प० रामस्वरूपशर्मात्मज

मुरादाबादनिवासी-सनातनधर्मपताका-सम्पादक

ऋ० कु० प० रामचन्द्र शर्माने

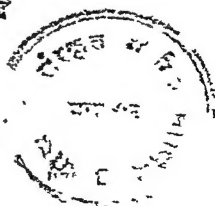
अनुवादित कर

अपने

सनातनधर्म-यन्त्रालय

मुरादाबाद में छाप कर

प्रकाशित किया.



सम्वत् १९८८

प्रथम बार

१०००

❀ श्रीहरिः ❀

❀ सभाष्य अथर्ववेदकी विषयसूची ❀

विषय पृष्ठ

❀ उन्नीसवाँ काण्ड ❀

प्रथम अनुवाक—

प्रथमसूक्त । इसके द्वारा सर्वपुष्टिकर्म के संपातित और अभिमन्त्रित मैश्रधान्यका चरुप्राशन और दधिमधुमिश्र सक्तुमन्थप्राशन होता है । व्रीहि यव आदि मिश्र धान्यों का वर्णन । इस सूक्तका लक्ष्मीकरणमें भी प्रयोग होता है । और अमृता आदि महाशान्तियोंमें लाये हुए नदी आदिके जलका भी इससे अनुमन्त्रण होता है । १

द्वितीयसूक्त । इससे महाशन्तियोंमें नदी आदिसे लाये हुए जलका अभिमन्त्रण किया जाता है । ७

तृतीय और चतुर्थसूक्त । इन दोनोंका मेधाजनन कर्म में और वर्चस्कामके लिये प्रयोग किया जाता है अग्निके तीन शरीरोंका वर्णन १२

पञ्चमसूक्त । धन चाहने वाला राजा इस सूक्तसे इन्द्र का उपस्थान वा पूजन करे । २७

षष्ठ और सप्तम सूक्त । इन दोनों सूक्तोंसे पुरुषमेधमें पुरुषपशुका अनुमन्त्रण, शनैश्चरग्रहदैवत्यहविर्घृ तहोम और सौवर्णभूमिदानका घृतहोम होता है ॥ आधियज्ञिक और आध्यात्मिकभेदसे पुरुषमेधके दो भेद । पुरुषसूक्त । नारायण पुरुषकी इच्छा । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी उत्पत्ति । चन्द्र सूर्य इन्द्र और अग्नि आदि देवताओंकी उत्पत्ति विराट् आदिका वर्णन । यजुर्वेद आदिका प्रादुर्भाव । २८

अष्टम और नवमसूक्त । नक्षत्रहोम । कृत्तिका रोहिणी आदि नक्षत्रोंका वर्णन । कृत्तिका आदि शब्दोंका अर्थ और इनके देवता । अट्ठाईस नक्षत्र । ५८

विषय पृष्ठ

दशमसूक्त। राजाको घर पहुँचानेमें और ऐरावती शांतिमें तथा पिष्टरात्रिकल्पमें इसका विनियोग होता है। पतनका कारण-विहितका अनुष्ठान न करना और निन्दितका सेवन करना। आत्माका निवासस्थान। ७४

द्वितीय अनुवाक-

प्रथम द्वितीय तृतीय सूक्त। इनसे राजाका शय्यागृहमें प्रवेश, तुलादानमें घृतहोम किया जाता है तथा इनका शान्तिगणमें भी पाठ है। यम आदिका वर्णन। ६१

चतुर्थसूक्त। इसका नाम अप्रतिरथ है। ११२

पञ्चमसूक्त। प्रयाणकी समाप्तिमें आहिताग्नि पत्नीसहित घृताहुति देवे। १२६

छठा सूक्त। इसका अभयाशान्तिमें प्रयोग होता है। १२७

सप्तम अष्टम नवम और दशमसूक्त। इनसे राजाका शय्यागृहप्रवेशन कर्म होता है, दशमसूक्तका राजाके नूतन-नगरके प्रवेश कर्ममें भी विनियोग होता है॥ १३४

एकादश—सूक्त। पुरोहित इससे युद्धके लिये उद्यत राजाको कवच पहिराया करता है। १६८

तृतीय अनुवाक-

प्रथमसूक्त। इससे गायत्री महाशान्ति की जाती है। १७२

द्वितीय और तृतीयसूक्त। इनसे सम्पत्काम आदिकी आंगिरसी महाशन्ति की जाती है। १७३

चतुर्थसूक्त। इससे वस्त्रक्षयमें त्वाष्ट्री महाशांति कीजाती है१८२

पञ्चमसूक्त। इससे अश्वक्षयमें गांधर्वी महाशान्ति करे १६२

छठासूक्त। इससे आग्नेयी महाशन्तिमें सुवर्णके कुण्डल आदिको अभिमन्त्रित करके बाँधा जाता है। तथा तुला-पुरुषमें भी इसका प्रयोग किया जाता है। १६४

चतुर्थ अनुवाक-

प्रथमसूक्त। इससे प्राजापत्या और सावित्रीमहाशांतिके मणिबन्धन होते हैं। २००

विषय पृष्ठ

द्वितीय तृतीय और चतुर्थ सूक्त। इससे ऐन्द्री महा-शान्तिमें दर्भमणि बाँधी जाती है। २१७

पञ्चम सूक्त। इससे धनकामके लिये कौवेरी महाशांति में औदुम्बरमणि बाँधी जाती है। २३२

छठासूक्त। इससे याम्या महाशांतिमें दर्भमणि बाँधीजाती है २४६

सप्तमसूक्त। इसका भी याम्या महाशान्तिके दर्भमणि बन्धनमें विनियोग होता है? २५५

पञ्चम अनुवाक—

प्रथम और द्वितीय सूक्त। इनसे वायव्या और वारुणी महाशान्तिमें मणिएँ बाँधी जाती हैं। २६१

तृतीयसूक्त। इससे सन्ततिशान्तिमें शतवारमणिको अभिमंत्रित करके बाँधा जाता है। २७४

चतुर्थसूक्त। देवताओंसे वर्चः प्राप्तिकी प्रार्थना २७९

पञ्चमसूक्त। इसका राजाके शय्यागृहप्रवेशनकर्ममें विनि-योग होता है। २८२

छठासूक्त। इसका रात्रिकल्पमें विनियोग होता है। २८५

सप्तमसूक्त। इसका पवित्रा नष्ट होने आदिमें विनियोग होता है। २९६

अष्टम सूक्त। प्रार्थना। ३०१

नवम सूक्त। ब्रह्मस्तुति। ३०२

दशम सूक्त। देवताओंसे प्रार्थना ३०८

एकादशसूक्त। इससे नैर्ऋतिमहाशान्तिमें आञ्जनमणि बाँधी जाती है। ३१५

द्वादशसूक्त। इसका भी आञ्जनमणिबन्धनमें विनियोग है ३२२

छठा अनुवाक—

प्रथम सूक्त। इसका मारुद्गणी महाशांतिमें प्रयोग होता है ३३१

द्वितीय तृतीयसूक्त। इनका रात्रिके उपस्थानमें विनियोग है ३४१

चतुर्थ और पञ्चम सूक्त। इनका रात्रिकी पूजा और उपस्थानमें विनियोग होता है। ३५८

विषय पृष्ठ

छठा सूक्त । यह यजुर्मंत्रात्मक सूक्त है । ३७८

सप्तम सूक्त । इससे प्रतिग्रहके द्रव्यका ग्रहण किया जाता है । सर्वयज्ञप्रतिग्रह, दर्शपूर्णमासकी गड़बड़ी और सौवर्णभूमिप्रतिकृतिदानमें इसका विनियोग होता है । ३८०

अष्टम नवम सूक्त । इन दोनों सूक्तोंका सौवर्णभूमिदान के घृतहोममें विनियोग होता है । ३८८

सप्तम अनुवाक—

प्रथम सूक्त । इसका प्रातःकालके अग्न्युपस्थानमें विनियोग होता है । ४०९

द्वितीयसूक्त । इसका दुःस्वप्ननाशनकर्ममें विनियोगहोता है ४१५

तृतीयसूक्त । इससे दुःस्वप्नदर्शी राजाका अभिमन्त्रण किया जाता है । ४२३

चतुर्थसूक्त । इससे दर्शपूर्णमासमें आज्यभागहोमसे पहिले घृतकी आहुति दी जाती है । ४२९

पञ्चमसूक्त । इसका दर्शपूर्णमासके व्यतिक्रममें प्रयोग होता है ४३९

छठासूक्त । प्रार्थना ४४२

सप्तम और अष्टमसूक्त । सूर्योपस्थान । ४४७

नवमसूक्त । सूर्योपस्थान ४४९

दशमसूक्त । इसका उपाकर्ममें और सब श्रौत तथा स्मार्तकर्मोंके आरंभमें जप होता है । ४५१

एकादशसूक्त । इससे आयुष्काम जलोंसे आचमन कर आत्माका अनुमन्त्रण करता है । ४५२

द्वादशसूक्त । इसका अधीतवेद वा गायत्रीके उपस्थानमें विनियोग होता है । ४५६

त्रयोदशसूक्त । इसका सब श्रौत और स्मार्तकर्मोंमें और स्वाध्यायोत्सर्जन कर्ममें भी विनियोग होता है । ४५८

॥ श्रीहरिः ॥

अथर्ववेदसंहिता

एकोनविंशं-काण्डम्



सायणभाष्य तथा अनुवादसहित

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानाम् उपक्रमे ।
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥
यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्।
निर्ममे तम् अहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

श्रीः ॥ सकल कार्योंका आरम्भ करते समय सरस्वती आदि देवता जिनको प्रणाम करके अपने आरब्ध कर्ममें सफल होते हैं उन गजाननको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥ वेद जिनके निःश्वासरूप हैं और जिन्होंने वेदोंके अनुसार सकल जगत्की रचना की है उन विद्यातीर्थ महेश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

एकोनविंशे काण्डे सप्तानुवाकाः । तत्र प्रथमेऽनुवाके दश सूक्तानि । तत्र "सं सं स्रवन्तु" इति प्रथमं सूक्तं सर्वपुष्टिकर्मणि संपाताभिमन्त्रितमैश्रधान्यचरुप्राशने दधिमधुमिश्रसक्तुमन्थप्राशने च विनियुक्तम् । सूत्रितं हि । "सं सं स्रवन्त्विति नाद्याभ्याम् उदकम् आहरतः सर्वत उपासेचं तस्मिन् मैश्रधान्यं शृतम् अश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. २] । व्रीहियवादीनि मिश्रधान्यानि । "व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियङ्गुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि" इति [कौ० १, ८] परिभाषासूत्रात् ॥

लक्ष्मीकरणेपि एतत् सूक्तम् । सूत्रितं हि । "यस्य श्रियं कामयते ततो व्रीह्याज्यपय आहार्य क्षीरौदनम् अश्नाति" इत्यादि [कौ० ३. २]॥

तथा अमृतादिमहाशान्तिसाधारणभूतायां शान्तौ शान्त्युदकार्थं नदीह्रदादिभ्यः समाहृतं जलम् अनेन सूक्तेन अभिमन्त्रयेत । तद् उक्तं नक्षत्रकल्पे ।

तन्त्रभूतां महाशान्तिं प्रवक्ष्यामो यथाविधि ।
अन्यासां सर्वशान्तीनाम् अमृतां विश्वभेषजीम् ॥
नदीभ्यो वा ह्रदेभ्यो वा जलं पुण्यं समाहरेत् ।
सं सं स्रवन्तु तद् विद्वान् अभिमन्त्रयते ततः ॥

इति [न० क० २०]॥

प्रथमकाण्डे "सं सं स्रवन्तु सिन्धवः" इति समाम्नातं चतुर्ऋचं सूक्तम् [१. १५] "इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः" इति "तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि" इति च धनरयिलिङ्गात् सर्वपुष्टिकर्मणि लक्ष्मीकरणे च विनियुक्तम् । अत्रापि "यज्ञम् इमं वर्धयता गिरः" "रूपंरूपं वयोवयः" इति लिङ्गात् सर्वपुष्टिकर्मणि लक्ष्मीकरणे च विनियुज्यते । अत एव उभयसाधारणं सूक्तप्रतीकं कौशिकः सूत्रितवान् "सं सं स्रवन्त्विति नाव्याभ्याम् उदकम् आहरतः" इति [कौ० ३. २] "सं सं स्रवन्तु तद् विद्वान्" इति च [न० क० २०] । अतः सूक्तयोः समुच्चयेन विकल्पेन वानुष्ठानम् ॥

उन्नीसवें काण्डमें सात अनुवाक हैं । इसके प्रथम अनुवाकमें दश सूक्त हैं । इसका "सं सं स्रवन्तु" नामक प्रथम सूक्त सर्वपुष्टिकर्ममें, सम्पातित और अभिमन्त्रित धान जौ गेहूँ उपवाक तिल और प्रियंगु (कँगनी) नामक मिश्रधान्यके चरुप्राशनमें तथा दही शहद मिले हुए सत्तुओंके मन्थके प्राशनमें विनियोग होता

है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"सं सं स्रवन्तु इति नाद्याभ्यां उदकं आहरतः सर्वत उपासेचं तस्मिन् मैश्रधान्यं श्रृतं अश्नाति।" (कौशिकसूत्र ३। २)।

यह सूक्त लक्ष्मीकरणमें भी आता है। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"यस्य श्रियं कामयते ततोऽव्रीहाज्यपय आहार्य क्षीरौदनं अश्नाति।—जिसके लिये लक्ष्मीको चाहे उससे धान घृत दूधको लाकर क्षीर और भातका प्राशन करे।०" (कौशिक सूत्र ३। २)॥

तथा अमृता आदि महाशांतिकी साधारणभूत शांतिमें शान्ति जलके लानेके लिये नदी आदिसे लाये हुए जलको इस सूक्तसे अभिमन्त्रित करे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि—"हम अन्य सब शान्तियोंकी प्रधानभूत सबकी चिकित्सारूपा अमृता महाशान्तिको शास्त्रोक्तविधिसे कहता हूँ, कि—विद्वान् पुरुष नदियों से वा सरोवरोंसे बहुतसे पवित्र जल लावे फिर उसको सं सं स्रवन्तु—सूक्तसे अभिमन्त्रित करे।" (नक्षत्रकल्प २०)॥

प्रथम काण्डमें "सं सं स्रवन्तु सिन्धवः" यह चार ऋचा वाला सूक्त कहा है (१। १५)। और "इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः" तथा "तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि" आदि मन्त्रोंमें धन और रयिशब्दोंके लिंगसे सर्वपुष्टिकर्ममें और लक्ष्मीकरणमें भी इसका विनियोग कहा था। यहाँ पर भी "यज्ञं इमं वर्धयता गिरः" "रूपं रूपं वयः वयः" लिंगसे सर्वपुष्टिकर्ममें और लक्ष्मीकरणमें इसका विनियोग होता है। अत एव दोनोंके लिये सूक्तप्रतीक कौशिकने कहा है, कि—"सं सं स्रवन्त्विति नाद्याभ्यां उदकं आहरतः" (कौशिकसूत्र ३। २) "सं सं स्रवन्तु तद् विद्वान्" (नक्षत्रकल्प २०)॥ अत एव इन सूक्तोंका अलग २ वा एक साथ अनुष्ठान होसकता है।

तत्र प्रथमा ॥

सं सं स्रवन्तु नद्यः१ सं वाताः सं पतत्रिणः ।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि १

सम् । सम् । स्रवन्तु । नद्यः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः ।
यज्ञम् । इमम् । वर्धयत । गिरः । सम्ऽस्राव्येण । हविषा । जुहोमि ।

नद्यः नदनशीला निम्नगाः सं सं स्रवन्तु सम्यक् प्रवहन्तु । वाताश्च सं स्रवन्तु आनुकूल्येन वान्तु । तथा पतत्रिणः पतत्राणि पक्षा येषां सन्ति ते तदुपलक्षिताः सर्वे प्राणिनः सं स्रवन्तु । सम्यग् अनुकूलस्वभावाश्चरन्तु । यद्वा एते नदीप्रभृतयः सं स्रवन्तु । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । सं स्रावयन्तु । अस्मदभिलषितं फलं प्रयच्छन्तु इत्यर्थः ॥ हे गिरः गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः । ❀ कर्मणि क्विप् ❀ । हे देवाः स्तूयमाना यूयम् इमम् हविःप्रदं यज्ञम् यजमानम् । ❀ व्यत्ययेन कर्तरि नङ् प्रत्ययः ❀ । यस्य कृते पुण्यादिकर्मशान्तिरनुष्ठीयते तं फलस्वामिनं यजमानं वर्धयत पशु-पुत्रादिभिः समृद्धं कुरुत । अपि वा गृणन्तीति गिरः । ❀ कर्तरि क्विप् ❀ । कर्मप्रयोक्तारः संबोध्यन्ते । अत्र हविषः सद्भावं दर्शयति संस्राव्येणेति । सम्यक् स्रवणं संस्रावः । ❀ स्रु गतौ । भावे घञ् ❀ । संस्रावम् अर्हतीति संस्राव्यम् आज्यपयःप्रभृति । ❀ "तद् अर्हति" इति यत् प्रत्ययः ❀ । यद्वा संस्रावणीयेन । ❀ सं पूर्वात् स्रवतेर्ण्यन्ताद् "अचो यत्" इति यत् प्रत्ययः ❀ । तादृशेन हविषा आज्यादिना जुहोमि आज्यादिकं हविः देवान् उद्दिश्य अग्नौ प्रक्षिपामीत्यर्थः । ❀ "तृतीया च होश्छन्दसि" इति हविषेतिकर्मणि तृतीया ❀ ॥

नदन (गर्जना) करने वाली नदियें भली प्रकार प्रवाहित

होवें । वायु भी भली प्रकार प्रवाहित हो-हमारे अनुकूल प्रवाहित हो । पक्षी आदि भी हमारे अनुकूल चलें अथवा ये नदी आदि सब हमको अभिलषित फल देवें । हे स्तुति पानेवाले देवताओं ! तुम जिसके लिये पुण्य कर्म शान्ति आदिकी जा रही है उस फलस्वामी यजमानको पशु पुत्र आदिसे बढ़ाओ, मैं बहने वाले घृत आदि पदार्थोंसे सम्पन्न हविसे देवताओंके निमित्त आहुति देता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत ।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्येण हविषा जुहोमि २

इमम् । होमाः । यज्ञम् । अवत । इमम् । सम्ऽस्रावणाः । उत ।
यज्ञम् । इमम् । वर्धयत । गिरः । सम्ऽस्राव्येण । हविषा । जुहोमि २

हे होमाः आहुतयः यूयम् इमं प्रवर्त्यमानं यज्ञम् आहुतिसमुदायात्मकं कर्म अवत तर्पयत । कतिपयाहुतीनां परित्यागे विपर्यासे वा तत्समष्टिरूपस्य कर्मणो वैगुण्यं भवतीति व्यस्ता एव आहुतयः पृथक् प्रार्थ्यन्ते । यथा वनसभादिषु समूहिवृत्ताद्यभावात् समूहाभावः एवम् अत्रापि । उत अपि च हे संस्रावणाः । ❀ कर्मणि ल्युट् प्रत्ययः ❀ । संस्रावणीयाः आज्यपयःप्रभृतयः यूयम् इमं यज्ञम् अवत । साधनाभावे साध्यस्य अनिष्पादनात् ॥ अथ वा हे होमाः होतव्या देवताः इमं यज्ञम् यष्टारं फलकामं यजमानम् । अवत । पशुपुत्रादिभिः सर्वैः फलैः समर्धयत । जुह्वतीति होमाइति प्रयोक्तारो वा संबोध्यन्ते ॥ यज्ञम् इमम् इत्यादिरुत्तरार्धर्चो व्याख्यातः ॥

हे आहुतियों ! तुम इस चालू आहुतिसमुदायरूप यज्ञकर्मको

तृप्त करो [कुछ आहुतियोंका त्याग होने पर वा लौट फेर होने पर उनका समष्टिरूप कर्म गुणहीन होजाता है अत एव व्यस्त आहुतियोंकी यहाँ प्रार्थना की गई है । जैसे वन सभा आदिमें समूही वृक्ष पुरुषोंके अभाववश समूहका अभाव होता है इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ।] हे संस्रावणीय घी दूध आदि तुम इस यज्ञकी रक्षा करो [क्योंकि–साधनके अभावमें साध्य निष्पन्न नहीं होसकता] हे स्तुति पाने वाले देवताओं ! तुम इस यजमानको पुत्र पौत्र पशु आदि फल देकर समृद्ध करो मैं घृतस्रुत हविसे आहुति देता हूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे ।
यज्ञमिमं चतस्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

रूपम्ऽरूपम् । वयःऽवयः । सम्ऽरभ्य । एनम् । परि । स्वजे ।
यज्ञम् । इमम् । चतस्रः । प्रऽदिशः । वर्धयन्तु । सम्ऽस्राव्येण ।
हविषा । जुहोमि ॥ ३ ॥

रूपंरूपं वयोवयः । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् । "नित्यं वा वयः" "सप्तदश वयांसि" इति च श्रुतेः ❀ । समस्तं पशुपुत्रादिकम् अभिलषितं फलं संरभ्य गृहीत्वा एनं कर्मप्रयोजयितारं फलकामं यजमानं परि ष्वजे पशुपुत्रादिफलैः सर्वतः संबद्धं करोमि इति प्रयोक्ता ब्रूते । ❀ "इदमोन्वादेशे०" एनादेशः । ष्वञ्ज परिष्वङ्गे । लटि उत्तमैकवचने "दंशसञ्जस्वञ्जां शपि" इति उपधानकारलोपः ❀ । कथम् एकेन प्रयोक्त्रा सर्व-

रूपवयसां स्वीकारः। तत्राह। चतस्रः प्रदिशः प्रकृष्टा प्राच्यादयो महादिशः तत्रस्था जनाः इमं यज्ञम् यजमानं वर्धयन्तु। अभिलषितैः सर्वैः समृद्धं कुर्वन्तु। संस्राव्येणेति पादः पूर्ववत् ॥

इति एकोनविंशे काण्डे प्रथमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

मैं प्रयोक्ता पुरुष, पशु पुत्र आदि समस्त और "सप्तदश वयांसि।–सत्रह अवस्थायें होती हैं" इस श्रुतिमें प्रतिपादित सब अवस्थाओंको ग्रहण कर–लक्ष्यमें रख कर–इस यजमानसे आलिंगन करता हूँ अर्थात् इन सबोंसे यजमानको संयुक्त करता हूँ। पूर्व आदि चारों श्रेष्ठ दिशायें यजमानको सब अभिलषित फलों से संयुक्त करें। मैं बहने वाले घृत दुग्ध आदि पदार्थों वाली हवि से आहुति देता हूँ ॥ २ ॥

उन्नीसवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५४५)

"शं त आपः" इति सूक्तेन तन्त्रभूतमहाशान्तौ नद्यादिसमाहृतं जलम् अभिमन्त्रयेत। सूत्रितं हि नक्षत्रकल्पे।

नदीभ्यो वा ह्रदेभ्यो वा जलं पुण्यं समाहरेत्।
सं सं स्रवन्तु तद् विद्वान् अभिमन्त्रयते ततः ॥
शं त आपो हैमवतीः ॥
[इति न० क० २०] ॥

"शं त आपः" सूक्तसे तन्त्रभूतमहाशांतिमें नदी आदिसे लाये हुए जलका अभिमन्त्रण करे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"नदीभ्यो वा इत्यादि" (नक्षत्रकल्प २०) ॥

तत्र प्रथमा ॥

शं त॒ आपो॑ हैमव॒ती शमु॑ ते सन्तू॒त्स्याः᳡।
शं ते॑ सनि॒ष्यदा॒ आपः॒ शमु॑ ते सन्तु व॒र्ष्याः᳡ ॥१॥

शम् । ते । आपः । हैमऽवतीः । शम् । ऊं इति । ते । सन्तु ।
उत्स्याः ।
शम् । ते । सनिस्यदाः । आपः । शम् । ऊं इति । ते । सन्तु ।
वर्ष्याः ॥ १ ॥

शान्तिकर्मकर्ता ऋत्विक् प्रयोजयितारं फलकामं यजमानं संबोध्य आह । हे यजमान ते तव हैमवतीः हिमवतः पर्वताद् आगताः । ❀ "तत आगतः" इति अण् ❀ । हिमवति भवा वा । ❀ "तत्र भवः" इति अण् "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। ता आपः शम् सुखकारिण्यो भवन्तु । तथा उत्स्याः उत्सः प्रस्रवणम् तत्र भवाः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् ❀ । ता आपः ते तव शं सन्तु सुखकारिण्यो भवन्तु । तथा सनिष्यदाः सर्वदा स्यन्दमानाः । ❀ स्यन्दतेर्यङ्लुकि अभ्यासस्य छान्दसो निगागमः ❀ । सततं स्रवन्त्य आपः ते तव शं भवन्तु । उ अपि च वर्ष्याः वर्षासु भवा आपः ते तव शं सन्तु सुखकारिण्यो भवन्तु ॥

[शान्तिकर्मको करने वाला ऋत्विज यजमानको सम्बोधित करके कहता है, कि—हिमवान् पर्वतसे आये हुए जल तेरा कल्याण करने वाले हों, झरनेके जल तेरा कल्याण करें, सदा बहते रहने वाले जल तेरा कल्याण करें। और वर्षाके जल भी तेरे लिये सुखप्रद होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं त आपो धन्वन्या३ः शं ते सन्त्वनूप्याः ।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः २

शम् । ते । आपः । धन्वन्याः । शम् । ते । सन्तु । अनूप्याः । शम् । ते । खनित्रिमाः । आपः । शम् । याः । कुम्भेभिः । आऽभृताः ॥ २ ॥

धन्वन्याः धन्वनि मरुदेशे भवाः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावात् "नस्तद्धिते" इति विहितष्टिलोपो न भवति ❀ । ता आपः ते तव शं भवन्तु । अनूप्याः अनुगता आपो यस्मिन् देशे । ❀ "ऋक्पूरब्धूःपथाम् आनक्षे" इति अच् समासान्तः । "ऊदनोर्देशे" इति अप्शब्दाकारस्य ऊकारदेशः ❀ । अनूपे जलसमृद्धे देशे भवा आपः । ❀ पूर्ववद् यत् ❀ । ते शं सन्तु । तथा खनित्रिमाः खननेन निर्वर्त्याः कूपतटाकादिस्था आपः ते तव शं भवन्तु । ❀ खनतेर्बाहुलकात् क्त्रिप्रत्ययः। "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इति इडागमः। "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति मप् प्रत्ययस्तद्धितः ❀ । तथा कुम्भेभिः कुम्भैः आभृताः आहृता आनीता या आपः सन्ति ता अपि शं भवन्तु । ❀ "हृग्रहोर्भश्छन्दसि" इति भः ❀ ॥

मरुस्थलके जल तेरे लिये कल्याणकारी होवें, जलसमृद्ध देश में होने वाले जल तेरे लिये कल्याणप्रद होवें, खोदनेसे बने हुए कूए बावड़ी आदिके जल तेरे लिये कल्याणप्रद होवें, कुम्भोंमें लाये हुए जल तेरे लिये कल्याणकारक होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः ।
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि ॥ ३ ॥

अनभ्रयः । खनमानाः । विप्राः । गम्भीरे । अपसः ।
भिषक्ऽभ्यः । भिषक्ऽतराः । आपः । अच्छ । वदामसि ॥ ३ ॥

अनभ्रयः अभ्रिः खननसाधनं कुद्दालादि । तद्रहिताः सन्तः खनमानाः काष्ठहस्तपादादिना खननशीला गम्भीरे अपसः गम्भीरे असाध्येपि विषये अपः कर्म येषां ते दुःसाध्यमपि प्रयोजनं मन्त्रबलात् साधयन्तो विप्राः मेधाविनः । इति सर्वम् ऋत्विग्विशेषणम् । एते वयं भिषग्भ्यः वैद्येभ्योपि भिषक्तराः । भिषजो हि औषधानि अन्यतः समानीय चिकित्सन्ति । अपां तु मध्ये भेषजानि विद्यन्त इति लौकिकेभ्यश्चिकित्सकेभ्योपि शिष्टा वैद्याः । तथा च निगमः । "अप्सु मे सोमो अब्रवीद् अन्तर्विश्वानि भेषजा" [ऋ० १०. ९. ६] "आपश्च विश्वभेषजीः" इति च [ऋ० १. २३. २०] । तथाविधा आपः । ❀ "अप्तृन्०" इति असर्वनामस्थानेपि छान्दसो दीर्घः ❀ । अच्छा वदामसि अभिवदामः अभिष्टुमः । ❀ "इदन्तो मसिः" "अच्छ गत्यर्थवदेषु" इति अच्छशब्दो गतिसंज्ञकः ❀ ॥ अथ वा पूर्वार्धं सर्वम् अब्विशेषणम् । अनभ्रयः अभ्र्यादिसाधनराहित्येन खनमानाः तटद्वयम् अवदारयन्त्यः विप्राः स्वोपजीविनां मेधाजननहेतवः विशेषेण पूर्णा वा गम्भीरे अगाधे स्थाने अपो व्याप्तिर्यासां ता महाह्रदादिषु व्यापनशीलाः । ❀ आप्नोतेर्नुड् ह्रस्वश्च [उ० ४. २०७] इति असुन् । धातोर्ह्रस्वश्च नुडागमस्तु विकल्पितः ❀ । एवंरूपा या आपः सन्ति ता वैद्येभ्योपि अत्यन्तहितकारिणीरपः अभिष्टुम इति॥

जो फावड़ा आदि साधनके विना भी दोनों ओरके किनारों को ढाते रहते हैं, अपनेसे उपजीवन करने वालोंकी बुद्धिको बढ़ाते हैं और महाह्रद आदि अगाध स्थानोंमें रहते हैं ऐसे वैद्योंसे भी अधिक हित करने वाले जलोंकी हम स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अपामह दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम् ।

अपामह प्रणेजनेश्वा भवथ वाजिनः ॥ ४ ॥

अपाम् । अह । दिव्या नाम् । अपाम् । स्रोतस्या नाम् ।

अपाम् । अह । प्रऽनेजने । अश्वाः । भवथ । वाजिनः ॥ ४ ॥

अहेति विनिग्रहार्थीयः । दिव्यानाम् दिवि भवानाम् अपाम् स्रोतस्यानाम् स्रोतः प्रवाहः । तद्भवानाम् अपाम् अपाम् तदुभय-व्यतिरिक्तानाम् अन्यासाम् अपां प्रणेजने शोधनविषये अश्वाः । लुप्तोपमैषा । अश्वाः तुरगा इव वाजिनः वाजो वेगः तद्वन्तो भवथ इति ऋत्विजः परस्परं ब्रुवते यजमानो वा ऋत्विजो ब्रूते मदर्थं व्याप्रियमाणा यूयं शान्त्युदककर्मणि त्वरमाणा भवतेति ॥

[ऋत्विज आपसमें कहते हैं और यजमान ऋत्विजोंसे कहता है, कि–तुम द्युलोकके जलोंके प्रवाहकी समान वा प्रेरित घोड़ों की समान शान्त्युदककर्ममें त्वरा करने वाले होओ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

ता अपः शिवा अपोयक्ष्मंकरणीरपः ।

यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः ॥ ५ ॥

ताः । अपः । शिवाः । अपः । अयक्ष्मम्ऽकरणीः । अपः ।

यथा । एव । तृप्यते । मयः । ताः । ते । आ । दत्त । भेषजीः ५

इदमपि प्रयोजकस्य वाक्यम् । ताः प्रसिद्धा या आपः शिवाः शिवकारिण्य आपः अयक्ष्मंकरणीः अरोगकारिण्यो या अपः आपः । ❀ प्रथमार्थे द्वितीया । "आढ्यसुभग०" इति विहितः ख्युन् प्रत्ययः अयक्ष्मशब्दोपपदादपि व्यत्ययेन उत्पन्नः । "खित्यनव्ययस्य" इति मुम् आगमः ❀ । ता भेषजीः भिषग्वद् आ-

भयनिर्हारिकाः हितकारिणीश्च अपः । ❀ "केवलमामक०" इति ङीप् प्रत्ययः ❀ । ते यूयम् प्रयोक्तारः । ❀ युष्मच्छब्दादेशशब्दो न भवति । तच्छब्दस्य प्रथमाबहुवचने रूपम् । निघातस्तु छान्दसः ❀ । आ दत्त आनयत । ❀ डुदाञ् दाने । लोटि मध्यमबहुवचनम् । "आङो दोनास्यविहरणे" इति आत्मनेपदं सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् न भवति ❀ । उदकानयने फलं दर्शयति यथैवेति तृतीयपादेन । मय इति सुखनाम । सुखं यथैव एवकारो भिन्नक्रमः । सुखमेव येन प्रकारेण तृप्यते तृप्तम् अधिकं भवति । अधिकसुखलाभाय शान्त्युदकम् आनयतेत्यर्थः । यद्वा ते त्वदर्थम् आदत्त आनीतवान् इति प्रयोक्ता स्वात्मानं परोक्षेणाह । ❀ "आङो दः०" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

इति प्रथमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

प्रयोजक कहता है, कि–हे प्रयोक्ताओं ! जो जल कल्याण करने वाले हैं जो जल यक्ष्माको निवृत्त करने वाले हैं उन औषध स्वरूप जलोंको तुम लाओ जिससे सुख बढ़े ॥ ५ ॥

प्रथम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५४६)

"दिवस्पृथिव्याः" इति सूक्तद्वयं मेधाजननकर्मणि विनियुज्यते । एतेन सूक्तद्वयेन मेधाकामः सुप्त्वोत्थाय मुखं हस्तेन प्रक्षालयति । सूत्रितं हि । दिवस्पृथिव्याः इति संहाय मुखं विमार्ष्टि" इति । [कौ० २. १] ॥

वर्चस्कामोपि अनेन सूक्तद्वयेन दधिमधुनी संपात्य अभिमन्त्र्य अश्नीयात् ॥

तथा वर्चस्कामः क्षत्रियश्चेद् अनेन सूक्तद्वयेन भक्तमिश्रिते दधिमधुनी संपात्य अभिमन्त्र्य क्षत्रियं प्राशयेत् ॥

वर्चस्कामो वैश्यशूद्रादिश्चेद् अनेन सूक्तद्वयेन केवलम् ओदनं संपात्य अभिमन्त्र्य प्राशयेत् ॥

सूत्रितं हि । "प्रातरग्निम् [३. १६] गिरावरगराटेषु [६. ६९] दिवस्पृथिव्याः [९. १] इति दधिमध्वाशयति कीलालमिश्रं क्षत्रियं कीलालम् इतरान्" इति [कौ० २. ३] ॥

यथा नवमकाण्डे समाम्नातयोः "दिवस्पृथिव्याः" इति [९. १. १-१०] "यथा सोमः प्रातःसवने" इति [९. १. ११–२४] सूक्तयोः प्रथमसूक्ते "मधु कशा हि जज्ञे" इति मन्त्रेषु कशेति वाङ्नामलिङ्गाद् द्वितीयसूक्ते "वर्चस्वतीं वाचम् आवदानि जनाँ अनु" इति वाग्लिङ्गाच्च मेधाजननकर्मणि विनियोगः तथा "यथा सोमः प्रातःसवने" [९. १. ११–२४] इति द्वितीयसूक्ते "एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्" इति वर्चोलिङ्गाद् वर्चस्यकर्मणि च विनियोग उक्तः एवम् अत्रापि प्रथमसूक्ते वर्चःसमानार्थमहिमपुष्ट्यादिलिङ्गाद् द्वितीयसूक्ते "अथो भगस्य नो धेहि" इति लिङ्गाच्च वर्चस्यकर्मणि "बृहस्पतिर्म आकूतिम् आङ्गिरसः प्रति जानातु वाचम् एताम्" इति वाग्लिङ्गाच्च मेधाजननकर्मणि विनियोग उच्यते । एवम् अनयोरेव विनियोगान्तरेषु यथायथं लिङ्गम् अवगन्तव्यम् । अत एव कौशिको भिन्नप्रदेशस्थस्य सूक्तद्वयस्य सर्वत्र विनियोगं सूचयितुं "दिवस्पृथिव्याः" इति उभयसाधारणं सूक्तप्रतीकं सूत्रयामास । यत्र सूक्तविशेषस्य विनियोगोपेक्षितस्तत्र सूक्तं विशिष्य सूत्रितवान् । यथा वैताने । "दिवस्पृथिव्या इति मधुसूक्तेन राजानं संश्रयति" इति [वै० ३. ६] ॥

"दिवस्पृथिव्याः" आदि दोनों सूक्त मेधाजननकर्ममें विनियुक्त होते हैं । बुद्धिको चाहने वाला सोकर उठनेके अनन्तर इन दोनों सूक्तोंको पढ़ हाथसे मुखको धोवे । इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि–"दिवस्पृथिव्याः इति संहाय मुखं विमार्ष्टि" (कौशिकसूत्र ९ । १) ॥

वर्चस्काम भी इन दोनों सूक्तोंसे दही और मधुको सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करे।

तथा वर्चस्काम क्षत्रिय हो तो इन दोनों सूक्तोंसे दही और मधु को सम्पातित तथा अभिमन्त्रित करके अन्नमें मिले हुए दधि मधु को सम्पातित और अभिमन्त्रित करके क्षत्रियको प्राशित करावें।

वर्चस्काम वैश्य शूद्र आदि हो तो इन दोनों सूक्तोंसे ओदन मात्रको ही सम्पातित और अभिमन्त्रित करके प्राशन करावे।

इस विषयमें सूत्रका भी प्रमाण है, कि–"प्रातरग्निम् (३।१६) गिरावरगराटेषु (६ । ६९) दिवस्पृथिव्याः (९ । १) इति दधिमध्वाशयति कीलालमिश्रं क्षत्रियं कीलालं इतरान्" (कौशिक-सूत्र २ । ३)।

जैसे नवमकाण्डमें कहे हुए "दिवस्पृथिव्याः (९।१।१–१०) और "यथा सोमः प्रातःसवने" (९ । १ । ११–२४) सूक्तोंमें से प्रथम सूक्तके "मधुकशा हि जज्ञे" आदि मन्त्रोंमें कशा यह वाङ्नामका लिंग होनेसे और द्वितीय सूक्तमें "वर्चस्वतीं वाचं आवदानि जनाँ अनु" इस वाग्लिगसे मेधाजनन कर्ममें विनियोग कहा हैं। "यथः सोमः प्रातःसवने" (९ । १ । ११–२४) इस द्वितीयसूक्तमें "एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्" इस वर्चोलिंगसे वर्चस्यकर्ममें भी विनियोग कहा था। इसी प्रकार यहाँ पर भी प्रथमसूक्तमें वर्चके समान अर्थको कहने वाले महिमा पुष्टि आदि चिन्होंसे और द्वितीयसूक्तमें "अथो भगस्य नो धेहि" आदि लिंगसे भी वर्चस्यकर्ममें "बृहस्पतिर्म आकूतिम् आङ्गिरसः प्रति जानातु वाचं एताम्" इस वाग्लिङ्गसे भी मेधाजनन-कर्ममें विनियोग कहा जाता है। इसी प्रकार इन दोनों सूक्तोंके दूसरे विनियोगोंमें भी यथायोग्य लिंग समझना चाहिये। इसी लिये कौशिकने भिन्न प्रदेशोंमें स्थित दोनों सूक्तोंके विनियोग

को सूचित करनेके लिये दोनोंके लिये साधारण प्रतीक "दिव-स्पृथिव्याः" ही कहा है। जहाँ इन दोनोंमेंसे किसी खास सूक्त के विनियोगकी आवश्यकता है जहाँ विशेषणके साथ सूत्र कहा है। जैसे, कि—वैतानसूत्र ३। ६ में कहा है, कि—"दिवस्पृथिव्या इति मधुसूक्तेन राजानं संश्रयति"॥

तत्र प्रथमा ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षाद् वनस्पतिभ्यो अध्योष-धीभ्यः।
यत्रयत्र विभृतो जातवेदास्ततं स्तुतो जुषमाणो न एहि

दिवः। पृथिव्याः। परि। अन्तरिक्षात्। वनस्पतिऽभ्यः। अधि। ओषधीभ्यः।
यत्रऽयत्र। विऽभृतः। जातऽवेदाः। ततः। स्तुतः। जुषमाणः। नः। आ। इहि॥ १॥

द्युलोकादीनि अग्नेरुत्पत्तिस्थानानि। ❀ अत एव "जनिकर्तुः प्रकृतिः" इति अपादानसंज्ञायाम् "अपादाने पञ्चमी" इति द्युशब्दा-दिभ्यः पञ्चमी ❀। दिवः द्युलोकात् पृथिव्याः भूमेः। ❀ परिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। अन्तरिक्षात् अन्तरा क्षान्ताद् मध्यमलोकाद् वनस्पतिभ्यः पुष्पैर्विना फलद्भ्यो वृक्षेभ्यः ओषधीभ्यः ओषः पाको धीयत आस्विति ओषध्यः फलपाकान्ता ताभ्यश्च। ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। द्युलोकादिभ्य उत्पन्नो जातवेदाः जातानि वेत्ति जातैर्विद्यते ज्ञायत इति वा जातवेदाः यत्रयत्र यस्मिन् यस्मिन् स्थाने विभृतः विशेषेण पूर्णो वर्तते। यद्वा विभृतो विहृतो विभक्तो वर्तते ततस्ततः तेभ्यः सर्वेभ्यः स्थानेभ्यः नः अस्मान् जुषमाणः।

❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । जोषयमाणः प्रीणयन् । ❀ "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेतौ शानच् प्रत्ययः ❀ । अस्मत्प्रीणनाद्धेतोः एहि आगच्छ ॥

हे जातवेदा अग्ने ! आप जहाँ विशेषरूपसे पूर्ण हैं हमारे स्तुति करने पर हमको प्रसन्न करनेके लिये तहाँ २ से आइये; द्युलोकसे, पृथिवीलोकसे अन्तरिक्षलोकसे, विना फूलके फलने वाली वनस्पतियोंसे, फलपाकके अन्त वाली औषधियोंसे आइये १

द्वितीया ॥

यस्ते॑ अ॒प्सु म॑हि॒मा यो वने॑षु॒ य ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व१॒॑न्तः ।
अग्ने॒ सर्वा॑स्त॒न्व१॒॑: सं र॑भस्व॒ ताभि॑र्न॒ एहि॑ द्रविणो॒दा अज॑स्रः ॥ २ ॥

यः । ते॒ । अ॒प्ऽसु । म॒हि॒मा । यः । वने॑षु । यः । ओष॑धीषु । प॒शुषु॑ । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः ।
अग्ने॑ । सर्वाः॑ । त॒न्वः॑ । सम् । र॒भ॒स्व॒ । ताभिः॑ । नः॒ । आ । इ॒हि॒ । द्र॒वि॒णः॒ऽदाः । अज॑स्रः ॥ २ ॥

हे अग्ने ते तव यो महिमा अप्सु उदकेषु वर्तते । अग्नेरुदकप्रवेशः श्रूयते "सोपः प्राविशत्" [तै० सं० २.६.६.१] इति । दाशतय्यामपि मन्त्रवर्णः । "ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टम् अग्ने अप्स्वोषधीषु" इति [ऋ० १०.५१.३]। यश्च वनेषु वर्तते दावाग्निरूपेण । यश्च ओषधीषु महिमा फलपाकनिमित्तभूतः । यश्च पशुषु पशूपलक्षितेषु सर्वप्राणिषु वैश्वानरात्मना वर्तते । अप्सु

अन्तरिक्षस्थेषु उदकेषु । मेघेष्वित्यर्थः । तेषु अन्तः मध्ये वैद्युतात्मना यो महिमा वर्तते हे अग्ने सर्वाः अबादिस्थानविशेषनिष्ठमहिमरूपाः तन्वः शरीराणि सं रभस्व संकलय । तत्रतत्र विभक्तास्तनूरेकत्र संमेलयेत्यर्थः । किमर्थं संकलनं तद् आह ताभिरिति । ताभिः सर्वाभिस्तनूभिः सह नः अस्मान् अजस्रः । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । अजस्रम् अनवरतं द्रविणोदाः धनस्य दाता सन् एहि आगच्छ ॥

हे अग्निदेव ! आपकी जो महिमा जलमें है [अग्निके जलप्रवेशका वर्णन श्रुतियोंमें है । यथा-तैत्तिरीयसंहिता २ । ६ । ६ । १ में कहा है, कि-"सोऽपः प्राविशत् ।-उस अग्निने जलमें प्रवेश किया" और ऋग्वेदसंहिता ११ । ५१ । ३ में कहा है, कि-"ऐच्छाम त्वा बहुधा जातवेदः प्रविष्टं अग्ने अप्स्वोषधीषु ।-हे जातवेदा अग्ने ! जल और औषधियोंमें अनेक प्रकारसे प्रविष्ट आपकी हम इच्छा करते हैं"] और जो वनमें दावाग्निरूपसे है और जो औषधियोंमें फलपाकरूपसे है और पशु आदि सब प्राणियोंमें वैश्वानररूपसे है और अन्तरिक्षमें स्थित जल अर्थात् मेघोंमें जो बिजलीके रूपसे स्थित हैं । हे अग्निदेव ! इन जल आदि स्थानों में स्थित अपने महिमारूप शरीरोंको सङ्कलित करिये और उन सब शरीरोंसे हमें निरन्तर धन प्रदान करते हुए आइये ॥ २॥

तृतीया ॥

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तनूः पितृष्वाविवेश ।
पुष्टिर्या ते मनुष्येषु पप्रथेऽग्ने तया रयिमस्मासु धेहि ३

यः । ते । देवेषु । महिमा । स्वःऽगः । या । ते । तनूः । पितृषु । आऽविवेश ।

पुष्टिः । या । ते । मनुष्ये॑षु । पप्रथे । अग्ने । तया । रयिम् । अस्मासु । धेहि ॥ ३ ॥

हे अग्ने ते तव स्वर्गच्छतीति स्वर्गः । ❀ "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति डप्रत्ययः ❀ । दिवः प्रापणार्थं स्वर्लोकं गन्ता यो महिमा देवेषु । ❀ विषयसप्तमी ❀ । देवविषये वर्तते । यजमानैर्दत्तं हविः देवान् प्रापयितुम् इहलोकसंचारी यो माहात्म्यगुणो वर्तते । या च ते त्वदीया तनूः पितृषु आविवेश पितृषु आविश्य स्वधाकारेण प्रत्तं कव्यसंज्ञकं हविः पितॄन् प्रापयितुं पितृलोकसंचारिणी वर्तते। या च ते त्वदीया पुष्टिः मनुष्येषु मनुष्योपलक्षितेषु सर्वेषु चराचरात्मकप्राणिषु पप्रथे प्रथिता अशितपीतादिपाककरणाद् मनुष्यादिषु या त्वत्कर्तृका पुष्टिर्वर्तते तया। ❀ प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ❀ । ताभिस्तनूभिः सह अस्मासु रयिम् धनं धेहि प्रयच्छ ॥

हे अग्ने ! आपकी जो देवताओंमें स्वर्गरूप महिमा है अर्थात् यजमानकी दी हुई हविको देवताओंको पहुँचानेके लिये स्वर्गको जानारूप जो आपकी महिमा देवताओंमें प्रसिद्ध है और जिस आपके शरीरने पितरोंमें प्रवेश किया है और स्वधाकारसे आहुत कव्यको पहुँचानेके लिये जो आपका शरीर पितृलोकमें विचरता है। और मनुष्योंमें जो आपकी पुष्टि है अर्थात् खाये पियेको पकानेसे मनुष्य आदिमें आपकी की हुई जो पुष्टि रहती है। उन सब शरीरोंके साथ आप हमको धन दीजिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

श्रुत्कर्णाय कवये वेद्याय वचोभिर्वाकैरुप यामि रातिम् यतो भयमभयं तन्नो अस्त्वव देवानां यज हेडो अग्ने

श्रुत्ऽकर्णाय । कवये । वेद्याय । वचःऽभिः । वाकैः । उप । यामि ।
रातिम् ।

यतः । भयम् । अभयम् । तत् । नः । अस्तु । अव । देवानाम् ।
यज । हेडः । अग्ने ॥ ४ ॥

हे अग्ने श्रुत्कर्णाय अस्मदीयस्तुतिश्रवणसमर्थकर्णयुक्ताय । ❀ शृणोतेः क्विप् । श्रुतौ कर्णौ यस्येति विग्रहः ❀ । कवये । कविः क्रान्तदर्शी । अतीन्द्रियार्थदर्शिने वेद्याय सर्वैर्ज्ञातव्याय वेदार्हाय वा । ❀ "तद् अर्हति" इति यत् । "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀ । एवंगुणविशिष्टं त्वां रातिम् अभिलषितफलदानम् उप यामि। याच्ञाकर्मैतत् । उपयाचामीत्यर्थः। ❀ याचतेर्लटि अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀ । कैः साधनैर्याचनं तद् आह । वचोभिः मन्त्ररूपैर्वाक्यैः । वाकैः । एकदेशेन व्यपदेशः । अनुवाकैर्मन्त्रसंघात्मकैः । वाकैर्वक्तव्यैः सूक्तैर्वा । कीदृशी रातिः । तत्स्वरूपं दर्शयति । यतः यस्माद् भयं भीतिर्भवति तत् । ❀ "सुपां सुलुक्०" इति पञ्चम्या लुक् ❀ । तस्माद् अभयम् भयराहित्यं नः अस्माकम् अस्तु भवतु । अथ वा तद् यतो भयं तत् सर्वं भयकारणम् अभयम् भयनिमित्तं न भवत्वित्यर्थः । भयहेतौ विद्यमाने कस्माद् अभयप्रार्थनं तत्राह अवेति । हे अग्ने देवानाम् दीव्यतां हेडः । क्रोधनामैतत् । क्रोधम् । ❀ हेड् अनादरे इत्यस्माद् असुन् ❀ । अव यज तिरस्कुरु । ये ये अस्मभ्यं क्रुध्यन्ति तेषां क्रोधं निवारयेत्यर्थः ॥

इति प्रथमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे अग्निदेव ! हमारी स्तुतिको सुननेमें समर्थ कान वाले, अतीन्द्रियार्थदर्शी, सबसे ज्ञातव्य और अभिलषितफलप्रदाता आपकी

मैं मन्त्ररूप वचनोंसे और मन्त्रसंघातमक अनुवाकोंसे प्रार्थना करता हूँ, कि-जिससे हमको भय प्राप्त होनेकी आशंका हो उससे अभयकी प्राप्ति हो, हे अग्निदेव ! आप देवन करने वाले देवताओंके क्रोधको तिरस्कृत करिये अर्थात् जो हम पर क्रोध करे उनके क्रोधको हटाइये ॥ ४ ॥

प्रथम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५४७)

"यामाहुतिम्" इति सूक्तस्य मेधाजननकर्मणि वर्चस्यकर्मणि च विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह युक्तः ॥

"यामाहुतिम्" इस सूक्तका मेधाजनन और वर्चस्यकर्म में पूर्वसूक्तके साथ ही विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

यामाहुतिं प्रथमामथर्वा या जाता या हव्यमकृणोज्जातवेदाः ।
तां त एतां प्रथमो जोहवीमि ताभिष्टुप्तो वहतु हव्यमग्निरग्नये स्वाहा ॥ १ ॥

याम् । आऽहुतिम् । प्रथमाम् । अथर्वा । या । जाता । या । हव्यम् । अकृणोत् । जातऽवेदाः ।
ताम् । ते । एताम् । प्रथमः । जोहवीमि । ताभिः । स्तुप्तः । वहतु । हव्यम् । अग्निः । अग्नये । स्वाहा ॥ १ ॥

तिस्रः खलुः अग्नेस्तन्वः । देवतारूपा हविःप्रापकदूतरूपा हविःप्रक्षेपाधाराङ्गाररूपा चेति । "तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन्" इति [ऋ० ३. २०. २] मन्त्रवर्णात् ।

"तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः। तवाग्ने यज्ञोयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः" [ऋ० १०. ५१. ९] इत्यत्र अग्नेर्देवतारूपत्वम् आम्नायते। हविःप्रापकदूतरूपत्वम् अग्नेर्देवानां च उक्तिप्रत्युक्तिरूपाभ्यां मन्त्राभ्याम् अवगम्यते। "विश्वे देवाः शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य। प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि" इति [ऋ० १०. ५२. १]। "कुर्मस्त आयुरजरं यद् अग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः। अथा वहासि सुमनस्यमानो भागं देवेभ्यो हविषः सुजात" इति [ऋ० १०. ५१. ७]। हविःप्रक्षेपाधाररूपत्वं तु सर्वलोकसंप्रतिपन्नम्। "त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम्" इति [ऋ० २. १. १३] श्रुतेः। तद् इदम् अत्रोच्यते। अथर्वा। "अथार्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति। तद् यद् अब्रवीद् अथार्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छेति तद् अथर्वाभवत्" इति [गो० ब्रा० १. ४] ब्राह्मणे परब्रह्मसृष्टास्वेवाप्सु परमात्मानम् अन्विष्येति अशरीरया वाचा भृगुं प्रति उक्तम्। तस्माद् अथर्वशब्दवाच्यत्वं परमात्मनोथर्ववेदस्रष्टुराम्नायते ॥ अथर्वा अथर्वशब्दवाच्यः परमात्मा प्रथमाम् सर्वसृष्टेः प्राक्कालीनां याम् आहुतिम् अकृणोत् स्वसृष्टदेवप्रीणनाम् अकरोत्। जातवेदाः जातानि वेत्ति जातैर्विद्यते ज्ञायत इति वा जातवेदा अग्निः या। ❀ द्वितीयाया लुक् ❀। याम् अथर्वणा दत्ताम् आहुतिं जाताय प्रादुर्भूताय देवगणाय हव्याम् होतुं दातुम् अर्हां यथाभागं कल्पनीयाम् अकृणोत् अकरोत्। ❀ जुहोतेः अर्हार्थे यत् प्रत्ययः। "वान्तो यि प्रत्यये" इति अत्र आदेशः ❀। ताम् एताम् आहुतिं प्रथमः सर्वेभ्यो यजमानेभ्यः पूर्वभावी सन् ते। अग्निः संबोध्यते। ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀। त्वयि अथ वा ते तव। आस्ये इत्यध्याहारः। जोहवीमि अत्यर्थं जुहोमि। यजमानेन सर्वयष्टृभ्यः पूर्वं

देवताः परिग्रहणीया इत्यत्र मन्त्रवर्णः । "वसून् रुद्रान् आदित्यान् इन्द्रेण सह देवतास्ताः पूर्वः परिगृह्णामि स्व आयतने मनीषया" [तै० आ० ३. ७. ४. ३] इति । ताभिः तिसृभिस्तनूभिः सह स्तुतः स्तोतृभिरभिष्टुतोग्निः हव्यम् देवयोग्यं हविः वहतु प्रापयतु देवान् इति । सामान्यप्रतीतावाह अग्नये स्वाहेति । अग्नये अग्निशब्दप्रतिपाद्यायै देवतायै स्वाहा इदं हविः सुहुतम् अस्तु । एवं शरीरत्रययुक्तोग्निः अनेन मन्त्रेण प्रतिपाद्यते ॥

[अग्निके तीन मुख्य शरीर हैं । १-देवतारूप, २ हविः प्रापक दूतरूप और ३ हविःप्रक्षेपका आधार अंगाररूप । इस विषयमें ऋग्वेदसंहिता ३ । २० । २ का प्रमाण भी है, कि—"तिस्र उ ते तन्वो देववातास्ताभिर्नः पाहि गिरो अप्रयुच्छन् ।-हे अग्ने ! आपके तीन शरीर हैं उनसे हमारी रक्षा करिये० ।" ऋग्वेदसंहिता १० । ५१ । ६ में अग्निके देवतारूपका वर्णन है, कि-"तव प्रयाजा अनुयाजाश्च केवल ऊर्जस्वन्तो हविषः सन्तु भागाः । तवाग्ने यज्ञोयमस्तु सर्वस्तुभ्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रः-हे अग्ने ! प्रयाज और अनुयाज केवल आपके ही हैं, बलप्रद हविर्भाग आप को प्राप्त हों, यह यज्ञ आपको प्राप्त हों, चारों श्रेष्ठ दिशायें आप को नमन करें ।" अग्नि और देवताओंके सम्वादसे अग्निका हविःप्रापकदूतरूपत्व सिद्ध होता है । यथा-ऋग्वेदसंहिता १० । ५२ । १ में कहा है, कि-"विश्वे देवा शास्तन मा यथेह होता वृतो मनवै यन्निषद्य (प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यमा वो वहानि ।-हे सकल देवताओ ! जैसे आपने मुझको होतारूप में वरण किया है उसका मैं मान कर सकूँ तैसी आज्ञा दीजिये, मेरे भागको बताइये और जिस मार्गसे मैं तुम्हारे लिये हव्यको लाऊँ तिसको बताइये" और ऋग्वेदसंहिता १० । ५१ । ७ में कहा है, कि-"कुर्म स्त आयुरजरं यदग्ने यथा युक्तो जातवेदो

न रिष्याः । अथा वहासि सुमनस्यमानो भाग देवेभ्यो हविषः सुजात ।—हे अग्निदेव ! हम आपकी आयुको अजर करते हैं, इससे संयुक्त होनेके कारण हे जातवेदा ! आप नष्ट नहीं होंगे, हे सुजात ! अब आप मनमें प्रसन्न होकर देवताओंके लिये हवि के भागको लाइये ।" तथा अग्निका हविःप्रक्षेपाधाररूपत्व तो सर्वलोकप्रतिपन्न है । श्रुतिमें कहा है, कि—त्वे देवा हविरदन्त्याहुतम् ।–तुझमें आहुत हविको देवता भक्षण करते हैं (ऋग्वेदसंहिता २ । १ । १३ अब यहाँ कहते हैं, कि–] अथर्वा शब्दवाच्य परमात्माने सर्वसृष्टिसे पहिले समयकी जिस अपने रचे हुए देवताओंको प्रसन्न करने वाली आहुतिकी की थी । और जातवेदा अग्निने अथर्वाकी दी हुई जिस आहुतिको प्रादुर्भूत हुए देवताओंको देनेके लिये यथाभागमें कल्पना की थी, उसी इस आहुतिको सब यजमानोंसे पहिले रहता हुआ मैं हे अग्ने ! आपके मुखमें आहुत करता हूँ † हम स्तोताओंसे तीनों शरीरों में स्तुत अग्निदेव देवताओंको हवि प्राप्त करावें । अग्निशब्दप्रतिपाद्य देवताके लिये यह हवि स्वाहुत हो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु ।

† यजमान सब यज्ञोंसे पहिले देवताओंका परिग्रहण करे अत एव यहाँ अग्निका परिग्रहण किया है । देवतापरिग्रहणमें तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ७ । ४ ३ का प्रमाण भी है, कि—"वसून् रुद्रान् आदित्यान् इन्द्रेण सह देवतास्ताः पूर्वः परिगृह्णामि स्व आयतने मनीषया ।—मैं पहिले अपने घरमें अपनी बुद्धिसे इन्द्रसहित वसु रुद्र आदित्य देवताओंका परिग्रहण करता हूँ" ॥ इस प्रकार इस मन्त्रमें अग्निके तीनों शरीरोंका प्रतिपादन किया है॥

यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम् ॥ २ ॥

आऽकूतिम् । देवीम् । सुऽभगाम् । पुरः । दधे । चित्तस्य । माता । सुऽहवा । नः । अस्तु ।

याम् । आऽशाम् । एमि । केवली । सा । मे । अस्तु । विदेयम् । एनाम् । मनसि । प्रऽविष्टाम् ॥ २ ॥

इदमादिभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्वाग्देवता प्रार्थ्यते । आकूतिम् तात्पर्यरूपाम् । लौकिकवैदिकसर्ववाक्यप्रतिपाद्याम् इत्यर्थः । देवीम् द्योतमानां सुभगाम् भगो भाग्यं शोभनभाग्ययुक्ताम् एवंरूपां वाग्देवतां पुरो दधे पुरस्कुर्वे परिचरामि । सर्वेष्वभीष्टकार्येषु वाग्देवतामेव पुरस्ताद् भावयामीत्यर्थः । अनर्थान्निवारकं हिते प्रवर्तकम् आप्तं जनं पुरोहितं कुर्वन्ति एवम् अस्माभिः पुरतो निहिता चित्तस्य मनसः माता जननी यथा पुत्रो मातृवशे वर्तते एवं चित्तं स्वप्रभवं नियमयन्ती वाक् नः अस्माकं सुहवा सुष्ठु ह्वातव्या अस्तु भवतु । आह्वानेन अस्मदनुकूला भवत्वित्यर्थः । किं च याम् आशां फलविषयां कामनाम् एमि प्राप्नोमि सा कामना मे मम केवली अस्तु असाधारणी भवतु । मदन्यं न कामयताम् इत्यर्थः । ❀ "केवलमामक०" इति केवलशब्दाच्छन्दसि ङीप् ❀ । न केवलं कामना किं तु मनसि प्रविष्टाम् निहितां सर्वदा मनसि प्रवर्तमानाम् एनां फलविषयां कामनां विदेयम् फलपर्यवसायिनीं लप्स्यासम् । ❀ विदेर्लाभार्थाद् आशीर्लिङि "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः । ङित्त्वात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥

[अत्र तीन ऋचाओंसे वाग्देवताकी प्रार्थना की गई है,

क्रि—] मैं सौभाग्य वाली देवी वागदेवताकी सेवा करता हूँ अर्थात् सकल अभीष्ट कार्योंमें वागदेवताकी पहिले ही भावना करता हूँ, अनर्थसे बचाने वाले हितमें लगाने वाले आप्त मनुष्यको जैसे आगे रखते हैं इसी प्रकार हमारे द्वारा आगे रखी हुई और माताकी समान चित्तको वशमें रखने वाली सरस्वती देवी हमारे लिये सुहवा होवे अर्थात् आह्वानसे हमारे अनुकूल होजावे। और मैं जिस कामनाको कर रहा हूँ वह कामना मेरे लिये असाधारण हो, दूसरेको न प्राप्त हो और मैं इस सदा मनमें रहने वाली कामनाको फलरूपमें प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि ।

अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव ॥ ३ ॥

आऽकूत्या । नः । बृहस्पते । आऽकूत्या । नः । उप । आ । गहि ।

अथो इति । भगस्य । नः । धेहि । अथो इति । नः । सुऽहवः । भव ३

हे बृहस्पते बृहतां देवानां हितोपदेष्टृत्वेन पालक एतन्नामक देव आकूत्या सर्ववाक्यतात्पर्यार्थरूपया वाचा सह नः अस्मान् उपागहि वाग्देवताम् अस्माकम् अनुकूलयितुम् उपागच्छ। ❀ गमेर्लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् । हेर्ङित्वाद् "अनुदात्तोपदेश०" इति अनुनासिकलोपः । "असिद्धवद् अत्रा भात्" इति अनुनासिकलोपस्य असिद्धत्वाद् "अतो हेः" इति हेर्लुक् न भवति ❀। एतदेव आदरार्थं पुनरुच्यते आकूत्या न उपा गहीति ॥ अथो अपि च भगस्य भाग्यम् । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी। "चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि" इति षष्ठी ❀ । नः अस्मभ्यं देहि यच्छ । एतत् सर्वं बृहस्पतेरा-

भिमुख्येन विना न घटत इति तदेव प्राथ्र्यते अथो न इति चरम-पादेन । अथो अपि च नः अस्माकं सुहवः सुष्ठु ह्वातव्यः आह्वा-नमात्रेणानुकूलो भव ॥

हे बड़े २ देवताओंको हितोपदेश देकर पालन करने वाले बृहस्पति नामक देव ! सब वाक्योंकी तात्पर्यार्थरूपवाणीके साथ हमारे पास आइये । वाग्देवताको हमारे अनुकूल करनेके लिये हमारे पास आइये । और हमको भाग्य प्रदान करिये । [यह सब बृहस्पतिके अनुकूल हुये विना नहीं होसकता अतएव कहते हैं, कि-] आप हमारे आह्वानसे ही हमारे लिये अच्छे होजाइये ३

चतुर्थी ॥

बृहस्पतिर्म आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम् यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वे-त्वस्मान् ॥ ४ ॥

बृहस्पतिः । मे । आऽकूतिम् । आङ्गिरसः । प्रति । जानातु । वाचम् । एताम् ।

यस्य । देवाः । देवताः । सम्ऽबभूवुः । सः । सुऽप्रनीताः । कामः । अनु । एतु । अस्मान् ॥ ४ ॥

आङ्गिरसः अङ्गिरसां पुत्रः। बृहस्पतेरङ्गिरसः पुत्रत्वम् ऐतरेय-ब्राह्मणे समाम्नायते। "येङ्गारा आसंस्तेङ्गिरसोभवन् । यद् अङ्गाराः पुनरवशान्ता उददीप्यन्त तद् बृहस्पतिरभवत्" इति [ऐ० ब्रा० ३. ३४]। तादृशो देवः आकूतिम् सर्वाभिप्रायरूपाम् एतां सक-लश्रुतिपुराणादिप्रसिद्धां वाचम् वाग्देवतां मे । ❀ "क्रियार्थोप-

पदस्य०" इति चतुर्थी ❀। मह्यं दातुं प्रति जानातु स्मरतु। ❀"संप्रतिभ्याम् अनाध्याने" इति अनाध्यान इति निषेधात् प्रतिपूर्वात् जानातेरात्मनेपदं न भवति ❀। अर्थिनं प्रति दातव्यस्मरणं प्रदानान्तं भवतीति तदेव प्रार्थ्यते। यस्य बृहस्पतेः। वश इति अध्याहारः। देवाः देवताश्च स्त्रीपुरुषात्मना प्रसिद्धाः सकला देवताः सुप्रणीताः येन बृहस्पतिनैव कार्येषु सुष्ठु प्रणीयमाना देवताः संबभूवुः संभूताः संगता ऐकमत्यं प्राप्ताः सकला देवता यस्य वशे वर्तन्ते। स कामः काम्यमानफलप्रदाता बृहस्पतिः अस्मान् कामयमानान् अभ्येतु फलप्रदानाय अभिमुखम् आगच्छतु

इति प्रथमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

अंगिरागोत्री बृहस्पति मुझे प्रदान करनेके लिये श्रुति पुराण आदिमें प्रसिद्ध वाग्देवता सरस्वतीका स्मरण करें। [अर्थीके प्रति दातव्य वस्तुका स्मरण प्रदान करनेके लिये होता है उसीकी प्रार्थना करते हैं, कि—] देवता जिन बृहस्पतिके वशमें रहते हैं और जो इन सबोंको एकमत कर लेते हैं, वह अभिलषित फलोंके देने वाले बृहस्पति हमको फल देनेके लिये हमारे अभिमुख आवें ॥ ४ ॥

प्रथम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५४८)

"इन्द्रो राजा" इति एकर्चेन सूक्तेन धनकामः इन्द्रं यजेत उपतिष्ठेत वा ॥

धनको चाहने वाला पुरुष "इन्द्रो राजा" इस एक ऋचा वाले सूक्तसे इन्द्रका पूजन वा उपस्थान करे।

ऋक्पाठस्तु

इन्द्रो॒ राजा॒ जग॑तश्चर्षणी॒नामधि॑ क्ष॒मि विषु॑रूपं॒ यदस्ति॑। ततो॑ ददाति दा॒शुषे॒ वसू॑नि॒ चोद॒द् राध॒ उप॑स्तुताश्चि॒दर्वाक् ॥ १ ॥

इन्द्रः । राजा । जगतः । चर्षणीनाम् । अधि । क्षमि । विषुऽरूपम् ।

यत् । अस्ति ।

ततः । ददाति । दाशुषे । वसूनि । चोदत् । राधः । उपऽस्तुतः ।

चित् । अर्वाक् ॥ १ ॥

जगतः त्रैलोक्यस्य चर्षणीनाम् । मनुष्यनामैतत् । मनुष्योपलक्षितानां दैवीनां मानुषीणां च प्रजानां राजा स्वामी इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नो देवः दाशुषे हविर्दत्तवते जनाय वसूनि धनानि ततः तस्मात् । आनीयेति अध्याहारः । ❀ ल्यब्लोपे पञ्चमी ❀ । ददाति ददातु । तत इत्युक्तं किं तद् इति तद् आह । क्षमि क्षमायां पृथिव्याम् । ❀ क्षमाशब्दात् सप्तम्येकवचने "आतः" इति योगविभागाद् आकारलोपः । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । विषुरूपम् नानारूपं यद् अस्ति तस्माद् ददातु इत्यन्वयः । एतदेवाह चोददिति । उपस्तुतः अस्माभिरभिष्टुतः सन् । चिच्छब्द एवार्थे । अर्वाक् अस्मदभिमुखं राधः धनं चोदत् चोदयेत् प्रेरयेत् । प्रयच्छतु इति यावत् । ❀ चुद प्रेरणे । अस्माण्ण्यन्ताल्लेटि 'छन्दस्युभयथा' इति लेटि आर्धधातुकत्वात् 'णेरनिटि' इति णिलोपः । 'लेटोऽडाटौ' इति अडागमः ❀ ॥

इति प्रथमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

त्रिलोकीके मनुष्य देवता आदिके स्वामी परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्रदेव, पृथिवीमें जो अनेक प्रकारका धन है उसको शुभ हवि देने वाले यजमानको देवें, हमसे स्तुति पाकर इन्द्रदेव हमारे अभिमुख धनोंको प्रेरित करें ॥ १ ॥

प्रथम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५४९)

"सहस्रबाहुः पुरुषः" इति सूक्तद्वयं पुरुषमेधे क्रतौ पुरुषपशवनुमन्त्रणे विनियुक्तम् । "पुरुषमेधोश्वमेधवच्चैत्र्याः पुरस्तात्"

इति प्रक्रम्य वैताने सूत्रितम् । "स्नातम् अलंकृतम् उत्सृज्यमानं सहस्रबाहुः पुरुषः [१६.६] केन पार्ष्णी [१०.२]इत्यनुमन्त्रयते" इति [वै० ७. २]॥

तथा एतस्य सूक्तद्वयस्य शनैश्चरग्रहदेवत्यहविराज्यहोमे समिदाधानोपस्थानयोश्च विनियोगः । 'अथाज्यभागान्ते विषासहिम् [१७ . १] इत्यादित्याय हविषो हुत्वाज्यं जुहुयात् समिध आधायोपतिष्ठते' इति प्रक्रम्य शान्तिकल्पे सूत्रितम् । 'सहस्रबाहुः पुरुषः [१६. ६] केन पार्ष्णी [१०. २] प्राणाय नमः [११. ४] इति शनैश्चराय' इति [शा० क० १५.]॥

सौवर्णभूमिदानेपि एतत् सूक्तद्वयम् आज्यहोमे विनियुक्तम् । अथ रोहिण्याम् उपोषितो ब्रह्मा' इति प्रक्रम्य परिशिष्टेभिहितम्। "अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम् इत्यथ सुवर्णमयीं भूमिम् इत्यादि [प० १०, १] ॥

सर्वातिशायित्वसर्वभूतात्मकत्वकामेन नारायणाख्येन पुरुषेण अनुष्ठितस्य पुरुषमेधक्रतोः प्रतिपादकत्वात् जगत्कारणस्य आदिनारायणपुरुषस्य प्रतिपादकत्वाद् वा एतत् पुरुषसूक्तम् इति उच्यते । अतः अस्य सूक्तस्य द्विविधोर्थः आधियज्ञिक एकः आध्यात्मिकोपरः । पुरुषमेधविधायकं वाजसनेयकब्राह्मण एवम् आम्नायते । 'पुरुषो ह वै नारायणोकामयत 'अतितिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्याम् इति । स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुम् अपश्यत् । तम् आहरत् । तेनायजत । तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि । इदं सर्वम् अभवत्" इति [श०प०१३.६.१.१]

"सहस्रबाहुः पुरुषः" आदि दोनों सूक्त पुरुषमेध यज्ञके पुरुषपशुके अनुमंत्रणमें विनियुक्त होते हैं। "पुरुषमेधोऽश्वमेधवच्चैत्र्याः पुरस्तात्" का आरंभ करके वैतानसूत्र ७ । २ में कहा है, कि–"स्नातं अलंकृतं उत्सृज्यमानं सहस्रबाहुः पुरुषः (१६ । ६) केन पार्ष्णी (१० । २) इत्यनुमन्त्रयते" ।

तथा इन दोनों सूक्तोंका शनैश्चर ग्रहके देवता वाली हविके घृतहोममें तथा समिदाधान और उपस्थानमें भी विनियोग होता है। "अथाज्यभागान्ते विषासहिम् (१७ । १) इत्यादित्याय हविषो हुत्वाज्यं जुहुयात् समिध आधायोपतिष्ठते" का आरंभ करके शान्तिकल्प १५में कहा है, कि-"सहस्रबाहुः पुरुषः (१९ । ६) केन पार्ष्णी (१०।२) प्राणाय नमः (११।४) इति शनैश्चराय"।

सुवर्णमयी भूमिके दानमें भी इन दोनों सूक्तोंका घृतहोमके समय विनियोग होता है "अथ रोहिण्यां उपोषितो ब्रह्मा" का आरंभ करके अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि-"अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तं इत्यथ सुवर्णमयीं भूमिम् इत्यादि" (परिशिष्ट १० । १)

सबसे श्रेष्ठ सर्व भूतात्मकत्वकी कामना करने वाले नारायण नामक पुरुषके द्वारा अनुष्ठित पुरुषमेध क्रतुका प्रतिपादक होनेसे वा जगत्के कारण आदिनारायण पुरुषका प्रतिपादक होनेसे यह सूक्त पुरुषसूक्त कहलाता है। इस सूक्तका दो प्रकारका अर्थ है। एक आधियज्ञिक और दूसरा आध्यात्मिक। पुरुषमेधका विधान करने वाले वाजसनेयक ब्राह्मणमें कहा है, कि-"पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत। अतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्यामिति। स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुं अपश्यत्। तम् आहरत्। तेनायजत। तेनेष्ट्वात्यतिष्ठत् सर्वाणि भूतानि। इदं सर्वम् अभवत् ॥-नारायण पुरुषने कामना की कि-मैं सब भूतों पर अधिष्ठित होऊँ, मैं ही यह सब हो जाऊँ। उन्होंने इस पुरुषमेध पञ्चरात्र यज्ञक्रतुको देखा। और उसकी सामग्री एकत्रित की और उससे यज्ञ किया। उससे यजन करनेके अनन्तर वह सब प्राणियों पर अधिष्ठित होगए। यह सब होगए" (शतपथब्राह्मण १३ । ६ । १ । १)॥

तत्र सूक्ते प्रथमा ॥

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥

सहस्रऽबाहुः । पुरुषः । सहस्रऽअक्षः । सहस्रऽपात् ।

सः । भूमिम् । विश्वतः । वृत्वा । अति । अतिष्ठत् । दशऽअङ्गुलम् १

पुरुषसंज्ञापेक्षितावरणस्थानीयो देहविशेषो यज्ञानुष्ठातुर्नारायणपुरुषस्य रूप्यते । यथा परोक्षस्याग्नेः प्रत्यक्षैरग्निभिः स्तवः तद्वत् परोक्षस्यादिपुरुषस्य लौकिकैः सहस्रबाहुत्वं बहुक्षिपादत्वं च उच्यते सहस्रबाहुः सहस्रशब्दस्य उपलक्षणत्वाद् अनन्तैर्बाहुभिर्युक्तः सहस्राक्षः बहुभिरक्षिभिरुपेतः । ❀ "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०" इति षच् समासान्तः । सति शिष्टः समासान्तः स्वरः प्रवर्तते ❀। सहस्रपात् अनेकचरणः । ❀ "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादस्य लोपः समासान्तः ❀ । एवंरूपो यः पुरुषः यज्ञानुष्ठाता नारायणाख्यः पुरुषो वर्तते स पुरुषः भूमिम् सप्तसमुद्रद्वीपां विश्वतः सर्वतो वृत्वा महिम्ना व्याप्य दशाङ्गुलम् दशाङ्गुलि प्रमाणं यस्येति । ❀ आर्हीयस्य ठकः "अध्यर्धपूर्वद्विगोः०" इति लुक् । "तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः" इति अच् समासान्तः ❀ । अत्र दशाङ्गुलशब्देन हृदयाकाशम् उच्यते । तद् अत्यतिष्ठत् । पूर्वं हृदयाकाशे परिच्छिन्नस्वरूपः सन् स्वानुष्ठितक्रतुसामर्थ्यात् परिच्छिन्नाकारतां परित्यज्य सर्वातिशायिस्वरूपोऽभवद् इत्यर्थः ॥ अध्यात्मपक्षे सर्वप्राणिसमष्टिरूपः सूत्रात्मा प्रतिपाद्यते । सहस्रबाहुः ये व्यष्टिभूतसर्वप्राणिनां बाहवस्ते सर्वे सूत्रात्मदेहान्तःपातित्वात् तदीया एवेति सहस्रबाहुत्वम् । एवम् अक्षिषु पादेष्वपि योजनीयम् । यद्वा सर्वत्र बाह्वादिसाध्यबहुकार्यसंभवात् तेषां सहस्रत्वव्यपदेशः । अत एव

इमम् अर्थम् अभिप्रेत्य अन्यत्राम्नायते। "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्" इति [ऋ० १०. ८१. ३]। पुरुषः पुरि देहे शेत इति पुरुषः। ❀ पृषोदरादिः ❀। सर्वप्राणिदेहावस्थितः पूर्णो वा सहस्राक्षः सहस्रपात्। एवंरूपो यो वर्तते स पुरुषः भूमिम्। उपलक्षणम् एतद् अबादीनां भूतानाम्। सकलभूतकार्यब्रह्माण्डं तदन्तर्गतान् भूम्यादीन विकारान् वा विश्वतः सर्वतो वृत्वा मृदिव घटादीन् व्याप्य दशाङ्गुलम् दशाङ्गुलिप्रमाणं देशम् अत्यतिष्ठत् अतिक्रम्य अवस्थितः। दशाङ्गुलम् इति उपलक्षणम्। ब्रह्माण्डाद् बहिरपि सर्वतो व्याप्य अवस्थितः। एकेनांशेन ब्रह्माण्डं व्याप्य दशभिरंशैः कार्यप्रपञ्चासंस्पृष्टः स्वप्रतिष्ठो वर्तत इत्यर्थः॥

[यज्ञका अनुष्ठान करने वाले नारायणपुरुषका पुरुषसंज्ञापेक्षित आवरणस्थानीय देहविशेष निरूपित किया जाता है। जैसे प्रत्यक्ष अग्नियोंसे परोक्ष अग्निका स्तोत्र कहा जाता है। इसीप्रकार परोक्ष आदिपुरुषका लौकिक वस्तुओंसे सहस्रबाहुत्व और बहुनेत्र पादत्व भी कहाजाता है कि-]अनन्त भुजाओंसे संपन्न अनन्त नेत्रोंसे संपन्न अनन्त चरणों वाला जो यज्ञका अनुष्ठाता नारायण नामक पुरुष है वह सप्त समुद्र और द्वीप वाली पृथिवीको अपनी महिमासे व्याप्त करके दश अंगुलके परिमाण वाले हृदयाकाशमें बैठ गया। तात्पर्य यह है, कि-पहिले हृदयाकाशमें परिच्छिन्न स्वरूप वाला था अपने अनुष्ठित यज्ञकी शक्तिसे सर्वातिशायी स्वरूप वाला होगया। [अध्यात्मपक्षमें सब प्राणियोंके समष्टिरूप सूत्रात्माका प्रतिपादन किया गया है। यथा-] व्यष्टिभूत सब प्राणियोंकी भुजायें सूत्रात्माके देहके भीतर आनेसे उसकी ही हैं अत एव वह पुरुष सहस्रबाहु सहस्राक्ष और सहस्रपात् है अथवा वह सर्वत्र बाहु आदिसे साध्य अनेक कार्योंको करता है अत एव सहस्रबाहु

सहस्राक्ष और सहस्रपात् है। [इसी लिये ऋग्वेदसंहिता १० । ८१ । ३ में भी कहा है, कि-"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्] और सब प्राणियोंके शरीरमें शयन करता है, ऐसा पुरुष भूमि जल आदिके सब विकारोंमें, घड़े आदि में मट्टीके व्याप्त होनेकी समान व्याप्त हो दशांगुलि प्रमाण देशमें रहता है अर्थात् ब्रह्माण्डसे बाहर भी सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित है। तात्पर्य यह है, कि-एक अंशसे ब्रह्माण्डको व्याप्त करके दश अंशोंसे कार्यप्रपञ्चसे अस्पृष्ट रहता हुआ स्वप्रतिष्ठ रहता है ॥१॥

द्वितीया ॥

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत् पादस्येहाभवत् पुनः ।
तथा व्यक्रामद् विष्वङशनानशने अनु ॥ २ ॥

त्रिऽभिः । पत्ऽभिः । द्याम् । अरोहत् । पात् । अस्य । इह । अभवत् । पुनः ।

तथा । वि । अक्रामत् । विष्वङ् । अशनानशने इत्यशनऽअनशने । अनु ॥ २ ॥

सोयं यज्ञानुष्ठाता नारायणपुरुषः त्रिभिः पद्भिः पादैः। ❀ "पद्न्नोमास्०" इत्यादिना पादशब्दस्य पद्भावः ❀ । द्याम् दिवं स्वर्गलोकम् आरोहत् आरूढवान् आक्रान्तवान् । अस्य पुरुषस्य पादः चतुर्थः इह भूलोके पुनरभवत् । पुनःपुनराविर्भवति प्रकाशते । पादचतुष्टयेन सर्वलोकव्याप्तिमेव दर्शयति । तथा तेन उक्तेन प्रकारेण अशनानशने अश्नातीति अशनम् । ❀ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀ । अनशनम् अनश्नत् अशनानशने वस्तुनी अनु । ❀ लक्षणार्थे अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ । अशना मनुष्यतिर्यगादयः । अनशना देववृक्षादयः । तान् अभिलक्ष्य

विष्वङ् सर्वतोऽञ्चनः विश्वव्यापनः व्यक्रामत् विक्रान्तवान् ॥ अध्यात्मपक्षे सोयम् उदीरितस्वरूप आदिपुरुषः त्रिभिः पद्भिः पादैः अंशैः संसारस्पर्शरहितैः द्याम् दिवं द्योतनात्मकं स्वप्रकाशस्वरूपम् आरोहत् आरूढवान् आस्थितवान् । यद्यपि "सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म" [तै० आ० ८. १] इत्याम्नातस्य परब्रह्मणः इयत्तायाः अभावाद् अंशचतुष्टयं न निरूपयितुं शक्यं तथापि जगद् इदं ब्रह्मस्वरूपापेक्षया अत्यल्पम् इति विवक्षितुं पादत्वोपन्यासः । स पुरुषः संसारस्पर्शरहितः ज्ञानबहलस्वरूपो द्याम् आरोहत् अज्ञानकार्यात् संसाराद् बहिर्भूतः सन् अत्रत्यैर्गुणदोषैरस्पृष्टः स्वस्वरूपे वर्तत इत्यर्थः । अस्य पुरुषस्य योयं पादः लेशश्चतुर्थः सोयम् इह जगति पुनरभवत् सृष्टिसंहाराभ्यां पुनःपुनराविर्भवति । अस्य सर्वस्य जगतः परमात्मलेशत्वं भगवताप्युक्तम् ॥

विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत् ॥

इति [भ० गी० १०. ४२] । तथा तेन प्रकारेण तुरीयेण पादेन स पुरुषो विष्वङ् विष्वगञ्चनः अशनानशने अनु स्थावरजङ्गमात्मकं जगद् अभिलक्ष्य व्यक्रामत् । अथ वा चेतनाचेतनात्मकम् उभयविधं जगद् यथा स्यात् तथा पुरुषः स्वयमेव द्विविधो भूत्वा व्याप्तवान् इति । यद्येकस्मिन् कल्पे एकस्य पादस्य जननमरणयुक्तसर्वभूतात्मकत्वं तर्हि कल्पान्तरेषु पादत्रयमध्ये एकैकस्य सर्वभूतात्मकत्वं संभवति । तथा च सति अंशचतुष्टयात्मकस्य परब्रह्मणः सर्वजगदात्मकत्वसंभवेन सांसारिकसुखदुःखादिद्वन्द्वसंस्पर्शो भविष्यति इत्येषा शङ्का अंशत्रयेण द्याम् आरोहत् इह पुनरभवत् इत्यनेन अपाक्रियते । तथा हि अंशत्रयात्मकं ब्रह्म सर्वदा स्वप्रतिष्ठं संसारस्पर्शरहितं सच्चित्सुखलक्षणं वर्तते । एकोंशस्तु पुनःपुनर्जगदात्मना विवर्तत इति । यः पूर्वकल्पे जगदात्मा विवृत्तः स एव कल्पान्तरेपि सर्वभूतात्मना विवर्तते नान्योंश इति ॥

इस यज्ञका अनुष्ठान करने वाले नारायण पुरुषने तीन पादों से स्वर्गलोकमें आरोहण किया, इस नारायण पुरुषका चौथा पाद (अंश) इस लोकमें वारम्वार प्रकाशित होता है [अव पादचतुष्टयसे सर्वलोकव्याप्तिको दिखाते हैं, कि–] अशन–भोजन करने वाले मनुष्य पक्षी आदिमें और अनशन–देववृक्ष आदिमें यह सव ओरसे व्याप्त है ॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि–जिसका स्वरूप पहिली श्रुतिमें कह दिया है वह आदिपुरुष संसार के स्पर्शसे रहित तीन अंशोंसे द्योतनात्मक स्वप्रकाशरूपमें आरूढ़ होगया है [यद्यपि "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म–ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है" इस तैत्तिरीय आरण्यक ८ । १ की श्रुतिके अनुसार परब्रह्मकी इयत्ता नापना होसकनेसे अंश चतुष्टयकी कल्पनाका निरूपण अशक्य है । तथापि यह जगत् ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा परम अल्प में इस वातको जतानेके लिये अंशों–पादों–की कल्पना की गई है ।] वह संसारके स्पर्शसे रहित ज्ञानवहलस्वरूप पुरुष द्युलोकमें चढ़ गया–का तात्पर्य यह है, कि–वह अज्ञानकार्य संसार से वाहर जाकर संसारके दोषोंसे अछूता रहता हुआ अपने स्वरूपमें वर्तमान रहता है । इस पुरुषका जो यह चौथा पाद (लेश) है वह इस जगत्में सृष्टि और संहारके द्वारा वारम्वार आविर्भूत होता है । [यह सव जगत् परमात्माका ही लेश है इस वातको भगवान्ने भी कहा है, कि–"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।—मैं इस सम्पूर्ण जगत्में अपने एक अंशसे व्याप्त होकर स्थित हूँ ।" भगवद्गीता १० । ४२] इस प्रकार वह पुरुष चौथे पादसे स्थावर और जंगम सवमें व्याप्त है अथवा चेतनाचेतनात्मक दोनों प्रकारके जगत्में दो प्रकारका होकर व्याप्त होगया है । [यदि एक कल्पमें एक पादका जननमरणयुक्त सर्वभूतात्मकत्व है तो दूसरे कल्पोंमें तीन पादोंमेंसे एक एकका सर्व-

भूतात्मकत्व होना संभव होसकता है । और ऐसा होने पर चारों अंश वाले परब्रह्मका, सर्वजगदात्मकत्व होसकनेसे, संसारके सुख दुःख आदि द्वन्द्वोंसे स्पर्श होजावेगा ? यह शंका होसकती थी। इस शंकाको तीन अंशोंसे स्वर्गमें चढ़ गया और एक अंशसे यहाँ वारंवार प्रादुर्भूत होता है" कहकर दूर कर दिया है । अतएव अंशत्रयात्मक ब्रह्म सर्वदा अपनेमें प्रतिष्ठित, संसारके स्पर्शसे रहित और सत्–चित्–सुख लक्षण रहता है और एक अंश वारंवार जगदात्मारूपसे विवर्तित होता रहता है। जो पूर्वकल्पमें जगदात्मरूपसे विवर्तित हुआ था वही दूसरे कल्पमें भी सर्वभूतरूपसे विवर्तित होता है । दूसरा अंश विवर्तित नहीं होता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥

तावन्तः । अस्य । महिमानः । ततः । ज्यायान् । च । पुरुषः ।
पादः । अस्य । विश्वा । भूतानि । त्रिऽपात् । अस्य । अमृतम् । दिवि ३

यद् इदं देवतिर्यङ्मनुष्यात्मकं जगद् यावद् अस्ति तावान् सर्वोपि अस्य यज्ञानुष्ठातुः पुरुषस्य महिमा महत् कर्म स्वकीयसामर्थ्यविशेषः। तावन्तो महिमान इति पूजायां बहुवचनम् सृष्टिभेदापेक्षया वा ततो महिम्नोपि महिमाधारः पुरुषः ज्यायान् प्रवृद्धः अतिशयितः । अस्य पादश्चतुर्थः विश्वा विश्वानि भूतानि भवनवन्ति स्थावरजङ्गमात्मकानि । व्यावर्तत इति शेषः॥ अस्य त्रिपात् पादत्रयम् अमृतम् अमरणधर्मकं सत् दिवि द्युलोके स्वर्गलोके वर्तते ॥ अध्यात्मपक्षे यद् इदं देवतिर्यङ्मनुष्यात्मकम् अतीतानागतवर्तमानम् अस्तिरूपं जगद् यावद् अस्ति तावान् सर्वोपि अस्य

पुरुषस्य महिमा। इदं तु तस्य न वास्तवं स्वरूपम्। वास्तवस्तु पुरुषः। अतो महिम्नो यथोक्तात् मर्त्यामर्त्यलक्षणात् कार्यवर्गात् ज्यायान् वृद्धतरः। ❀ वृद्धशब्दस्य ईयसुनि ज्यादेशः ❀। नैतावान् इति मन्तव्यं कथम् इत्यत आह। विश्वा विश्वानि सर्वाणि भूतानि भवन्त्वन्ति कालत्रयवर्तीनि प्राण्यप्राणिजातानि अस्य पुरुषस्य पादः चतुर्थांशः। अस्य अवशिष्टं त्रिपात् अंशत्रयात्मकं स्वरूपम् अमृतम् अमरणधर्मकं विनाशरहितं सत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे स्वरूपे अवतिष्ठते। तुरीय एव पादो जननमरणयुक्तः। तथा च तैत्तिरीया उत्तरनारायणे समामनन्ति। "अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्" इति [तै० आ० ३. १३. १]। यद्यपि परब्रह्मणः परिच्छेदाभावाद् अंशचतुष्टयं न निर्देष्टुं शक्यं तथापि विश्वम् इदं ब्रह्मरूपापेक्षया अत्यल्पम् इति विवक्षित्वा पादत्वोपन्यासः। ❀ त्रिपादिति। त्रयः पादाः अस्य "संख्यासुपूर्वस्य" इति लोपे "द्वित्रिभ्यां पाद्न्०" इति उत्तरपदान्तोदात्तत्वम् ❀॥

यह जो देव तिर्यक् मनुष्यात्मक जितना जगत् है सब इस यज्ञका अनुष्ठान करने वाले पुरुषकी महिमा है—पुरुषका महान् कर्म है—पुरुषकी अपनी शक्ति है। [मूलका बहुवचन सृष्टि वा कल्पके भेदको लक्ष्यमें रख कर कहा है] यह महिमाका आधार पुरुष ऐसी महिमासे भी श्रेष्ठ है। इसका जो चौथा पाद है वह स्थावर जंगमात्मक सब भूतोंमें व्यावर्तित होरहा है। और इसके तीन पाद अमरणधर्मा रहते हुए स्वर्गलोकमें रहते हैं॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—जो यह देव तिर्यक् मनुष्यमय, भूत भविष्यत् वर्तमानका अस्तिरूप जितना जगत् है वह सब इस पुरुषकी महिमा है, किन्तु यह उसका वास्तविकस्वरूप नहीं है, वास्तव तो पुरुष है। अत एव मर्त्यामर्त्य कार्यसमूहरूप महिमासे

भी श्रेष्ठ है। इतनी ही बात नहीं है किंतु उत्पत्ति वाले त्रिकाल के जो प्राणी अप्राणी भूत हैं वे सब इस पुरुषके चौथे अंशमात्र हैं, इसका बाकी अंशत्रयात्मकरूप विनाशरहित रहता हुआ स्वप्रकाशस्वरूपमें रहता है। चौथा ही अंश जननमरणयुक्त रहता है। [इसी बातको तैत्तिरीयोंने उत्तरनारायणमें कहा है, कि–"अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिपश्यन्ति योनिम्।–वह उत्पन्न न होने वाला अनेक प्रकारसे प्रादुर्भूत होजाता है धीर पुरुष इसके कारणको जानते हैं" तैत्तिरीय आरण्यक ३। १३। १ यद्यपि परब्रह्मका परिच्छेद न होनेसे चार अंश कहना नहीं बन सकता तथापि यह विश्व ब्रह्मस्वरूपकी अपेक्षा अत्यल्प है, यह कहनेके लिये ही यहाँ चार भागोंकी कल्पनाकी गई है] ३

चतुर्थी ॥

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत् सह ॥ ४ ॥

पुरुषः। एव। इदम्। सर्वम्। यत्। भूतम्। यत्। च। भाव्यम्।

उत। अमृतऽत्वस्य। ईश्वरः। यत्। अन्येन। अभवत्। सह ४

यद् भूतम् अतीतं जगत् यच्च भव्यम् भविष्यद्ध यदपि इदं प्रत्यक्षेण दृश्यमानं व्यक्तं स्थावरजङ्गमात्मकं वर्तमानं जगत् तत् सर्वं पुरुष एव। यथा अस्मिन् कल्पे वर्तमानाः प्राणिदेहाः सर्वेपि पुरुषस्यावयवाः तथैव अतीतागामिनोः कल्पयोरिति द्रष्टव्यम्। अथ वा एतत् सर्वं पुरुष एव पुरुषस्यैवायं विवर्तः॥ उत अपि च अयं पुरुषः अमृतत्वस्य देवत्वस्यापि ईश्वरः स्वामी। देवानामपि ईश्वर इति यावत्। यत् किंचिद्ध भूतम् अन्नेन अदनीयेन भोग्येन सहाभवत् भवति तस्यापीश्वरः। अयोनिजानां देवानाम् अन्नरस-

परिणामानां मर्त्यादीनां च ईश्वर इति यावत् । यज्ञानुष्ठातुर्नारायणस्य यज्ञनिर्वर्त्यं सार्वात्म्यम् । जगत्कारणस्य सूत्रात्मनस्तु स्वाभाविकम् इतीयान् विशेषः । शिष्टं समानम् ॥

जो बीता हुआ जगत् है और जो होने वाला जगत् है और जो स्थावरजङ्गमात्मक वर्तमान जगत् है वह सब पुरुष ही है। जैसे इस कल्पमें वर्तमान सब ही प्राणियोंके देह पुरुषके अवयव हैं, इसी प्रकार बीते हुए और आगामी कल्पोंके प्राणियोंके देहों को समझना चाहिये। और यह पुरुष अमृतत्वका अर्थात् देवत्वका स्वामी है--देवताओंका भी ईश्वर है। और जो भूतसमूह अदनीय भोग्यके साथ हुआ है उसका भी ईश्वर है। तात्पर्य यह है, कि—वह अयोनिज देवताओंका और अन्नरसके परिणाम मनुष्य आदिका भी ईश्वर है। यह सब यज्ञका अनुष्ठान करने वाले नारायणकी यज्ञसे प्राप्त हुई विभूति है। और जगत्कारण सूत्रात्माकी यह स्वाभाविकी विभूति है० ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत् पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते ॥ ५ ॥

यत् । पुरुषम् । वि । अदधुः । कतिऽधा । वि । अकल्पयन् ।
मुखम् । किम् । अस्य । किम् । बाहू इति । किम् । ऊरू इति ।
पादौ । उच्येते इति ॥ ५ ॥

"विराड् अग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः" [९]इति पूरुषसृष्टिराम्नास्यते । "यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञम् अतन्वत" [१०] इति पुरुषेण साधनेन यज्ञसृष्टिश्च आम्नास्यते । तं पुरुषं निमित्ती-

कृत्य प्रश्नोत्तररूपेण ब्राह्मणादिसृष्टिं वक्तुम् अत्र ब्रह्मवादिनां प्रश्ना उच्यन्ते । यत् यदा पुरुषम् यज्ञं व्यदधुः विशेषेण अकुर्वन् साध्या नाम देवाः वसवश्च तदा तं पुरुषं कतिधा कतिभिः प्रकारैः व्यकल्पयन् विविधं कल्पितवन्तः । एष सामान्यरूपः प्रश्नः । ❀ "डति च" इति संख्यासंज्ञकात् कतिशब्दात् "संख्याया विधार्थे धा" इति धा प्रत्ययः ❀ । मुखं किम् इत्यादयो विशेषप्रश्नाः । अस्य यज्ञात्मनः पुरुषस्य किं वस्तु मुखम् आसीत् । किं वस्तु बाहू । किं वस्तु ऊरू । किं वस्तु पादा उच्येते । बाहूरुपादद्वयात्मना किं वस्तु कथ्यते । ❀"लोपः शाकल्यस्य" इति वकारलोपः ❀ । किम् इति सामान्यरूपत्वाद्द नपुंसकलिङ्गता एकवचनता च ॥ अध्यात्मपक्षे यत् यदा पुरुषम् वैराजं व्यदधुः मनःसंज्ञकप्रजापतेर्विराजः प्राणरूपा देवाः संकल्पेन उत्पादितवन्तः तदानीं कतिधा व्यकल्पयन् इत्यादि पूर्वेण समानम् ॥

इति एकोनविंशे काण्डे प्रथमेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

["विराड् अग्रे समभवद् विराजो अधिपूरुषः" इस नवम ऋचामें पुरुषसृष्टिका वर्णन किया जायगा । और "यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञम् अतन्वत" इस १० म ऋचामें पुरुषरूपी साधनके द्वारा यज्ञसृष्टि भी कही जावेगी । उस पुरुषको लक्ष्यमें रखकर प्रश्नोत्तरके रूपसे ब्राह्मण आदिकी सृष्टिको कहनेके लिये अब ब्रह्मवादियोंके प्रश्न कहे जाते हैं] जब साध्यनामक और वसु नामक देवताओंने पुरुषयज्ञका विधान किया तब इसको कितने प्रकारसे कल्पित किया । इस यज्ञात्माका पुरुषका मुख क्या था और कौनसी वस्तु इसकी भुजा और ऊरू कहलाती हैं और क्या वस्तु पाद कहलाती है ॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि–जब प्राणरूप देवताओंने मनःसंज्ञक प्रजापतिसे संकल्प के द्वारा इस वैराज पुरुषको उत्पन्न किया उस समय इसको

कितने भागोंमें कल्पित किया था, इसका मुख क्या था, भुजा ऊरू और पाद क्या थे ॥ ५ ॥

उन्नीसवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (५५०)

"ब्राह्मणोस्य मुखम् आसीद्" इति सूक्तस्य पुरुषमेधे उत्सृज्यमानपुरुषपश्वनुमन्त्रणे शनैश्चरग्रहदेवत्यहविराज्यहोमे च पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ।

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्" सूक्तका पुरुषमेधके उत्सृज्यमान पुरुषपशुके अनुमन्त्रणमें और शनैश्चरग्रहदेवत्य हविर्घृतहोममें भी पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ब्राह्मणो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यो॑ऽभवत् ।
मध्यं॒ तद॑स्य॒ यद् वैश्यः॑ प॒द्भ्यां शू॒द्रो अ॑जायत ।६।

ब्रा॒ह्म॒णः । अ॒स्य । मुख॑म् । आ॒सी॒त् । बा॒हू इति॑ । रा॒ज॒न्यः॑ । अ॒भ॒व॒त् ।

मध्य॑म् । तत् । अ॒स्य॒ । यत् । वैश्यः॑ । प॒त्ऽभ्याम् । शू॒द्रः । अ॒जा॒य॒त ॥ ६ ॥

कतिधा "व्यकल्पयन्" इति सामान्यप्रश्नस्य "चन्द्रमा मनसो जातः" इत्यादिना उत्तरं भविष्यति । मुखादिविशेषप्रश्नानाम् उत्तरम् अनया उच्यते । अस्य यज्ञात्मनः पुरुषस्य ब्राह्मणो मुखम् आसीत् । ब्राह्मणजातिविशिष्टः पुरुषः अस्य मुखाद् उत्पन्न इत्यर्थः । योयं राजन्यः क्षत्रियजातिविशिष्टः पुरुषः स तस्य यज्ञपुरुषस्य बाहू बाहुद्वयम् अभवत् । यद् वैश्यः वैश्यजातम् इति यद् अस्ति तद् अस्य यज्ञपुरुषस्य मध्यम् मध्याङ्गम् अभवत् ।

मध्यभागाद् वैश्य उत्पन्न इत्यर्थः । पद्भ्याम् पादाभ्याम् शूद्रः अजायत उत्पन्नः ॥ इत्थं च मुखादिभ्यो ब्राह्मणादीनाम् उत्पत्तिं तैत्तिरीयाः समामनन्ति । "स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत । ब्राह्मणो मनुष्याणाम्" इति । "उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत । राजन्यो मनुष्याणाम्" इति । "मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत । वैश्यो मनुष्याणाम्" इति । तत्र "अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त" [तै० सं० ७. १. १. ५] इति वाक्यशेषेण शरीरस्य मध्यभाग एव विवक्षितः । मध्यभागः ऊर्वोरुपलक्षकः । अत एव प्रश्नः किम् ऊरू इति युज्यते । तत्रैव प्रश्ने "एकविंशं निरमिमीत । शूद्रो मनुष्याणाम्" इति च । अतः प्रश्नोत्तरे उभे अपि तत्परत्वेन योजनीये ॥ अध्यात्मपक्षेपि एषोर्थः समानः ॥

["कतिधा व्यकल्पयन्" इस सामान्यप्रश्नका "चन्द्रमा मनसो जातः" से उत्तर दिया जावेगा । मुख आदि विशेष–प्रश्नोंका इस ऋचामें उत्तर दिया जाता है, कि–] इस यज्ञात्मा पुरुषका ब्राह्मण मुख हुआ तात्पर्य यह है, कि–ब्राह्मण जातिवाला पुरुष इसके मुखसे उत्पन्न हुआ । जो यह राजन्य अर्थात् क्षत्रिय जाति वाला पुरुष है वह इसकी दोनों भुजाएँ हैं । जो यह वैश्य–जाति है वह इस यज्ञपुरुषका मध्याङ्ग है अर्थात् मध्याङ्गसे वैश्य उत्पन्न हुए हैं, पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए हैं † । अध्यात्मपक्षमें भी अर्थ एकसमान है ॥ ६ ॥

---

† तैत्तिरीयसंहिता ७ । १ । १ । ५ में भी यही लिखा है, कि—"स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत । ब्राह्मणो मनुष्याणाम्" इति । "उरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत । राजन्यो मनुष्याणाम्" इति । "मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत । वैश्यो मनुष्याणाम्" इति । "एकविंशं निरमिमीत शूद्रो मनुष्याणाम्" । इति च ॥

द्वितीया ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत ॥ ७ ॥

चन्द्रमाः । मनसः । जातः । चक्षोः । सूर्यः । अजायत ।

मुखात् । इन्द्रः । च । । अग्निः । च । प्राणात् । वायुः । अजायत

अस्मिन् उत्तरस्मिन्नपि मन्त्रे उत्तरकथनेन तदनुसारिणः प्रश्ना ऊहनीयाः । अत एव कतिधा व्यकल्पयन्निति सामान्यप्रश्नो ब्रह्मवादिभिः कृतः । यज्ञात्मनः पुरुषस्य मनसः सकाशात् चन्द्रमाः चन्द्रम् आह्लादं माति निर्मिमीत इति चन्द्रमाः सोमो जातः । "चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्" इति हि श्रुत्यन्तरम् [ऐ० आ० २. ४. २] । चक्षोः चक्षुषः । ❀ अन्त्यलोपश्छान्दसः ❀ । सूर्यः अजायत । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" इति हि श्रुतिः [ऐ० आ० २. ४. २] । इन्द्रश्च अग्निश्च । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तौ देवौ मुखात् जातौ । अत्र मुखशब्देन वागिन्द्रियम् उच्यते । "ब्राह्मणोस्य मुखमासीत्" इत्यत्र सर्वं मुखमण्डलं विवक्षितम् । "अग्निर्वाग् भूत्वा मुख प्राविशत्" इति ऐतरेयकश्रुतिः [ऐ० आ० २. ४. २] । वाचः इन्द्रसम्बन्धं तैत्तिरीयाः समामनन्ति । 'वाग् वै पराच्यव्याकृतावदत् । ते देवा इन्द्रम् अब्रुवन् । "इमां नो वाचं व्याकुर्विति । ताम् इन्द्रो मध्यतोवक्रम्य व्याकरोत् । तस्माद् इयं व्याकृता वाग् उद्यते" इति [तै० सं० ६. ४. ७. ३] । अस्य पुरुषस्य प्राणात् । अत्र प्राणशब्देन घ्राणेन्द्रियं विवक्ष्यते । तस्माद् वायुरजायत । "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति हि श्रुत्यन्तरम् [ऐ० आ० २. ४. २] । अत्र सर्वत्र स्वस्वकारणप्रवेशेन तस्माद् उत्पत्तिर्विवक्षितेति मन्तव्यम् ॥ अध्यात्मपक्षेपि अयम् अर्थः समानः ॥

यज्ञात्मा पुरुषके मनसे चन्द्र अर्थात् आह्लादको देने वाला चन्द्रमा अर्थात् सोम उत्पन्न हुआ [अन्य श्रुतिमें भी कहा है, कि— "चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्" ऐतरेय आरण्यक २ । ४ २] चक्षुसे सूर्य प्रकट हुआ [ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ में कहा है, कि—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत् ।–आदित्य चक्षु बन कर नेत्रगोलकोंमें प्रवेश कर गया"] मुखसे इन्द्र और अग्नि प्रकट हुए [यहाँ मुख शब्दसे वाक् इन्द्रियका ग्रहण किया है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" आदि सर्वत्र मुखमण्डलसे तात्पर्य है । ऐतरेयक वाणीके साथ इन्द्रका सम्बन्ध कहते हैं, कि— "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ।–अग्निदेवने वाणी बन कर मुख में प्रवेश किया" ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २] इस पुरुषके प्राणसे अर्थात् इसकी घ्राणेन्द्रियसे वायु प्रकट हुआ [ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ में भी कहा है, कि—"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।" यहाँ सर्वत्र अपने २ कारणमें प्रवेशके द्वारा उससे उत्पत्ति कहना अभिलपित है। अध्यात्मपक्षमें अर्थ समान है]७

तृतीया ॥

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन् ।

नाभ्या । आसीत् । अन्तरिक्षम् । शीर्ष्णः । द्यौः । सम् । अवर्तत ।

पत्ऽभ्याम् । भूमिः । दिशः । श्रोत्रात् । तथा । लोकान् । अकल्पयन्

अत्रापि उत्तरानुसारिणः प्रश्ना ऊह्याः । अस्य यज्ञपुरुषस्य नाभिशिरःपादेभ्यः अन्तरिक्षद्युभूमस्त्रयो लोकाः समभवन् । शीर्ष्णः । ❀ "शीर्षंश्छन्दसि" इति शिरसः शीर्षन् आदेशः । "अल्लोपोनः" इति अकारलोपः। पद्भ्याम् इति । "पद्दन्नोमास्०"

इति पञ्चावः ❀ श्रोत्रात् अस्य पुरुषस्य श्रोत्रेन्द्रियाद् दिशः प्राच्यादय आसन्। "दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्" इति हि श्रत्यन्तरम् [ऐ० आ० २.४.२]। उक्तार्थोपसंहारश्चतुर्थश्चरणः। तथा उक्तेन प्रकारेण उक्तरीत्या लोकान् अन्तरिक्षादीन्। उपलक्षणम् एतत्। ब्राह्मणक्षत्रियादीन् अकल्पयन् अस्माद् यज्ञपुरुषात् कल्पितवन्तः उत्पादितवन्तः साध्या नाम देवाः॥ अध्यात्मपक्षे प्रजापतेः प्राणरूपा देवा इतीयान् विशेषः॥

इस यज्ञपुरुषकी नाभिसे अन्तरिक्षलोक प्रकट हुआ, शिरसे द्युलोक प्रकट हुआ, पैरोंसे भूलोक प्रकट हुआ है। इस पुरुषकी श्रोत्रेन्द्रियसे पूर्व आदि दिशाएँ प्रकट हुईं [ऐतरेय आरण्यक २। ४। २ में कहा है, कि—"दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्"] इस प्रकार साध्य नामक देवताओंने अन्तरिक्ष आदि लोकोंको और ब्राह्मण आदि वर्णोंको कल्पित किया है—उत्पन्न किया है। अध्यात्म पक्षमें "प्रजापतिके प्राणरूप देवताओंने कल्पित किया है" अर्थ होगा॥ ८॥

चतुर्थी॥

विराडग्रे समभवद् विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥९॥

विऽराट्। अग्रे। सम्। अभवत्। विऽराजः। अधि। पुरुषः। सः। जातः। अति। अरिच्यत। पश्चात्। भूमिम्। अथो इति। पुरः॥ ९॥

पूर्वं यस्मात् पुरुषाद् ब्राह्मणादिसृष्टिरुक्ता तस्य सृष्टिरत्रोच्यते। अग्रे सृष्ट्यादौ विराट् विविधं राजन्ति वस्तूनि यस्मिन्निति स विराट्

नाम पुरुषः समभवत्। "सहस्रबाहुः पुरुषः" इत्यादिना उपवर्णिताद् आदिपुरुषाद् विराट्संज्ञकः पुरुषोजायत। "तस्माद्विराड् अजायत" इति [तै० आ० ३, १२. २] शाखान्तरे विराजः आदिपुरुषाद् उत्पत्तिः समाम्नायते। तथा मानवे शास्त्रे स्मर्यते।

द्विधा कृत्वात्मनो देहम् अर्धेन पुरुषोभवत्।
अर्धेन नारी तस्यां च विराजम् असृजत् प्रभुः॥

इति [म० स्मृ० १. ३२]। विराजः अधि। अधिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी। तस्माद् विराजः पुरुष अन्यः पुरुषोजायत। अत्र वाजसनेयकम्। "विराजो अधि पूरुषः इत्येषा वै सा विराट्। एतस्या एवैतद् विराजो यज्ञं पुरुषं जनयति" इति [श० ब्रा० १३. ६. १. २]। स च तृतीयः पुरुषः यज्ञात्मा जातः उत्पन्नमात्र एव अत्यरिच्यत अतिरिक्त आसीत्। भूमिम् भूम्यादीन् सर्वान् लोकान् पश्चात् पश्चाद्भागे अथो अपि च पुरः पुरस्तात्। ❀ "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" इति असि प्रत्ययः। तत्संनियोगेन पूर्व शब्दस्य पुर् आदेशः ❀। स पुरुषो जातमात्र एव भूम्यादीन् लोकान् पश्चात् पुरस्ताच्च व्याप्य अतिक्रान्तवान्॥ अध्यात्मपक्षे। अग्रे सृष्ट्यादौ विराट् विविधं राजन्ति वस्तूनि यस्मिन्निति स विराट् मनःसंज्ञकः प्रजापतिः सहस्रबाहुः पुरुष इति प्रकृताद् महापुरुषाद् अजायत। ततो विराजः अधि विराजमेव अधिकरणीकृत्य पुरुषः अन्यः प्रजापतिः सर्वभूतेन्द्रियपुरुषसमष्ट्यात्माभवत् निष्पन्नः। श्रूयते हि। "स मानसीन आत्मा जनानाम्" इति [तै० आ० ३. ११. १]। मानसीनः मनसः निष्पन्न इत्यर्थः। स वैराजः पुरुषो जातः प्रादुर्भूतमात्रः अत्यरिच्यत स्वयमेव आत्मानम् अत्यरेचयत्। ❀ कर्मकर्तरि रूपम् ❀। अनेकधा भावलक्षणं स्वरूपातिरेकम् अभजत। भूतेन्द्रियादीनि असृजद् इत्यर्थः। श्रूयते हि। "असतोधि मनोसृज्यत। मनः प्रजा-

पतिम् असृजत । प्रजापतिः प्रजा असृजत" इति [तै० ब्रा० २. २, ६. १०] । पश्चात् भूतग्रामसृष्टेरन्ते भूमिम् अत्यरेचयत् । ❀ सामर्थ्यात् कर्मकर्तृभावोत्र निवर्तते ❀ । एवम् आकाशादिपृथिव्यन्तानां तत्त्वानां सृष्टिरुक्ता भवति । अथो भूमेरनन्तरं पुरः पूर्यन्ते सप्तभिर्धातुभिरिति पुरः शरीराणि सुरनरतिर्यगादीनां स्थावराणां च अत्यरेचयत् अतिरिक्तान्यकरोत् । ❀ पुर इति । द्वितीयाबहुवचनं शस् । छान्दसं विभक्त्युदात्तत्वम् ❀ ।। अध्यात्मपक्ष एव अन्योर्थः । अग्रे विराट् ब्रह्माण्डरूपो देहः तस्माद् आदिपुरुषाद् उत्पन्नः । विराजः अधि विराड्देहस्योपरि तमेव देहम् अधिकरणं कृत्वा पुरुषः तद्देहाभिमानी कश्चित् पुमान् अजायत । योयं सर्ववेदान्तवेद्यः परमात्मा स एव स्वकीयमायया विराड्देहं ब्रह्माण्डरूपं सृष्ट्वा तत्र जीवरूपेण प्रविश्य ब्रह्माण्डाभिमानीदेवतात्मा जीवोभवत् । एतच्च आथर्वणिका उत्तरतापनीये स्पष्टम् आमनन्ति । "स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव" इति [नृ० उ० ता० १.६] । स जातः विराट्पुरुषः अत्यरिच्यत अतिरिक्तोभूत् । देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपोभूत् । पश्चात् देवादिजीवभावाद् ऊर्ध्वं भूमिं ससर्जेति क्रियाध्याहारः । अथो भूमिसृष्टेरनन्तरं तेषां जीवानां पुरः शरीराणि ससर्ज । एवं भूतसृष्टिः पिण्डसृष्टिश्च प्रतिपादिता ॥

[पहिले जिस पुरुषसे ब्राह्मण आदिकी सृष्टि कही है अब उसकी उत्पत्ति कही जाती है, कि—] सृष्टिकी आदिमें जिसमें अनेक प्रकारसे वस्तुएँ दमकती हैं वह विराट् नामक पुरुष प्रकट हुआ । तात्पर्य यह है, कि—"सहस्रबाहुः पुरुषः" इत्यादि श्रुतिमें वर्णित आदिपुरुषसे विराट् नामक पुरुष प्रकट हुआ [तैत्तिरीय आरण्यक ३।१२।२ में "तस्माद् विराड् अजायत ।—उससे

विराट् प्रकट हुआ" कह कर आदिपुरुषसे विराट्की उत्पत्ति कही है। मनुस्मृतिमें भी यही कहा है, कि-"द्विधा कृत्वात्मनो देहम् अर्धेन पुरुषोऽभवत् । अर्धेन नारी तस्यां च विराजं असृजत् प्रभुः ॥-उसने अपने शरीरके दो भाग किये आधेसे वह पुरुष हुआ और आधेसे नारी बना, उस स्त्रीमें उन्होंने विराट्की सृष्टि की] उस विराट्से अन्य (यज्ञ) पुरुष प्रकट हुआ [शतपथ-ब्राह्मण १३ । ६ । १ । २ में कहा है, कि-"विराजो अधि-पूरुष इत्येषा वै सा विराट् । एतस्या एवैतद् विराजो यज्ञं पुरुषं जनयति"] वह तृतीय पुरुष यज्ञात्मा उत्पन्न होते ही बढ़ने लगा, वह पुरुष भूमि आदि लोकोंके आगे पीछे व्याप्त होगया ॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—सृष्टिके आरंभमें विविध प्रकारसे जिसमें वस्तुएँ दमकती हैं वह विराट् मनः-संज्ञक प्रजापति, सहस्रबाहु पुरुषरूप महापुरुषसे प्रकट हुआ और उस विराट्को ही अधिकरण करके, सर्वभूतेन्द्रियपुरुषसमष्टियोंकी आत्मा अन्य पुरुष प्रजापति निष्पन्न होगए। [श्रुतिमें भी कहा है, कि—स मानसीन आत्मा जनानाम्-वह मनुष्योंकी मनसे निष्पन्नहोने वाली आत्मा है (तैत्तिरीय आरण्यक ३।११।१)] वह विराट्से प्रकट हुआ प्रादुर्भूत होते ही।अपनेको बढ़ाने लगा— अनेकधा भावलक्षण स्वरूपातिरेकका सेवन करने लगा अर्थात् उसने भूतेन्द्रियोंकी सृष्टि की [श्रुतिमें भी कहा है, कि-"असतोऽधि मनोऽसृज्यतमनः प्रजापतिं असृजत । प्रजापतिः प्रजा असृजत ।-असत्से मनकी सृष्टि हुई, मनने प्रजापतिकी रचना की । प्रजा-पतिने प्रजाओंकी रचना की ।" तैत्तिरीयब्राह्मण २ । २ । ६ । १०] भूतसमूहोंकी सृष्टिके अनन्तर उसने भूमिको व्याप्त किया। [इसीसे आकाशसे भूमि तक की सारी सृष्टि समझ लेनी चाहिये] इस प्रकार भूमिकी रचनाके अनन्तर उसने सात धातुओंसे पूर्ण

होनेवाले सुर नर तिर्यक् और स्थावरोंके शरीरोंको व्याप्त कर लिया अध्यात्मपक्षमें ही दूसरा अर्थ यह होता है, कि—विराट् अर्थात् ब्रह्माण्डरूप देह उस आदिपुरुषसे प्रकट हुआ, उस विराट् देहको ही अधिकरण बना कर उस देहका अभिमानी कोई एक पुरुष प्रकट हुआ। जो यह सर्ववेदांतवेद्य परमात्मा है वही अपनी मायासे ब्रह्माण्डरूप विराट् देहको रच कर तहाँ जीवरूपसे प्रवेश करके ब्रह्माण्डाभिमानी देवतात्मा जीव होगया है। [इस बात का अथर्ववेदी पुरुष उत्तरतापनीय उपनिषद्में स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं, कि—"स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यचामूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते माययैव।-वह इन भूतोंको इन्द्रियोंको विराट्को देवताओंको और कोशोंको रचकर इनमें प्रवेश कर गया है और अमूढ होने पर भी मायासे मूढ़की समान व्यवहार करता रहता है।" नृसिंह उत्तर तापनी उपनिषत् १। ६] वह प्रकट हुआ अतिरिक्त होगया अर्थात् देवता तिर्यक् मनुष्य आदि रूप वाला होगया फिर उसने देवा-दिजीव भावसे ऊपरकी भूमिकी रचना की। भूमिसृष्टिके अन-न्तर उसने उन जीवोंके शरीरकी रचना की। इस प्रकार यहाँ भूतसृष्टि और पिण्डसृष्टिका प्रतिपादन किया है ॥ ६ ॥

पञ्चमी ॥

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः १०

यत् । पुरुषेण । हविषा । देवाः । यज्ञम् । अतन्वत ।

वसन्तः । अस्य । आसीत् । आज्यम् । ग्रीष्मः । इध्मः । शरत् । हविः ॥ १० ॥

"उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य" [बृ० आ० १. १. १] इत्यादिना पुरुषस्य अश्वत्वेन उपासना आम्नायते। अतोत्र पुरुषस्य अश्वत्वात् हविष्ट्वम्। अश्वमेधे हि अश्वः पशुः। अथ वा मुख्यः पुरुष एव पुरुषमेधे पशुः। तस्माद् अयम् अर्थः। यत् यदा पुरुषेण अश्वरूपेण पुरुषरूपेण वा हविषा देवाः साध्यनामका यज्ञम् अतन्वत अकुर्वत तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्तः रसानाम् उत्पादक ऋतुः स्वमहिम्ना आज्यम् होम्यम् आसीत्। ग्रीष्मः शोषक ऋतुः इध्मः अग्निसमिन्धनसाधनभूतैकविंशतिदारुमयात्मकः पदार्थ आसीत्। शरत् शीर्यन्ते पच्यन्ते अस्याम् ओषधय इति शरद् ऋतुः हविः यज्ञियचरुपुरोडाशादिहवीरूपोभवत्॥ अध्यात्मपक्षे। यत् यदा पुरुषेण प्रजापतिना हविषा हविष्ट्वेन संकल्पितेन हविरन्तरस्याभावाद् देवाः प्राणाः प्राजापत्या इन्द्रियाणि च यज्ञम् संकल्पात्मकम् अतन्वत अकुर्वत। यद्वा यज्ञमेव अन्वतिष्ठन्। स्रष्टृकामः प्रजापतिर्देवः देवशब्दवाच्यप्राणादिभेदेनोच्यते। अथ वा पूर्वोक्तक्रमेण देवशरीरेषु उत्पन्नेषु ते देवा उत्तरसृष्टिसिद्धयर्थं तत्साधनत्वेन यज्ञम् अतन्वत। कंचिद् यज्ञम् अन्वतिष्ठन्। द्रव्यस्य अद्यापि अनुत्पन्नत्वेन हविरन्तराभावात् पुरुषस्वरूपमेव मनसा हविष्ट्वेन संकल्प्य तेन पुरुषाख्येन हविषा यत् यदा मानसं यज्ञम् अकुर्वत तदानीम् अस्य यज्ञस्य वसन्तर्तुरेव आज्यम् अभूत्। तमेव आज्यत्वेन संकल्पितवन्तः। एवं ग्रीष्मः इध्मत्वेन संकल्पितः। शरत्पुरोडाशादि हविष्ट्वेन संकल्पितः। पूर्वं पुरुषस्य हविःसामान्यरूपत्वेन संकल्पः वसन्तादीनां तु आज्यादिषु विशेषरूपत्वेनेति द्रष्टव्यम्॥

["उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य।–उषा इस पवित्र अश्वका शिर है" (बृहदारण्यक १।१।१) इत्यादि में पुरुष की अश्वरूपमें उपासना कही है, अत एव यहाँ पुरुषका अश्वरूप होनेसे हविष्ट्व है। अश्वमेधमें अश्व पशु होता है। अथवा मुख्य पुरुष

ही पुरुषमेधमें पशु होता है । इस लिये यह अर्थ है, कि-] जब पुरुषरूप वा अश्वरूप हविसे साध्य नामक देवताओंने यज्ञको किया । उस समय रसोंकी उत्पादक वसन्त ऋतु अपनी महिमा से उस यज्ञका घृत बन गई । और शोषक ऋतु ग्रीष्म (इक्कीस) समिधायें होगई, और जिसमें औषधियें पकती हैं वह शरत् यज्ञिय पुरोडाशरूप हवि होगई थी । अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि - जब प्राजापत्य प्राण और इन्द्रियरूप देवताओंने हविरूपमें कल्पित प्रजापतिपुरुषसे संकल्पात्मक यज्ञको किया उस समय वसन्त ऋतु ही घृत हुआ, ग्रीष्म ईंधन हुआ और शरत् पुरोडाश हुई ॥१०॥

षष्ठी ॥

तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रशः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये ॥ ११ ॥

तम् । यज्ञम् । प्रावृषा । प्र । औक्षन् । पुरुषम् । जातम् । अग्रऽशः ।
तेन । देवाः । अयजन्त । साध्याः । वसवः । च । ये ॥ ११ ॥

तं यज्ञम् यष्टव्यं पुरुषम् अग्रशः अग्रे सृष्ट्यादौ जातम् अश्वभूतं वा प्रावृषा वर्षकेण प्रावृडाख्येन ऋतुना प्रौक्षन् प्रोक्षितवन्तः । ❀ उक्ष सेचने ❀ । प्रावृट्कालं प्रोक्षणसाधनोदकरूपत्वेन संकल्पितवन्त इत्यर्थः । तेन पुरुषेण देवा अयजन्त इष्टवन्तः । के देवाः तान् आह । ये साध्या वसवश्च एतत्संज्ञका देवाः ॥ अध्यात्मपक्षे । यज्ञम् यज्ञसाधनभूतम् । ❀ करणे नङ् प्रत्ययः ❀ । तं पुरुषं पशुत्वभावनया यूपे बद्धम् अग्रशः अग्रतः अग्रे सर्वविकारसृष्टेः पूर्वं जातम् पुरुषत्वेन उत्पन्नं संकल्पात्मके यज्ञे प्रावृषा प्रौक्षन् प्रावृट्कालेन प्रोक्षितमिव मनसा कृतवन्त इत्यर्थः । तेन पुरुषरूपेण पशुना देवः अयजन्त मानसं यागं निष्पादितवन्तः । के ते देवा इति त

उच्यन्ते। साध्याः सृष्टिसाधनयोग्याः साधयन्तीति साध्याः। ❀ "कृत्यलयुटो बहुलम्" इति कर्तरि "अचो यत्" इति यत्-प्रत्ययः ❀। वसवः वासकाः प्राणाः इन्द्रियाणि च। द्वयेपि देवन-शीलत्वाद्द देवा इत्युच्यन्ते॥

सृष्टिकी आदिमें उस पूजनीय परुष वा पशुको प्रावृट् नामक ऋतुसे प्रोक्षित किया अर्थात् प्रावृट्कालको प्रोक्षणसाधनोदकरूप में कल्पित किया। उस पुरुषसे साध्य और वसु नामक देवताओं ने यजन किया था॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—उस यज्ञके साधनभूत पशुत्वकी भावनासे यूपमें बाँधेसे हुए सर्वविकार-सृष्टिसे पूर्व पुरुषरूपसे प्रकट हुएको संकल्पात्मकयज्ञमें साध्य (सृष्टिके साधनके योग्य) और वसु (वासक प्राण और इन्द्रियों) नामक देवताओंने मनके द्वारा प्रावृट्कालसे प्रोक्षितसा किया। उस पुरुषरूपपशुसे देवताओंने मानस यागको निष्पन्न किया ११

सप्तमी॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावयः १२

तस्मात्। अश्वाः। अजायन्त। ये। च। के। च। उभयादतः।
गावः। ह। जज्ञिरे। तस्मात्। तस्मात्। जाताः। अजऽअवयः १२

पशुसृष्टिरुच्यते। तस्मात् यज्ञात्मनः पुरुषाद् अश्वा अजायन्त। ये के च अश्वव्यतिरिक्ता गर्दभा अश्वतराश्च ये के च उभयादतः ऊर्ध्वाधोभागयोरुभयोर्दन्तयुक्ताः सन्ति ते अजायन्त। ❀ "छन्दसि च" इति दन्तस्य दतृभावः। "अन्येषामपि दृश्यते" इति दीर्घः। "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः ❀। तस्मादेव पुरुषाद् गावश्च जज्ञिरे। ❀ जनी प्रादुर्भावे ❀। ह-

शब्दश्चार्थे । तस्मादेव यज्ञपुरुषाद् अजान्नयः अजाश्च अवयश्च जाताः ॥ अध्यात्मपक्षेपि अयम् अर्थः समानः ॥

[अब पशुसृष्टिका वर्णन करते हैं, कि—] उस यज्ञात्मक पुरुषसे अश्व उत्पन्न हुए और घोड़ेके अतिरिक्त जो गधे और खिच्चर हैं वे भी उत्पन्न हुए। और जिनके ऊपर और नीचे दाँत होते हैं वे भी प्रकट हुए और उसी पुरुषसे गौएँ प्रकट हुईं और उसी यज्ञपुरुषसे बकरी और भेड़ें प्रकट हुई हैं ॥ अध्यात्मपक्षमें यही अर्थ है ॥ १२ ॥

अष्टमी ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दां ह जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥१३॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः । ऋचः । सामानि । जज्ञिरे ।
छन्दः । ह । जज्ञिरे । तस्मात् । यजुः । तस्मात् । अजायत १३

सर्वहुतः । ॐ"सुपां सुलुक्०"इति पञ्चम्येकवचनस्य सुः ॐ। सर्वहुतात् । आश्वमेधिकोश्वः सर्वहुतः । पुरुषस्य अश्वमेधत्वम् उक्तम् । यद्वा सर्वः सर्वाङ्गः सन् पशुहूयते स सर्वहुत् । ॐ कर्मणि व्यत्ययेन क्विप् प्रत्ययः ॐ। सर्वहुतः अश्वभूतात् तस्माद् यज्ञात् पुरुषाद् ऋचः पादबद्धा मन्त्राः सामानि गीत्यात्मकानि जज्ञिरे। तस्मात् यज्ञात् पुरुषात् छन्दः । ॐ जसो लुक् ॐ । छन्दांसि । हशब्दश्चार्थे । छन्दांसि च ऋगाद्यधिष्ठानानि जज्ञिरे । तस्मादेव पुरुषाद् यजुः प्रश्लिष्टपाठात्मको मन्त्रः अजायत । ऋगादीनां लक्षणं जैमिनिना सूत्रितम् । "तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" [जै० २. १. ३२]। "तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" [जै० २. १. ३५]। "गीतिषु सामाख्या" [जै० २. १. ३६]। "शेषे

यजुःशब्दः" [जै० २. १. ३७] इति ॥ अध्यात्मपक्षे। सर्वहुतः सर्वात्मा पुरुषः पशुत्वेन हूयतेस्मिन्निति सोयं सर्वहुत् तस्मात् पूर्वोक्ताद् मानसाद् यज्ञात् । शिष्टं समानम् ॥

उस पूर्णरूपसे हुत होने वाले अश्वभूत यज्ञपुरुषसे पादबद्ध मन्त्र-ऋचाएँ, और गीत्यात्मक मन्त्र-साम प्रकट हुए, उसी यज्ञ-पुरुषसे ऋक् आदिके अधिष्ठान छन्द प्रकट हुए हैं उसी पुरुषसे प्रश्लिष्टपाठात्मक मन्त्र यजु प्रकट हुआ। [ऋक् आदिका लक्षण करते हुए जैमिनिमुनिने सूत्रमें कहा है, कि-"तच्चोदकेषु मन्त्राख्या" (२ । १ । ३ जैमिनि ।) "तेषां ऋक् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था" (जैमिनि २ । १ । ३५) "गीतिषु सामाख्या" (२ । १ । ३६ जै०) शेषे यजुः शब्दः ।२ । १ । ३७ जै०)] अध्यात्मपक्षमें-सर्वहुत् पूर्वोक्त मानस यज्ञसे ऋक् साम छन्द और यजु प्रकट हुए ॥ १३ ॥

॥ नवमी

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ॥१४॥

तस्मात् । यज्ञात् । सर्वऽहुतः । सम्ऽभृतम् । पृषत्ऽआज्यम् । पशून् । तान् । चक्रे । वायव्यान् । आरण्याः । ग्राम्याः । च । ये

सर्वहुतस्तस्माद् यज्ञात् यज्ञात् अश्वभूताद् यज्ञपुरुषात् संभृतम् संपादितं यत् किंचिद् द्रव्यजातं तत् पृषदाज्यम् । दधिमिश्रम् आज्यं पृषदाज्यम् इत्युच्यते । तद् आसीत्। अथ तत् पृषदाज्यम् कर्म ते देवाः साध्यनामकाः वायव्यान् वायुदेवत्यान् आरण्यान् अरण्योद्भवान् द्विखुरश्वापदपक्षिसरीसृपहस्तिमर्कटनादेयाख्यान् सप्तसंख्याकान् एवमादिकान् अन्यान् आरण्यान् पशूंश्चक्रे चक्रिरे । ❀ "तिङां तिङो भवन्ति" इति झस्य तादेशः ❀ ।

ये च ग्राम्याः ग्रामोद्भवा गोश्वाजाविपरुषगर्दभोष्ट्रा एवमादिका अन्ये ग्राम्याश्च ये सन्ति तान् पशूंश्चक्रिरे। ❀ अरण्ये भवा आरण्याः। "तत्र भवः" इति अण् प्रत्ययर्यः। "ग्रामाद् यञ्-खञौ" इति ग्रामशब्दात् शैषिको यञ् प्रत्ययः ❀। आरण्यपशु-विशेषणे तच्छब्दस्य प्रसिद्धिवाचकत्वम्। ग्राम्यविशेषणे यच्छब्द-योगात् तच्छब्दस्य प्रतिनिर्देशः। पशूनाम् अन्तरिक्षद्वारा वायु-देवत्यत्वं मन्त्रान्तरव्याख्याने तैत्तिरीयाः समामनन्ति। "वायवः स्थेत्याह। वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः। वायव एवैनान् परिददाति" इति [तै० ब्रा० ३. २. १.४]। आरण्यानामेव वायुरधिपतिरिति केचित्॥ अध्यात्मपक्षे। सर्वहुतस्तस्माद् यज्ञात् पूर्वोक्ताद् मानसाद् यज्ञात् संभृतम् समुत्पन्नं पृषदाज्यं पृषत् विचित्रं बिन्दुमद् आज्यम्। अथ तत् पृषदाज्यम् कर्म आरण्यान् ग्राम्यांश्च द्विविधान् पशूंश्चक्रे प्राणेन्द्रियसमष्टिरूपः प्रजापतिः। तत्रैव अर्थान्तरम्। पृषदाज्यम् दधिमिश्रम् आज्यं संभृतम् संपादितम्। दधि च आज्यं च इत्येवमादि भोग्यजातं सर्वं संपादितम् इत्यर्थः। तथा द्विविधान् पशूंश्चक्रे प्राणेन्द्रिय-समष्टिरूपः प्रजापतिरेवेति॥

उस सर्वहुत यज्ञपुरुषसे सम्पादित द्रव्य दधिमिश्रित घृत है। साध्य नामक देवताओंने उस दधिमिश्रित घृतकर्मको और वायु देवता वाले अरण्यमें प्रादुर्भूत होने वाले दो खुर वाले, श्वापद, पक्षी, सरीसृप, हाथी, बन्दर और नादेयोंको रचा और ग्राममें होने वाले गौ घोड़े भेड़ पुरुष बकरे गधे और ऊँटोंको भी रचा। [तैत्तिरीयकोंने भी अन्तरिक्षके द्वारा पशुओंके वायुदेवत्यत्वको कहा है, कि—वायवः स्थेत्याह। वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षाः। अन्त-रिक्षदेवत्या खलु वै पशवः। वायव एवैनान् परिददाति तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३।२।१।४]॥ अध्यात्मपक्षमें यह अर्थ होगा, कि—उस सर्व-

हुत पूर्वोक्त मानस यज्ञसे विचित्र विन्दुओं वाला घृत प्रकट हुआ प्राणेन्द्रियसमष्टिरूप प्रजापतिने उस पृषदाज्य ग्राम्य तथा वन्य जीवोंको रचा ॥ १४ ॥

दशमी ॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद् यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥

सप्त । अस्य । आसन् । परिऽधयः । त्रिः । सप्त । सम्ऽइधः । कृताः ।
देवाः । यत् । यज्ञम् । तन्वानाः । अबध्नन् । परुषम् । पशुम् १५

यत् यदा यज्ञम् अश्वमेधं पुरुषमेधं वा तन्वानाः कुर्वाणाः साध्या देवाः स्वस्मिन् यज्ञे परुषं पशुम् अश्वभूतं मुख्यं पुरुषं वा अबध्नन् यूपे बद्धवन्तः तदानीम् अस्य यज्ञस्य सप्त सप्तसंख्याकानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि त्रिः सप्त एकविंशतिसंख्यायुक्ताः परिधयः समिधश्च कृताः संपादिता आसन् । ऐष्टिक्यः पञ्चदशभिः सामिधेनीभिरभिराधीयमानाः पञ्चदश समिधः एका अनुयाजसमित् द्वे आघारसमिधौ त्रयः परिधयः इति एकविंशतेर्दारूणां सम्पादनेन इध्यरूपं कृतं अथवा अस्य यज्ञस्य गायत्र्यादीनि सप्त च्छन्दांसि परिधय आसन् । ऐष्टिकस्य आहवनीयस्य त्रयः परिधयः । औत्तरवेदिकास्त्रयः । आदित्यश्च सप्तमः परिधिप्रतिनिधिरूपः । अत एवाम्नायते । "न पुरस्तात् परिदधाति । आदित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति" इति [तै० सं० २. ६. ६. ३] । त एत आदित्यसहिताः सप्त परिधयः अत्र सप्तच्छन्दोरूपाः । तथा समिधः त्रिः सप्त त्रिगुणितसप्तसंख्याका एकविंशतिः कृताः । द्वादश मासाः पञ्चर्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः" इति [ऐ० ब्रा० १. ३०] श्रुताः पदार्था

एकविंशतिदारुयुक्तेध्मत्वेन भाविताः। एवम् इध्मानाम् एकविंशते-दारूणां संपादनेन इध्मरूपं कृतम् पूर्वं तु पृथक्त्वेन परिधानकाले परिधिरूपत्वं कृतम् इति द्रष्टव्यम्। यत् यदा देवाः प्रजापतिप्राणेन्द्रियरूपा यज्ञं तन्वानाः मानसं यज्ञं कुर्वाणाः पुरुषं वैराजं पशुम् अबध्नन् तं पुरुषमेव पशुत्वेन भावितवन्तः। एतदेवाभिप्रेत्य पूर्वत्र पुरुषेण हविषा इत्युक्तम् ॥

जिस समय साध्य नामक देवताओंने (अश्वमेध वा) पुरुष-मेधको किया उस समय अपने यज्ञमें (अश्व वा) पुरुष पशुको यूपमें बाँधा उस समय गायत्री आदि सात छन्दोंको परिधि बनाया और इक्कीस समिधायें बनाईं। अध्यात्म—प्रजापतिके प्राण और इन्द्रियरूप देवताओंने मानसयज्ञको करते समय वैराजको पशुरूप में माना और उसको बाँधा उस समय इस यज्ञकी सात परिधियें और इक्कीस समिधायें थीं ॥ १५ ॥

एकादशी ॥

मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः ।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि ॥ १६ ॥

मूर्ध्नः । देवस्य । बृहतः । अंशवः । सप्त । सप्ततीः ।
राज्ञः । सोमस्य । अजायन्त । जातस्य । पुरुषात् । अधि १६

सर्वस्य यज्ञस्य सोमसाधयत्वाद् अत्रापि यज्ञे परंपरया सोम-संबन्धं दर्शयितुं सोमः अनया प्रस्तूयते। पुरुषात् यज्ञात्मनः वैराजाद् वा। अधिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी। जातस्य निष्पन्नस्य सोमस्य राज्ञः सप्त सप्तगुणिताः सप्ततीः सप्ततयः सप्तगुणितसप्तति-संख्याका अंशवः किरणाः बृहतः महतो देवस्य द्योतनात्मकस्य "सहस्रबाहुः पुरुषः" इत्यादिना निरूपितस्य आदिपुरुषस्य मूर्ध्नः

सकाशाद् अजायन्त उद्भूताः ॥ अयम् अर्थः। द्विविधो हि सोमः वल्लीरूपो देवतारूपश्चेति । तत्र लतारूपस्य सोमस्य स्वसाध्याः प्रकृतिविकृत्यादिभेदेन नानासंख्याकाः प्रकृतिरूपाः अग्निष्टोमादिसप्तसंस्थाः नानासंख्याका विकृतिभेदेन च क्रतवः पुरुषमेधक्रतुनिर्वर्तकनारायणपुरुषस्य शिरसः सकाशाद् उद्भूता इति । कलारूपस्य तु सोमस्य द्युलोके सप्तगुणितसंख्याकाः किरणा निष्पन्नाः । सूर्यस्य तु सहस्रकिरणाः सोमस्य तु दशोनपञ्चशतसंख्याकाः किरणा देवस्य मूर्ध्नोजायन्त इति ॥

इति एकोनविंशे काण्डे प्रथमेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

[सब यज्ञ सोमसाध्य होते हैं अत एव यहाँ भी यज्ञमें परम्पराके कारण सोमका संबंध दिखानेके लिये इस ऋचामें सोमका वर्णन करते हैं, कि-] यज्ञात्मक वा वैराज पुरुषसे निष्पन्न हुए राजा सोमकी चार सौ नब्भै किरणें महान द्योतनात्मक "सहस्रबाहुः पुरुषः" आदिसे निरूपित आदिपुरुषके मस्तकसे प्रकट हुई । तात्पर्य यह है, कि-दो प्रकारका सोम होता है एक वल्लीरूप और एक देवतारूप इनमें सोमके प्रकृतिविकृति भेदसे साध्य अनेक यज्ञ होते हैं । ये प्रकृतिरूप अग्निष्टोम आदि सप्तसंस्थ अनेक, और विकृतिभेदसे भी अनेक यज्ञ, पुरुषमेध यज्ञके निवर्तक नारायण पुरुषके शिरसे प्रकट हुए हैं ॥ और कलारूप सोमकी चार सौ नब्भै किरणें भी इन ही देवके मस्तकसे प्रकट हुई हैं ॥ १६ ॥

उन्नीसवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५५०)

"चित्राणि साकम्" इति "यानि नक्षत्राणि" इति सूक्तयोर्नक्षत्रदेवताज्यहोमे तद्धविर्होमे च विनियोगः । "अथ नक्षत्राणाम् उपचारं वक्ष्यामः" [न० क० १] इति प्रक्रम्य नक्षत्रकल्पे सूत्रितम् । "एतेषां चैव ऋक्षाणां व्यवस्थानोपसादिनाम् । यथावर्णानि

पुष्पाणि वासांस्येवानुलेपनम् । इमा आप इत्येतैः षड्भिः प्रतिगृह्णन्तु भगवन्ति नक्षत्राणि इत्येतैर्यथोक्तं कृत्वा अथाज्यभागन्ते चित्राणि साकं दिवि रोचनानि यानि नक्षत्राणीत्याज्यं हुत्वा" इति [न० क० ६]। "अथ नक्षत्रहवींषि । घृतं कृत्तिकाभ्यः । सर्वबीजानि रोहिण्यै" इति प्रक्रम्य सूत्रितम् । "क्षीरिवृक्षाङ्कुरा अश्विनीभ्याम् । कृष्णतिलाः सर्पिर्मधुमिश्रा भरणीभ्यः । चित्राणि साकं दिवि रोचनानि [१६. ७] यानि नक्षत्राणि [१६. ८] इति हुत्वाभयेन [६. ४०] उपस्थाय तन्त्रं परिसमापयेत्" इति च [न० क० १२]॥

"चित्राणि साकम्" और "यानि नक्षत्राणि" इन दोनों सूक्तों का नक्षत्रदेवता वाले घृतके होममें और इनकी ही हविके होममें विनियोग होता है। "अथ नक्षत्राणां उपचारं वक्ष्यामः ।–अब नक्षत्रोंके उपचारको कहते हैं" (न०क० १)। कह कर नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"एतेषां चैव ऋक्षाणां अवस्थानोपसादिनाम् । यथावर्णानि पुष्पाणि वासांस्येवानुलेपनम् ॥ इमा आप इत्यैतैः षड्भिः प्रतिगृह्णन्तु भगवन्ति नक्षत्राणि । इत्येतैर्यथोक्तं कृत्वा अथाज्यभागान्ते चित्राणि साकं दिवि रोचनानि । यानि नक्षत्राणि इत्याज्यं हुत्वा ।" (नक्षत्रकल्प ६)। "अथ नक्षत्रहवींषि । घृतं कृत्तिकाभ्यः । सर्वबीजानि रोहिण्यै ।–अब नक्षत्रों हवियोंका वर्णन करते हैं, कि-कृत्तिकाओंके लिये घृत रोहिणीके लिये सब प्रकारके बीज हवि हैं" का आरंभ करके फिर कहा है, कि—"क्षीरिवृक्षांकुरा अश्विनीभ्याम् । कृष्णतिलाः सर्पिर्मधुमिश्रा भरणीभ्यः । चित्राणि साकं दिवि रोचनानि (१६।७) यानिनक्षत्राणि (१६ । ८) इति हुत्वाभयेन (६ । ४०) उपस्थाय तन्त्रं परिसमापयेत् ।-अश्विनियोंके लिये दूध वाले वृक्षोंके अंकुर, भरणी नक्षत्रके लिये घी और शहद मिले हुये काले तिल

और १९ वें काण्डके सातवें और आठवें सूक्त तथा छठे कांडके ४० वें सूक्तसे उपस्थान करके तन्त्रको समाप्त कर देय" (नक्षत्र-कल्प १२)॥

तत्र प्रथमा ॥

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि ।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम् ॥ १ ॥

चित्राणि । साकम् । दिवि । रोचनानि । सरीसृपाणि । भुवने । जवानि ।
तुर्मिशम् । सुऽमतिम् । इच्छमानः । अहानि । गीःऽभिः । सपर्यामि । नाकम् ॥ १ ॥

चित्राणि चायनीयानि नानावर्णानि वा दिवि द्योतमाने स्वर्गे साकम् सह रोचनानि रोचमानानि दीप्यमानानि । ❀ "अनुदात्तेतश्च हलादेः" इति युच् प्रत्ययः ❀ । भुवने भुवर्लोके अन्तरिक्षे सरीसृपाणि पुनःपुनः सर्पन्ति । ❀ सर्पेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्यच् । "न धातुलोप आर्धधातुके" इति लघूपधगुणाभावः ❀ । सरीसृपाणि इत्यनेन विलम्बगमनप्रतीतावाह । जवानि शीघ्रगामीनि अनुक्षणम् आवर्तमानानि अहानि प्रत्यहम् एकैकनक्षत्रसद्भावाद्द अहःशब्देन नक्षत्राण्युच्यन्ते । नाकम् । कम् सुखम् अकं दुःखम् न विद्यते अकं दुःखं यस्मिन् स नाकः स्वर्गः । ❀ "नभ्राण्नपात्०" इति नञो नलोपाभावेन निपातितः ❀ । नाकं स्वर्गलोकम् । आसितानि

इत्यध्याहारः । द्युलोकावस्थितानि नक्षत्राणि गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिः मन्त्रकरणकैर्हविर्भिर्वा सपर्यामि । ❀ सपर्यतिः परिचरणकर्मा ❀ । परिचरामि । किमर्थं तद्धु आह तुर्मिशाम् इति । तुर्मयो हिंसकाः हिंसाकारिणः तान् श्यति तनूकरोतीति तुर्मिशा । ❀ तुर्वतेर्हिंसार्थाद् औणादिको मिप्रत्ययः । "लोपो व्योः०" इति वलोपः । शो तनूकरणे इत्यस्माद् "आतोऽनुपसर्गे कः" ❀ । यद्वा तुरो हिंसकान् मिषति स्पर्धते हन्तीति तुर्मिशा । ❀ मिष स्पर्धायाम् इत्यस्माद् मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः । मूर्धन्यस्य तालव्योपजनश्छान्दसः । एवं विधव्युत्पत्तिदर्शनाद्ध अनवग्रहः ❀ । बाधकनिवारयित्रीं सुमतिम् शोभनाम् अनुग्रहबुद्धिम् इच्छमानः इच्छन् कामयमानः । ❀ "लक्षणहेत्वोः०" इति हेतौ शानच् प्रत्ययः ❀ । दुःखनिवारकनक्षत्रानुग्रहबुद्ध्यपेक्षणाद्धेतोरित्यर्थः । एवम् अस्मिन् मन्त्रे सर्वाणि नक्षत्राणि संघशः प्रार्थितानि ॥

जो अनेक वर्ण वाले नक्षत्र दमकते हुए स्वर्गमें साथ २ दमकते रहते हैं, वे भुवर्लोकमें—अन्तरिक्षमें सरकते रहते हैं, प्रतिक्षण शीघ्रतासे चलते रहते हैं, मैं उन दुःखरहित स्थान स्वर्गमें स्थित नक्षत्रोंकी स्तुतिरूप वाणियोंसे वा मन्त्रोंके द्वारा प्रदान की जाने वाली हवियोंसे सेवा करता हूँ । इसका कारण यह है, कि मैं बाधाको दूर करने वाली उनकी अनुग्रहरूपा बुद्धिको चाहता हूँ [इस प्रकार इन मंत्रोंमें समूहरूपसे सब नक्षत्रोंकी प्रार्थना की है]१

अथ उत्तराभिर्ऋग्भिश्चतसृभिः कृत्तिकादीनि नक्षत्राणि प्रत्येकं प्रार्थ्यन्ते ॥

अब अगली चार ऋचाओंसे कृत्तिका आदि प्रत्येक नक्षत्रकी प्रार्थना की जाती है, कि—

द्वितीया ॥

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे २

सुऽहवम् । अग्ने । कृत्तिकाः । रोहिणी । च । अस्तु । भद्रम् । मृगऽशिरः । शम् । आर्द्रा ।

पुनर्वसू इति पुनःऽवसू । सूनृता । चारु । पुष्यः । भानुः । आऽश्लेषाः । अयनम् । मघाः । मे ॥ २ ॥

हे अग्ने कृत्तिकाः। कृत्तिकानक्षत्रस्य आग्नेयत्वात् अग्निः संबोध्यते । एवम् उत्तरेषां रोहिण्यादीनां नक्षत्राणां तत्तद्देवता भावनीया इति ज्ञापयितुं प्रथमम् अग्नेर्निर्देशः तेजःप्रदेशोपाधिबहुत्वापेक्षया कृत्तिका इति बहुवचनम् । बहुप्रदेशाभिमानिनो नक्षत्रस्य ऐक्यात् सुहवम् अस्त्विति एकवचनम् । एवम् उत्तरेषु नक्षत्रेषु द्विवचनं बहुवचनं च प्रदेशोपाधिभेदाद् इत्यवगन्तव्यम् । कृत्तिकानक्षत्रं सुहवम् सुष्ठु आह्वातुम् अर्हम् अस्तु भवतु। स्वदोषांशं परित्यज्य अस्मदनुकूलं भवत्वित्यर्थः। रोहिणी रोहिणीनक्षत्रं च हे प्रजापतिदेवते सुहवम् अस्तु । मृगशिरः मृगस्य शिर इव प्रतीयमानम् एतत्संज्ञकं नक्षत्रम् हे सोम भद्रम् भन्दनीयं मङ्गलप्रदं भवतु । आर्द्रा नक्षत्रं रुद्रदेवत्यं शम् सुखकारि भवतु । पुनर्वसू एतत्संज्ञकम् अदितिदेवताकं सूनृता । प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृतेत्युच्यते । सा भवतु । वाक्प्रदं भवत्वित्यर्थः । पुष्यस्तिष्यः बार्हस्पत्यः चारु श्रेयःप्रदम् । सर्वत्र अस्तु इति योज्यम् । आश्लेषाः सर्पदेवत्यं नक्षत्रं भानुर्दीप्तिः । ❀दाभाभ्यां नुः [उ० ३. ३२] इति नुः❀। दीप्तिप्रदम्। मघाः पितृदेवत्यम् एतत्संज्ञकं नक्षत्रं मे मम अयनम् गन्तव्य स्थानम् । भवत्वित्यर्थः ॥

हे अग्ने ! ‡ कृत्तिका नक्षत्र सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो अर्थात् अपने दोषांशको त्याग कर हमारे अनुकूल हो। हे प्रजापति देव ! रोहिणी नक्षत्र भी सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो अर्थात् अपने दोषांशको त्याग कर हमारे अनुकूल हो। हे सोम ! मृगशिरा नक्षत्र भी सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो—अपने दोषांशको त्याग कर हमारे अनुकूल होवे और मंगलप्रद होवे। रुद्र देवता वाला आर्द्रा नक्षत्र भी सुख देने वाला हो। अदिति देवता वाला पुनर्वसु नक्षत्र प्रिय सत्यवाणीको प्रदान करने वाला हो। बृहस्पति देवता वाला पुष्य नक्षत्र कल्याणप्रद हो, सर्प देवता वाला अश्लेषा नक्षत्र दीप्तिप्रद हो, पितृदेवता वाला मघा नक्षत्र मेरा गन्तव्य हो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्

पुण्यम्। पूर्वा। फल्गुन्यौ। च। अत्र। हस्तः। चित्रा। शिवा। स्वाति। सुऽखः। मे। अस्तु।
राधे। विऽशाखे। सुऽहवा। अनुऽराधा। ज्येष्ठा। सुऽनक्षत्रम्। अरिष्ट। मूलम् ॥ ३ ॥

पूर्वा पूर्वे फल्गुन्यौ अर्यमदेवत्यम् एतत्संज्ञकं पुण्यम् अस्तु। अत्र

‡ कृत्तिका नक्षत्रके अग्निदैवत होनेसे यहाँ अग्निको सम्बोधित किया है। इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

अस्मिन् नक्षत्रगणे फल्गुन्यौ उत्तरे च भगदेवत्यम् एतन्नक्षत्रं च। पुण्यम् इति अनुषङ्गः। हस्तः सावित्रः पुण्यप्रदोऽस्तु। चित्रा ऐन्द्री शिवा मङ्गलकारिणी। स्वाती वायव्या मे मम सुखास्तु। राधे विशाखे इति पदद्वयं विशाखानक्षत्रवाचि। राधासंज्ञकं विशाखासंज्ञकं च एकं नक्षत्रम् ऐन्द्राग्नं सुहवेति सुहवं भवत्विति लिङ्गवचनविपरिणामेन योज्यम्। अनुराधा राधे अनु राधयोः पश्चाद्भावि एतन्नामकं मैत्रं नक्षत्रं सुहवा सुष्ठु आह्वातुम् अर्हा। ज्येष्ठा ऐन्द्री च सुहवा। विवृन्नक्षत्रस्य मूलसंज्ञां निर्वक्ति अरिष्टमूलम् इति। मूलम् इति नक्षत्रस्य रूढं नाम न भवति किं तु यौगिकम् सर्वेषाम् अरिष्टानां पादभेदेन पितृमातृस्वधननाशानां निदानम्। अरिष्टमूलम् इति वक्तव्ये मूलम् इति एकदेशेन व्यपदिशन्ति सत्यभामा भामेतिवत्। तादृशम् अरिष्टनिदानं मूलसंज्ञकं पितृदेवत्यं सुनक्षत्रम् शोभननक्षत्रं मम श्रेयःप्रदं भवतु ॥

अर्यमा देवता वाला पूर्वाफल्गुनीनक्षत्र पुण्यप्रद हो, भगदेवत्य उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र पुण्यप्रद हो, सविता देवता वाला हस्तनक्षत्र पुण्यप्रद हो, इन्द्र देवता वाला चित्रानक्षत्र मंगलप्रद हो, वायु देवता वाला स्वाती नक्षत्र मेरे लिये सुख देने वाला हो, इन्द्रदेवता वाला राधा और विशाखा नाम वाला एक नक्षत्र सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो, मित्रदेवता वाला अनुराधा नामक नक्षत्र सुखपूर्वक आह्वान करने योग्य होवे। इन्द्रदेवता वाला ज्येष्ठा नक्षत्र सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य हो, सब अरिष्टोंका कारण, पितृदेवता वाला मूल † नक्षत्र मुझे कल्याण देने वाला होवे ॥ ३ ॥

† 'मूल' यह नक्षत्रका रूढ नाम नहीं है किंतु यौगिक नाम है। सब ही अरिष्ट पादभेदसे पिता माता वा अपने धनके नाशके कारण होते हैं।

चतुर्थी ॥

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु ।

अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम् ॥ ४ ॥

अन्नम् । पूर्वा । रासताम् । मे । अषाढाः । ऊर्जम् । देवी । उत्ऽतराः । आ । वहन्तु ।

अभिऽजित् । मे । रासताम् । पुण्यम् । एव । श्रवणः । श्रविष्ठाः । कुर्वताम् । सुऽपुष्टिम् ॥ ४ ॥

पूर्वा अषाढाः । तेजःप्रदेशबहुत्वापेक्षया बहुवचनम् । पूर्वाषाढाः अब्देवत्याः मे मह्यम् अन्नम् अदनीयं भोग्यं रासताम् ददतु । ❀ रातेर्लोटि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । बहुलग्रहणाद् अलेट्यपि "सिब्बहुलम्०"इति सिप् । "आत्मनेपदेष्वनतः"इति झस्य अदादेशः । यद्वा रासृ शब्दे । आत्मनेपदी । अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् अत्र रासतिर्दानार्थे । नक्षत्रविवक्षया एकवचनम् ❀ । देवी देव्यः । ❀ बहुवचनस्य एकवचनम् आदेशः ❀ । उत्तरा अषाढाः वैश्वदेव्यः ऊर्जम् बलकरम् अन्नम् अन्नरसम् आ वहन्तु अस्मदभिमुखं प्रापयन्तु । अभिजित् अभिजयसाधनं ब्रह्मदेवत्यं नक्षत्रं मे मम पुण्यमेव रासताम् प्रयच्छतु । ❀ पूर्ववद् रातेर्लोटि "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः । पूर्ववत् सिवात्मनेपदे । रासतेर्वा रूपम् ❀ । श्रवणः विष्णुदेवत्यः श्रविष्ठाः धनिष्ठा वासव्यश्च सुपुष्टिम् शोभनां पुष्टिं पशुपुत्रादिपोषं कुर्वताम् ॥

जल देवता वाला पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र मुझको भक्षण करने योग्य अन्न प्रदान करे। विश्वेदेवा देवता वाला उत्तराषाढ़ा नक्षत्र हमारे सामने बलप्रद अन्नरसको देवे। ब्रह्मदेवता वाला अभिजित् नक्षत्र मेरे लिये पुण्य देवे। विष्णुदेवता वाले श्रवण नक्षत्र और वसु देवता वाले धनिष्ठा नक्षत्र मुझे शोभन पुष्टि देवें–अर्थात् मेरे पशु पुत्र आदिको पुष्ट करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

आ मे महच्छतभिषग् वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।

आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु ॥ ५ ॥

आ। मे। महत्। शतऽभिषक्। वरीयः। आ। मे। द्वया। प्रोष्ठऽपदा। सुऽशर्म।

आ। रेवती। च। अश्वऽयुजौ। भगम्। मे। आ। मे। रयिम्। भरण्यः। आ। वहन्तु ॥ ५ ॥

शतभिषक् शतविशाखा ऐन्द्री वरीयः उरुतरम्। ❀ "प्रियस्थिर०" इत्यादिना उरुशब्दस्य ईयसुनि वर् आदेशः ❀। उरुतरं फलं मे मम आ वहत् आवहतु। ❀ वहेर्लेटि अडागमः ❀। द्वया द्विप्रकारा। ❀ ङीपः स्थाने व्यत्ययेन टाप् प्रत्ययः ❀। प्रोष्ठपदा अजैकपाद्देवत्या पूर्वाभाद्रपदा अहिर्बुध्न्यदेवत्या उत्तराभाद्रपदा च सुशर्म शोभनं सुखं गृहं वा आ वहत् इति क्रियानुषङ्गः॥ रेवती पौष्णी मे मम भगम् भाग्यम् आ वहतु। अश्व-

युजौ अश्विदेवत्यौ आ वहताम् इति । भरण्यः याम्यो मे मम रयिम् धनम् आ वहन्तु प्रापयन्तु । द्वितीय आकारः पूरणः ॥

इति प्रथमेनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

इन्द्र देवता वाला शतभिषक् नक्षत्र मुझे महान् फल देवे । दो प्रकारकी प्रोष्ठपदा अर्थात् अजैकपाद देवता वाला पूर्वा भाद्रपद और अहिर्बुध्न्य देवता वाला उत्तरा भाद्रपद हमें शोभन घर प्रदान करे, पूषा देवता वाला रेवती नक्षत्र मुझको सौभाग्य प्रदान करे, अश्विनीकुमार देवता वाला अश्वयुक् नक्षत्र मुझको भाग्य प्रदान करे । यम देवता वाला भरणी नक्षत्र मुझको धन प्रदान करे ॥ ५ ॥

प्रथम अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (५५१)

"यानि नक्षत्राणि" इति सूक्तस्य नक्षत्रहोमे पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

पूर्व-सूक्तके साथ "यानि नक्षत्राणि" सूक्तका विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

यानि नक्षत्राणि दिव्य१न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु ।

प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु ॥ १ ॥

यानि । नक्षत्राणि । दिवि । अन्तरिक्षे । अप्ऽसु । भूमौ । यानि । नगेषु । दिक्षु ।

प्रऽकल्पयन् । चन्द्रमाः । यानि । एति । सर्वाणि । मम । एतानि । शिवानि । सन्तु ॥ ४ ॥

दिवि द्युलोके अन्तरिक्षे मध्यमलोके अप्सु उदकेषु भूमौ पृथिव्यां नगेषु पर्वतेषु दिक्षु च यानि नक्षत्राणि दृश्यन्ते द्युलोके देवतात्मना अन्तरिक्षे तेजोमण्डलाकारेण अप्सु प्रतिबिम्बनेन । उदये च अस्तमयकाले च भूमिसमानदेशे पर्वतसमानप्रदेशे च प्रतीतेर्भूमिः पर्वताश्च अधिकरणत्वेन उच्यन्ते । दिक्षु प्रतीतिस्तु स्फुटा । चन्द्रमाः यानि नक्षत्राणि प्रकल्पयन् प्रकर्षेण कल्पयन् संभोगसमर्थानि कुर्वन् प्रोत्साहयन् एति प्राप्नोति एतानि सर्वाणि नक्षत्राणि मम शिवानि सुखकराणि सन्तु भवन्तु ॥

द्युलोकमें, मध्यम लोक अन्तरिक्षमें, जलमें, पृथिवीमें पर्वतोंमें और दिशाओंमें जो नक्षत्र दीखते हैं [अर्थात् द्युलोकमें देवतारूपसे, अन्तरिक्षमें तेजोमण्डलरूपसे और जलमें प्रतिबिम्बरूपसे, उदय और अस्तके समय भूमिके और पर्वतके समान देशमें और दिशाओंमें स्फुटरूपसे दीखते हैं] और चन्द्रमा जिन नक्षत्रोंको उत्साहित करता हुआ आता है वे नक्षत्र मुझको सुख देनेवाले होवें ।१।

द्वितीया ॥

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ २ ॥

अष्टाऽविंशानि । शिवानि । शग्मानि । सह । योगम् । भजन्तु । मे ।

योगम् । प्र । पद्ये । क्षेमम् । च । क्षेमम् । प्र । पद्ये । योगम् । च । नमः । अहोरात्राभ्याम् । अस्तु ॥ २ ॥

अष्टाविंशानि प्रत्येकम् अष्टाविंशतेः संख्यायाः पूरणानीति

सर्वाणि अष्टाविंशानीत्युक्तम् । ❀ पूरणार्थे डट्प्रत्यये कृते "ति विंशतेर्डिति" इति तिशब्दस्य लोपः । "अष्टनः संख्यायाम्०" इति अष्टशब्दस्य आत्त्वम् ❀ । कृत्तिकेत्यादीनि भरणीत्यन्तानि शिवानि सुखदर्शनानि शग्मानि । सुखनामैतत् । सुखप्रदानि तानि सर्वाणि नक्षत्राणि मे मदर्थं मम फलं दातुम् । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । सहयोगम् सहभावम् ऐकमत्यं भजन्तु प्राप्नुवन्तु । नक्षत्राणां मदर्थं सहयोगाद्ध अहं योगम् । अलभ्यवस्तुप्राप्तिर्योगः । तं प्र पद्ये पूर्वम् अलब्धानि वस्तूनि नक्षत्रप्रसादाल्लभेय । क्षेमम् । लब्धवस्तुपरिपालनं क्षेमः । तं च प्र पद्ये । क्षेमस्य अन्वाचयशिष्टत्वेन अप्राधान्यशङ्कां वारयितुं तत्प्राधान्येन पुनराह क्षेमं प्र पद्ये योगं चेति । अनेन योगक्षेमयोः प्राधान्यम् । अहनि रात्रौ च नक्षत्राणां संचरणात् तयोरानुकूल्यकरणं नमोहोरात्राभ्याम् अस्त्विति । ❀ अहश्च रात्रिश्च । "अहःसर्वैकदेश०" इति अच् समासान्तः ❀ । ताभ्यां नमः नमस्कारोस्तु ॥

कृत्तिकासे लेकर भरणी तकके सुखप्रद सुखदर्शन जो अट्ठाईस नक्षत्र हैं वे मुझको फल देनेके लिये एकमत होजावें, नक्षत्रों का मेरे लिये सहयोग होनेसे मैं अलभ्य वस्तुकी प्राप्तिके योगको प्राप्त करूँ और प्राप्त हुई वस्तुके पालनरूप क्षेमको प्राप्त करूँ, मैं योग क्षेमको प्राप्त करूँ, दिन और रात्रिके लिये प्रणाम प्राप्त हो

तृतीया ॥

स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु ।
सुहवमग्ने स्वस्त्यं१मर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन् ३

स्वस्तितम् । मे । सुऽप्रातः । सुऽसायम् । सुऽदिवम् । सुऽमृगम् । सुऽशकुनम् । मे । अस्तु ।

सुऽहवम् । अग्ने । स्वति । अमर्त्यम् । गत्वा । पुनः । आय । अभिऽनन्दन् ॥ ३ ॥

पूर्वमन्त्रे योगक्षेमप्रदनं प्रार्थितं तद्ध विशिनष्टि । मे मम तत् वक्ष्यमाणं स्वस्ति इत्यविनाशिनाम । अविनश्वरं तत् फलं भवतु । सुप्रातः प्रातःकालः शोभनः सुखो भवतु । ❀ प्रातरादिशब्दैः सह सुशब्दः समृद्ध्यर्थे समस्यते । स समासः अव्ययीभावः ❀। प्रातःकालाः सुकारित्वेन समृद्धा भवन्तु । सुसायम् सायंकाला अपि सुखाः समृद्धाः । सुदिनम् दिनशब्दः अहोरात्रपरः सुखानि अहानि सुखा रात्रयश्च । सुमृगम् मृगा हरिणादयः अर्थार्थम् अनुकूले नक्षत्रे गच्छतो मम भाविफलसूचकत्वेन अनुकूलगतिचेष्टायुक्ता भवन्तु । एवं सुशकुनम् शकुनाः काकादयः स्वरगतिचेष्टादिभिः अनुकूला मे सन्तु । एवं नक्षत्राणि संप्रार्थ्य नक्षत्राधिदेवताः प्रार्थयते । हे अग्ने । कृत्तिकानक्षत्रदेवताऽग्निः तदुपलक्षिताः सर्वनक्षत्रदेवता यूयं सुहवम् सुष्ठु आह्वातुमर्हम् अमर्त्यम् अमरणधर्माणम् अविनश्वरं द्युलोकं स्वस्ति क्षेमेण गत्वा अभिनन्दन् हविःप्रदातॄन् अभिलक्ष्य हृष्यन् आय आगच्छ । ❀प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् ❀ ॥ केवलोऽग्निरेव वा संबोध्यते । हे अग्ने सुहवम् सुष्ठु हविः तत्तद्देवतार्हं हविः अमर्त्यम् अमरणधर्मकं तत्तन्नक्षत्रदेवतासंघं स्वस्ति क्षेमेण गत्वा । ❀ अन्तर्णीतण्यर्थः ❀ । गमयित्वा पुनः अस्मान् अभिनन्दन् आय आगच्छ । ❀ इ गतौ । भौवादिकः । आङ्पूर्वस्य लोटि हौ रूपम् ❀ ।

सुन्दर प्रातःकाल मुझको सुख देने वाला हो, सुन्दर सायंकाल मुझको क्षेम देने वाला हो, दिन और रात्रि मुझको सुखप्रद होवें, प्रयोजनके अनुकूल नक्षत्रमें जाते हुए मुझे भाविफलकी सूचना देनेके लिये हरिण आदि मेरे अनुकूल गति और

चेष्टा करने वाले हों । हे अग्ने ! आप सुन्दर हविको हविके पात्र नक्षत्रदेवताओंको प्राप्त करा कर हमको अभिनन्दन देते हुए फिर आइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम् ।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान् परा तान्त्सवितः सुव ॥ ४ ॥

अनुऽहवम् । परिऽहवम् । परिऽवादम् । परिऽक्षवम् ।
सर्वैः । मे । रिक्तऽकुम्भान् । परा । तान् । सवितः । सुव ॥४॥

अनुकूले नक्षत्रे धनार्थं गच्छतः पुरुषस्य भाविकार्यप्रतिबन्धकानि पश्चादाह्वानादीनि दुर्निमित्तानि । तेषां निवारणम् आशास्ते । अनुहवम् पुरो गच्छतः पुरुषस्य नाम गृहीत्वा पश्चाद्भागावस्थायिना पुरुषेण आह्वानम् अनुहवः । परितः पार्श्वद्वये आह्वानं परिहवः । परुषभाषणं परिवादः । परितः सर्वतः क्षवः क्षुतं परिक्षवः । अथ वा वर्जनार्थे परिशब्दः । वर्जिते वर्जिते प्रदेशे पुरोभागलक्षणे क्षुतं क्षवः परिक्षवः । रिक्तकुम्भाः शून्यकलशाः । तान् उक्तान् अनुहवादीन् दुर्निमित्तदोषान् मे मम कार्यार्थं गच्छतो मम हे सवितः सर्वस्य प्रसवितः अनुज्ञातर्देव सर्वैः नक्षत्रदेवैः सहितः सन् परासुवः पराकुरु । ❀ षू प्रेरणे । तौदादिकः ❀ ॥

[अनुकूल नक्षत्रमें धनके लिये जानेवाले पुरुषके भावी कार्य को रोकने वाले-पीछेसे बुलाना आदि दुर्निमित्त होते हैं, अब उनके निवारणकी प्रार्थना करते हैं, कि—] हे सविता देव ! आप सकल नक्षत्रोंको साथमें लेकर अनुहव (आगेको चलते हुए पुरुष का पीछेके पुरुषके द्वारा नाम कर लेकर बुलाया जाना), को परिहव (दोनों पार्श्वोंसे आह्वान) को, कठोर भाषणको, वर्जित

स्थलकी वा चारों ओरकी छींकको और खाली घड़े आदि दुर्निमित्तोंको हमसे दूर करिये ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम् ।
शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम् ५

अपऽपापम् । परिऽक्षवम् । पुण्यम् । भक्षीमहि । क्षवम् ।
शिवा । ते । पाप । नासिकाम् । पुण्यऽगः । च । अभि । मेहताम्

अत्रापि दुर्निमित्तदोषपरिहार आशास्यते । पापं पापावहम् अहितनिमित्तं परिक्षवम् कष्टप्रदेशे क्षुतम् अप । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । अपगमयेम । न केवलम् अहितनिवारणं किंतु क्षवम् दुर्निमित्तरूपं क्षुतं पुण्यम् श्रेयस्करं भक्षीमहि लप्सीमहि । ❀भज सेवायाम् । आशीर्लिङि कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् । "एकाच उपदेशेनुदात्तात्" इति इट्प्रतिषेधः ❀ ॥ उत्तरार्धम् ऋत्विग्वचनम् । धनार्थं प्रयास्यतः पुरुषस्य पथि शिवागमनं शिवादर्शनं तद्ध्वनिश्रवणं नपुंसकदर्शनं च निषिद्धम् । तत्परिहारायाह । हे पुरुष शिवा । क्रोष्टुनामैतत् । नियतं स्त्रीलिङ्गम् । विरुद्धं शब्दायमानापि शिवा ते तत्र गच्छतः पापनाशिका दुर्निमित्तदोषनिवारिका भवतु । तथा पण्डकः नपुंसकः पुरुषश्च अभिमेधताम् प्रोत्साहयतु । स्वदर्शनास्पर्शनादिदोषं परिहार्य त्वत्कार्यसिद्ध्यनुकूलो भवतु । ❀ मेधृ संगमे । भौवादिकः ❀ । अभिमेधनं नाम प्रोत्साहनम् इति आपस्तम्बेनोक्तम् । "पत्न्योभिमेधन्ते" इति [आप० २३. १८] ॥

[इस ऋचामें भी दुर्निमित्तक दोषोंके परिहारकी प्रार्थना की है, कि—] पापप्रद अहितकारी दुःस्थानकी छींकको हम दूर करें, और छींकको पुण्यरूपमें प्राप्त करें [ऋत्विज़ कहता है, कि—]

धनके लिये जाने वाले पुरुषको मार्गमें गीदड़ीका आना दीखना वा शब्द सुनाई देना अथवा नपुंसकका दर्शन निषिद्ध है उसका परिहार करते हुए कहते हैं, कि-विरुद्ध शब्द करती हुई गीदड़ी भी पापनाशिका अर्थात् दुर्निमित्त दोषकी निवारिका होवे तथा षण्ढ पुरुष भी तुझको उत्साहित करे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते ।

सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥ ६ ॥

इमाः । याः । ब्रह्मणः । पते । विषूचीः । वातः । ईरते ।

सध्रीचीः । इन्द्र । ताः । कृत्वा । मह्यम् । शिवऽतमाः कृधि ॥६॥

हे ब्रह्मणस्पते । उत्तरार्धे इन्द्रेति निर्देशात् तस्य विशेषणम् एतत् । ब्रह्मणः मन्त्रसंघस्य पते स्वामिन् सर्वमन्त्रप्रतिपाद्य इन्द्र इमाः परिदृश्यमाना याः प्राच्यादिदिशः । कर्म । वातः वात्यारूपो वायुः विषूचीः विष्वगञ्चना ईरते ईर्ते । यथा प्राच्यादिदिग्विभागो न भवति तथा परिभ्रमयतीत्यर्थः । प्राची वा प्रतीचीवत् प्रतीयते प्रतीची वा प्राचीवत् प्रतीयते अन्यदिगात्मना वा प्रतीयते तथा व्यामोहयतीति यावत् । महावाते वाति एवं भवतीति प्रसिद्धिः । ❀ विषूचीरिति । विषुशब्दोपपदाद् अञ्चतेः क्विन् । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपे "चौ" इति दीर्घः । ईर गतौ । आदादिकोनुदात्तेत् । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः ❀ । हे इन्द्र ता विषूचीर्दिशः सध्रीचीः सहाञ्चना यथास्थितप्रदेशावस्थायिनीः कृत्वा मह्यं मदर्थं शिवतमाः अत्यर्थं सुखकारिणीः कृधि कुरु । ❀ सहपूर्वाद् अञ्चतेः क्विनि "सहस्य सध्रिः" इति सध्र्यादेशः ❀ ॥

हे बड़े २ मन्त्रोंसे प्रतिपाद्य इन्द्र ! जिन पूर्व आदि दिशाओं को अंधड़ वायु चल कर चारों ओर घूमती हुईसी कर देता है अर्थात् अधिक वायुके चलने पर दिशाओंका ज्ञान नहीं रहता है। ऐसी दिशाओंको आप यथायोग्य प्रदेश पर स्थित होने वाली बनाकर मेरे लिये परम कल्याणकारिणी बनाइये ॥ ६ ॥

सप्तमो मन्त्रो यजूरूपः पठ्यते ॥

स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोहोरात्राभ्यामस्तु

स्वस्ति । नः । अस्तु । अभयम् । नः । अस्तु । नमः । अहोरा-त्राभ्याम् । अस्तु ॥ ७ ॥

नः अस्माकम् । स्वस्ति इत्यविनाशिनाम । तद् अस्तु । अभयम् भयराहित्यं च नः अस्माकम् अस्तु । भयादिकं तु अहनि रात्रौ वा संभवतीति तत्परिहारायाह । नमोहोरात्राभ्याम् अह्ने रात्रये च नमः नमस्कारोस्तु ॥

इति प्रथमेनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

हमारे लिये स्वस्ति हो, अभय हमारा हो (भय आदिक रात्रि वा दिनमें होता है अत एव) दिन और रात्रिके लिये प्रणाम प्राप्त हो७

प्रथम अनुव कमें नवम सूक्त समाप्त (५५२)

प्रत्यहं कर्तव्ये राज्ञो वासगृहप्रापणकर्मणि शर्कराप्रक्षेपानन्तरं "शान्ता द्यौः" इति शान्तिसूक्तं जपेत् । "अथातो रात्रिसूक्तानां विधिम् अनुक्रमिष्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "त्र्यायुषम् [५. २८. ७] इति राज्ञे रक्षां कृत्वा असपत्नम् [१९. १६] इति शर्करा अभिमन्त्र्य अङ्गुष्ठात् प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत् । शान्ता द्यौरिति जपित्वा राजानं वासगृहं नयेत्" इति [प० ४. ५] ॥

पितृरात्रिकल्पेपीदं शान्तिसूक्तं विनियुक्तम् [प० ६. ५] ॥

अस्य सूक्तस्य शान्तिप्रतिपादकत्वेन शान्तिगणे पाठाद् "आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" इति [न० क० १८] ऐरावत्यादिषु विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

राजाको घर पहुँचानेके प्रतिदिन करने योग्य कर्ममें शर्कराप्रक्षेपके अनन्तर "शान्ता द्यौः" इस शान्तिसूक्तको जपे। "अथातो रात्रिसूक्तानां विधिं अनुक्रमिष्यामः।–अब रात्रिसूक्तोंकी विधिको कहते हैं" कह कर परिशिष्टमें कहा है, कि–"त्र्यायुषं (५।२८।७) इति राज्ञे रक्षां कृत्वा असपत्नं (१९ । १६) इति शर्करा अभिमन्त्र्य अङ्गुष्ठात् प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्। शांता द्यौरिति जपित्वा राजानं वासगृहं नयेत्। त्र्यायुषम् जमदग्ने (इस पञ्चमकाण्डके अट्ठाईसवें सूक्तके सप्तम मन्त्रसे राजाके लिये रक्षा करके असपत्नम् (इस उन्नीसवें काण्डके सोलहवें सूक्त) से शर्कराओंको अभिमन्त्रित करके अँगूठेसे प्रदक्षिण प्रतिदिशाकी ओर फेंके। और शान्ता द्यौःका जप करके राजाको निवासस्थानमें लेजावे" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ५) ॥

अथर्वपरिशिष्ट ६ । ५ में कहा है, कि–पिष्ट रात्रिकल्पमें भी इस शान्तिसूक्तका विनियोग होता है।

शान्तिका प्रतिपादक होनेसे इस सूक्तका शान्तिगणमें पाठ है, अतएव "आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्।-आयुष्यगण शांतिगण और स्वस्तिगणका ऐरावती शान्तिमें प्रयोग होता है" इस नक्षत्रकल्प १८ से विहित ऐरावती शान्तिमें तथा अन्य शान्तियोंमें इसका विनियोग होसकता है।

तत्र प्रथमा ॥

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्व१न्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥१॥

शान्ता । द्यौः । शान्ता । पृथिवी । शान्तम् । इदम् । उरु । अन्त-
रिक्षम् ।
शान्ताः । उदन्वतीः । आपः । शान्ताः । नः । सन्तु । ओषधीः १

अस्मिन् सूक्ते सर्वतः शान्तिः प्रतिपाद्यते "या तेनोच्यते सा देवता" इति न्यायात् शान्तिरेव देवता । शान्तिर्नाम अनिष्टपरिहारेण सुखकारिरूपता । अतोत्र शान्तिकारिणः पदार्थविशेषान् आह शान्ता द्यौः इत्यादिना । द्यौः द्युलोकः शान्तास्तु । ❀ शमु उपशमे । कर्तरि क्तप्रत्ययः ❀ । दोषाणां शमयित्री स्वनिबन्धनोपद्रवशमनेन अस्य सुखकारिण्यस्त्वित्यर्थः । एवम् उत्तरत्रापि । पृथिवी प्रथिता भूमिः शान्तास्तु । इदं परिदृश्यमानम् उरु विस्तीर्णम् अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं मध्यमलोकः । उदन्वतीः उदन्वान् उदकवान् उदधिः ! ❀ "उदन्वान् उदधौ च" इति उदकशब्दाद् मतुपि उदन्भावो निपात्यते । "तत्र भवः" इति भवार्थे अण् । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति आदिवृद्धेरभावः । कार्ये वा कारणशब्दः । "वा छन्दसि" इति यणादेशाभावे पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । ता आपः शान्ताः सन्तु ओषधीः ओषः पाको धीयते आस्विति ओषध्यः । ता नः शान्ताः सन्तु ॥

[इस सूक्तमें चारों ओरसे शान्ति पानेका वर्णन किया गया है । "या तेनोच्यते सा देवता—जो उस मन्त्र—सूक्त आदिसे कहा जाय वह उसका देवता होता है" इस न्यायसे इस सूक्तका शान्ति ही देवता है । अनिष्टको दूर करके सुखकारिरूपता ही शान्ति है, अत एव यहाँ शान्तिप्रद पदार्थोंका वर्णन करते हैं, कि-] द्युलोक अपने कारणसे होने वाले दोषोंको शांत करता हुआ हमारे लिये सुख देने वाला हो पृथिवीलोक शान्तिप्रद हो, यह विशाल अन्तरिक्ष लोक हमारे लिये शान्तिप्रद हो, यह समुद्रमें होने वाले जल हमको शान्ति देवें और यह ओषधियें हमारे लिये शान्तिप्रद होवें १

द्वितीया ॥

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम् ।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः ॥ २ ॥

शान्तानि । पूर्वऽरूपाणि । शान्तम् । नः । अस्तु । कृतऽअकृतम् ।
शान्तम् । भूतम् । च । भव्यम् । च । सर्वम् । एव । शम् । अस्तु ।
नः ॥ २ ॥

पूर्वरूपाणि कार्यापेक्षया पूर्वरूपाणि कारणावस्थापन्नानि वस्तूनि कृताकृतम् कृतं कार्यजातम् अकृतम् अनिष्पन्नं नित्यं मे मदर्थं शान्तानि यद्वा मदीयानि पूर्वरूपाणि पूर्वाणि रूपाणि दुष्कृतफलभूतानि प्राक्तनानि जन्मानि शान्तानि सन्तु । पूर्वेषु जन्मसु तत्तत्कर्मणो भोगादेव तत्कृतानिष्टाभावः अतः किमिति एषां शान्तित्वशासनम् इति । नैष दोषः । प्राक्तनजन्मापादकस्य कर्मणोऽभावेपि तत्तज्जन्मकृतदुष्कृतकर्मण उत्तरत्र तिर्यगादिजन्मप्रापकत्वे तत्परिहाराय तच्छान्तिराशास्या । तथा मे मदीयं कृताकृतम् । इह कृतशब्देन सम्यग् अनुष्ठितं कर्म न विवक्ष्यते किं तु विरुद्धम् आचरितम् अकृतम् अननुष्ठितं स्वाश्रमविहितं कर्म नित्यनैमित्तिकरूपम् । तद् उभयं शान्तम् अस्तु । ❀ "क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ्" इति कृतशब्दः अकृतेन समस्यते ❀ । विरुद्धाचरणविहितानाचरणयोः पतनहेतुत्वं स्मर्यते

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात् ।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनम् ऋच्छति ॥

इति ॥ भूतम् उत्पन्नं भव्यम् भविष्यत् । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । तद् उभयं शान्तम् । किं बहुना । सर्वम् कालत्रयाव-

च्छिन्नम् उक्तम् अनुक्तं च सर्वं नः अस्माकं शम् दोपशमयितृ सुखमेव भवतु ॥

कार्यकी अपेक्षा कारण दशामें स्थित पदार्थरूप पूर्वरूप मुझे शान्ति देने वाले होवें, कार्यसमूह और न वन सका कार्य मेरे लिये शान्तिप्रद होवे, वा मेरे पापके फलरूप मेरे पूर्वजन्मके पूर्वरूप अर्थात् कर्म शान्त होजावें [यहाँ शंका होसकती है, कि—पूर्व जन्ममें किये हुए कर्मोंके भोगनेके बाद ही उनसे होने वाले अनिष्टोंका अभाव होसकता है अत एव शान्तिकी प्रार्थना करने से क्या लाभ है, तो कहते हैं, कि-यह दोष नहीं है। पूर्व जन्मके किसी कर्मके इस समय फलोन्मुख न होने पर भी उन जन्मोंमें किये हुए पापकर्मोंसे भविष्यमें तिर्यक् आदि योनिकी प्राप्ति न हो अत एव शान्तिकी प्रार्थना की आवश्यकता है] तथा मेरा किया हुआ दुष्कर्म और आश्रमके लिये न किया हुआ नित्य नैमित्तिक आदि कर्म शान्त हो। [क्योंकि-विरुद्धाचरण और विहित कर्मके अनाचरणको पतनका हेतु माना है, यथा—"विहितस्याननुष्ठानाद्द निन्दितस्य च सेवनात्। अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ॥ शास्त्रमें विहित कर्मका अनुष्ठान न करनेसे और निंदित कर्मका सेवन करनेसे और इन्द्रियोंका दमन न करनेसे"] मनुष्य पतनको प्राप्त होजाता है भूत और भविष्यत् का कर्म दोषको शान्त करता हुआ हमको शान्ति देने वाला हो अधिक क्या ? तीनों समयका उक्त अनुक्त सब कर्म दोषको शान्त रखता हुआ हमको सुख देने वाला ही होवे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्मसंशिता ।

ययैव संसृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः ॥ ३ ॥

इयम् । या । परमेऽस्थिनी । वाक् । देवी । ब्रह्मऽसंशिता ।

यया । एव । ससृजे । घोरम् । तया । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ३

परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठिनी परमेष्ठिनो ब्रह्मणः पत्नी वा । ❀ "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति सप्तम्या अलुक् ❀ । ब्रह्मसंशिता ब्रह्मभिर्मन्त्रैः सम्यग् उत्तेजिता सकलवैदिकवाक्यप्रतिपादितस्वरूपा इयं विद्वद्भिः स्वात्मभूतेन सम्यग् अनुभूयमाना या वाग्देवी वर्तते ययैव वाग्देव्या घोरम् परेषाम् अरुन्तुदं वचः शापादिरूपं ससृजे सृष्टम् उच्चरितं तयैव वाचा नः अस्मदर्थं शान्तिरस्तु वाचा सृष्टस्य घोरकर्मणः शान्तिर्भवतु । यद्व वाचा अनर्थजातम् उत्पन्नं तदेव स्वकृतम् अनर्थं परिहरत्वित्यर्थः । एवम् उत्तरयोर्मन्त्रयोरपि योज्यम् ॥

परमस्थानमें रहने वाले परमेष्ठी वा ब्रह्मकी पत्नी, मन्त्रोंसे भली प्रकार उत्तेजित, और जिसके स्वरूपका सकल वैदिक वाक्योंने प्रतिपादन किया है ऐसी यह विद्वानोंके द्वारा भली प्रकार अनुभूत जो वाग्देवी है, कि–जिसके द्वारा दूसरोंको, मर्मको कष्ट पहुँचाने वाला शाप आदिरूप वचन उच्चरित हुआ है, उसी वाणीके द्वारा हमारे लिये शान्ति प्राप्त हो अर्थात् वाणीके द्वारा रचे हुए घोर कर्मकी शांति हो तात्पर्य यह है, कि–जिस वाणीसे अनर्थ प्रकट हुआ है वही अपने अनर्थको दूर करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम् ।

येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ॥ ४ ॥

इदम् । यत् । परमेऽस्थिनम् । मनः । वाम् । ब्रह्मऽसंशितम् ।

येन । एव । ससृजे । घोरम् । तेन । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ॥४

परमेष्ठिनम् परमे उत्कृष्टे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी । तेन सृष्टम् "तदसदेव सन्मनोकुरुत स्याम् इति" [तै० ब्रा० २. २. ६. १] इति सृष्ट्यादौ मनःसृष्टिरुक्ता । ❀आदिष्टद्व्यभावश्छान्दसः❀ । ब्रह्मसंशितम् ब्रह्मणा सृज्यविषये तीक्ष्णीकृतम् इदं सर्वजगन्मूलकारणं यत् मनः विद्यते येनैव मनसा घोरं कर्म ससृजे तेनैव मनसा नः अस्मदर्थं मनःसृष्टस्य घोरकर्मणः शान्तिरस्तु ॥

जो परमेष्ठीका रचा हुआ, मन्त्रोंके लिये तीक्ष्ण किया हुआ इस सब जगत्का मूल—कारण मन है, कि—जिससे घोर कर्मकी सृष्टि हुई है उस ही मनके द्वारा हमारे लिये रचे हुए घोरकर्मकी शान्ति हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि ।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः ॥ ५ ॥

इमानि । यानि । पञ्च । इन्द्रियाणि । मनःऽषष्ठानि । मे । हृदि । ब्रह्मणा । सम्ऽशितानि ।
यैः । एव । ससृजे । घोरम् । तैः । एव । शान्तिः । अस्तु । नः ५

मनः षष्ठं येषां तानि । पूर्वमन्त्रे मनसः पृथगुक्तावपि चक्षुरादिसर्वेन्द्रियाणां स्वस्वविषयज्ञाने मनःसाहाय्यस्य अवश्यम् अपेक्षणीयत्वाद् अत्रापि मनस उपादानम् । मनःसहितानि इमानि यानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मे हृदि हृदयप्रदेशे वर्तन्ते । हृदयं हि आत्मनिवासस्थानम् । सुषुप्तिकाले स्वस्वकारणरहितानि सर्वेन्द्रि-

याणि आत्मनि लीयन्त इति हृदीत्युक्तम् । इन्द्रियाणि विशिनष्टि। ब्रह्मणा चेतनेन आत्मना नियन्त्रा संशितानि स्वस्वविषयेषु व्यापारितानि । विषयप्रवणत्वमेव संशितत्वम् । यैरेव इन्द्रियैः घोरं पापावहं कर्म ससृजे सृष्टं तैरेव इंद्रियैः सृष्टस्य घोरकर्मणो नः अस्मदर्थं शान्तिः शमनम् अस्तु ॥

[यद्यपि पहिले मन्त्र में मनका वर्णन कर दिया है, तथापि चक्षु आदि सब इन्द्रियों को अपने२ विषयके ज्ञानमें मनकी सहायताकी अवश्य ही आवश्यकता होती है, अत एव इस मन्त्रमें भी मनका उल्लेख किया है, कि—] चेतन आत्माके द्वारा अपने २ व्यापारमें प्रवृत्त रहने वाली मन सहित जो पाँचों ज्ञानेन्द्रियें मेरे हृदयमें † रहती हैं ऐसी जिन इंद्रियोंसे मैंने घोर कर्म किया था उन ही इंद्रियोंके द्वारा रचे हुए घोर कर्मकी हमारे लिये शान्ति हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः॒ शं विष्णुः॒ शं प्र॒जाप॑तिः ।

शं न॒ इन्द्रो॒ बृह॒स्पति॒ शं नो॑ भव॒त्वर्य॒मा ॥ ६ ॥

शम् । नः॒ । मि॒त्रः । शम् । वरु॑णः । शम् । विष्णुः । शम् । प्र॒जाऽप॒तिः ।

शम् । न॒ः । इन्द्रः । बृ॒हस्पतिः । शम् । नः॒ । भ॒व॒तु । अ॒र्य॒मा ६

मित्रः सूर्यः अहरभिमानी । वरुणः रात्र्यभिमानी । विष्णुः व्यापको देवः । प्रजापतिः प्रकर्षेण जायमाना देवतिर्यङ्मनुष्यादयः प्रजाः तासां पतिः पालकः । इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नः । बृहस्पतिः

---

† हृदय ही आत्माके निवासका स्थान है । सुषुप्तिके समय अपने २ कारणसे रहित सब इंद्रियें आत्मामें लीन होजाती हैं अत एव यहाँ हृदयमें रहनेका वर्णन है ।

बृहतां देवानां पति हितकारित्वेन पालकः । अर्यमा । ❀ अर्तेर्धातोः अर्यमन्शब्दो निपातितः ❀ । मित्रादयः अर्यमान्ता सर्वे देवा नः अस्माकं शम् शान्त्यै भवन्तु । वाक्यभेदात् शम् इति पदस्य प्रतिवाक्यं प्रयोगः ॥

दिनके अभिमानी मित्र अर्थात् सूर्यदेवता, रात्रिके अभिमानी-वरुण, व्यापक विष्णुदेव, प्रकृष्टतासे होने वाली देव तिर्यक् और मनुष्यरूप प्रजाके पालक प्रजापति, परमैश्वर्यसम्पन्न इंद्रदेव, बृहस्पति तथा अर्यमा ये सब देवता हमें शान्ति प्रदान करें ६

सप्तमी ॥

शं नो॑ मि॒त्रः शं वरु॑णः शं वि॒वस्वां॒छमन्त॑कः ।
उ॒त्पा॒ताः पार्थि॑वान्तरि॒क्षाः शं नो॑ दि॒विच॑रा ग्र॒हाः ७

शम् । नः॒ । मि॒त्रः । शम् । वरु॑णः । शम् । वि॒वस्वा॑न् । शम् । अन्त॑कः ।

उ॒त्ऽपा॒ताः । पार्थि॑वाः । आ॒न्तरि॑क्षाः । शम् । नः॒ । दि॒वि॒ऽच॒राः । ग्र॒हाः ॥ ७ ॥

मित्रवरुणौ व्याख्यातौ । विवस्वान् विवासयति अपगमयति तम इति विवस्वान् । ❀ विपूर्वाद्वसेर्वसुः । यद्वा धनस्य नाम विव इति । तद् अस्यास्तीति मतुप् । "मादुपधायाः०" इति वत्वम् ❀ । अन्तकः सर्वेषां प्राणिनाम् अन्तम् अवसानं करोतीति अन्तकः । ❀ अन्तोपपदात् करोतेः "डोन्यत्रापि दृश्यते" इति डः ❀ । पार्थिवाः पृथिव्यां भवाः आंतरिक्षाः अंतरिक्षे मध्यमलोके भवा उत्पाताः । शं भवन्तु इति शेषः दिविचराः दिवि द्युलोके चराः संचरंतो ग्रहाः कालचक्रवशात् परिभ्राम्यन्तः

अङ्गारकाद्याः । मित्रादयः सर्वेपि नः अस्माकं शम् दोष शमकाः सुखकरा भवंतु ॥

मित्र देवता हमारा कल्याण करें, वरुण देवता हमारा कल्याण करें, अंधकारको दूर करने वाले विवस्वान् देवता हमारा कल्याण करें, सब प्राणियोंका अवसान करने वाले अन्तकदेव हमें सुख दें। पृथिवीमें होने वाले और मध्यमलोक अन्तरिक्षमें होने वाले उत्पात अपने दोषको दूर करना रूप शान्तिको प्रदान करें। द्युलोकमें विचरण करने वाले अंगारक–मंगल आदि ग्रह हमारे दोषको शान्त कर हमें सुखप्रद होवें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत् ।
शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्यतीः ॥ ८ ॥

शम् । नः । भूमिः । वेप्यमाना । शम् । उल्का । निःऽहतम् । च । यत् ।

शम् । गावः । लोहितऽक्षीराः । शम् । भूमिः । अव । तीर्यतीः ॥ ८

पार्थिवान् आन्तरिक्षांश्च उत्पातान् आह । वेप्यमाना कम्पमाना । ❀ व्यत्ययेन कर्तरि श्यन् प्रत्ययः ❀ । यद्वा प्राणिसंहारककालेन वेप्यमाना कम्प्यमाना । ❀ कर्मणि "सार्वधातुके यक्" इति यक् प्रत्ययः ❀ । सा भूमिः नः अस्माकं शम् शान्त्यै कम्पदोषपरिहाराय भवतु । तथा उल्कानिहतम् उल्काभिः आयतज्वालारूपेण पतन्तीभिर्बाधितं दग्धं यद्द विद्यते तच्च शम् अस्तु । लोहितक्षीराः लोहितमेव क्षीरं यासां ताः लोहितदोग्ध्र्यो गावश्च शम् दोषनिहारिका भवन्तु । अवदीर्यती अवदीर्यमाणा । ❀ द

निदारणे । "ऋृत इद्धातोः" इति इत्वम् । "हलि च" इति दीर्घः । व्यत्ययेन लटः शत्रादेशः ॐ । अवदीर्यमाणा द्विधा भवन्ती भूमिश्च शं भवतु । भूमिः कम्पनविदरणदोषजनितम् अनर्थं शमयतु । अन्तरिक्षम् उल्काभिहननजनितं दुरितं गावो लोहितदोहनजं शमयन्तु इति ॥

[अब पार्थिव और आन्तरिक्ष उत्पातोंका वर्णन करते हैं, कि—] भूमिकम्पके समय काँपती हुई वा प्राणिसंहारके समय कँपाई जाती हुई भूमि हमारे लिये शान्तिप्रद हो अर्थात् कम्पके दोषको दूर करने वाली हो, और लम्बे ज्वालारूपसे गिरती हुई उल्काओंसे बाधित जो स्थान है वह भी सुखप्रद हो और क्षीरके स्थानमें रक्त देने वाली गौएँ भी हमारे लिये सुखप्रद हों, दो टूक होती हुई पृथिवी भी कल्याणमयी हो अर्थात् कम्पन और विदरणके दोषसे होने वाले अनर्थको शान्त करे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः ।

शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥ ९ ॥

नक्षत्रम् । उल्का । अभिऽहतम् । शम् । अस्तु । नः । शम् । नः । अभिऽचाराः । शम् । ऊं इति । सन्तु । कृत्याः ।

शम् । नः । निऽखाताः । वल्गाः । शम् । उल्काः । देशोपऽसर्गाः । शम् । ऊं इति । नः । भवन्तु ॥ ९ ॥

उल्काभिहतम् समन्ताद् आकाशात् पतन्तीभिरायतज्वालाभिरुपसृतं नक्षत्रम्। अभिचाराः मारणार्थं शत्रुभिः क्रियमाणानि कर्माणि। ❀ अभिपूर्वाच्चरतेः "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति कर्मणि घञ् प्रत्ययः ❀। उशब्दः अप्यर्थे। कृत्याः अभिचारकर्मभिरुत्पादिताः पिशाच्यः। अभिचारकर्माणि जडत्वात् स्वयमेव शत्रुसमीपम् आगत्य न निघ्नन्ति किं तु हिंसिकाः पिशाचीरुत्पादयन्ति। तेभिचारास्ताः पिशाच्यश्च शम् उपद्रवशमनाय भवन्तु। ❀ "कृञः श च" इति स्त्रियां करोतेः क्यप् प्रत्ययः। "ह्रस्वस्य पिति०" इति तुक् ❀। तथा निखाताः भूमावप्रकाशं निगूहिता वलगाः। वलगाः पीडार्थं भूमेरधो बाहुप्रदेशे निखन्यमाना अस्थिकेशादिवेष्टिता त्रिपवृक्षादिनिर्मिताः पुत्तल्यो वलगा इत्युच्यन्ते। तथा च तैत्तिरीयके "रक्षोहणो वलगहनः" इत्यत्र समाम्नायते। "असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन्। तान् बाहुमात्रेन्ववविन्दन्। तस्माद् बाहुमात्राः खायन्ते" इति [तै० स० ६. २. ११. १]। तेपि वलगा नः अस्माकं शम् भवन्तु। उल्काः आकाशान्निष्पतन्त्य आयतज्वालाः। उल्कादर्शनम् अनर्थकारि। उल्काः स्वदर्शनजनितं दुरितं शमयन्तु। देशोपसर्गाः देशे जनपदे उपसर्गा ईतिबाधाः। उशब्दश्चार्थे। तेपि शम् शान्ता भवन्तु॥

आकाशसे गिरती हुई उल्काओंसे ताड़ित नक्षत्र हमारे लिये शान्तिप्रद हों, शत्रुओंके द्वारा किये हुए अभिचार अर्थात् मारण कर्म हमें सुख देने वाले हों, कृत्या अर्थात् अभिचार कर्मोंसे उत्पादित पिशाचनियें भी हमारे उपद्रवको शान्त करनेवाली होवें। भूमिको हाथ भर खोद कर, अस्थि केश आदि लपेट कर त्रिपवृक्ष आदिकी बनाई हुई पुतलियें (वलग) हमारे लिये शान्ति-

प्रद हों † और उल्का अपने दर्शनसे प्राप्त होने वाले दुरितको शान्त करें। देशकी बाधायें भी शान्त होजावें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

शं नो ग्रहांश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥१०॥

शम्। नः। ग्रहाः। चान्द्रमसाः। शम्। आदित्यः। च। राहुणा।
शम्। नः। मृत्युः। धूमऽकेतुः। शम्। रुद्राः। तिग्मऽतेजसः॥१०

चान्द्रमसाः चन्द्रमसः संबन्धिनश्चन्द्रमण्डलस्य भेदकाः संघर्षका ये अङ्गारकाद्या ग्रहाः सन्ति ते नः शं भवन्तु। राहुणा ग्रहेण ग्रस्त आदित्यश्च शम् शान्त्यै भवतु। आदित्यस्य अतितेजस्वित्वेन इतरग्रहैरुपसर्गाभावाद् राहुणेति विशेषितम्। तथा मृत्युः मारको धूमकेतुः उत्पातः। धूमकेतोरनिष्टकारित्वं कौशिकेन सूत्रितम्। "अथ यत्रैतद् धूमकेतुः सप्तऋषीन् उपधूपयति तद् अयोगक्षेमाशङ्कम् इत्युक्तम्" [इति कौ० १३. ३५.]। स धूमकेतुः शम् दोषनिर्घाताय भवतु। तिग्मतेजसः तीक्ष्णतेजसो रुद्राः रोदका एतत्संज्ञका देवाश्च स्वतेजःसंतापकम् उपद्रवं परिहरन्तु ॥

चन्द्रमण्डलके संघर्षक जो मङ्गल आदि ग्रह हैं, वे हमें शांति देने वाले होवें, राहुसे ग्रस्त आदित्य भी अपने दोषको हटाता

† तैत्तिरीयसंहिता ६। २। ११। १ में कहा है, कि—"असुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन्। तान् बाहुमात्रेऽन्वविन्दन्। तस्माद् बाहुमात्राः खायन्ते।—असुरोंने निकलते समय देवताओंके प्राणों पर वलगोंको गाढ़ा, देवताओंने उनको हाथ भर पर पाया, इस लिये ये हाथ भर नीचे गाढ़े जाते है" [तैत्तिरीयसंहिता ६। २। ११। १] ॥

हुआ अत एव हमको शांति प्रदान करने वाला हो। मारक धूमकेतुका उत्पात भी हमारे लिये शांतिप्रद हो [धूमकेतुका अनिष्टकारकत्व कौशिकने १३ । ३५ में कहा है, कि-"अथ यत्रैतद्द धूमकेतुः सप्त ऋषीन् उपधूपयति तद्द अयोगक्षेमाशंकम् ।-जहाँ यह धूमकेतु सप्त ऋषियोंको उपधूपित करता है वह अयोग क्षेम करने वाला है"] तीक्ष्णतेज वाले रोदक रुद्र देव भी अपने सन्तापक उपद्रवको शांत करें ॥ १० ॥

एकादशी ॥

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः ।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः ॥११॥

शम् । रुद्राः । शम् । वसवः । शम् । आदित्याः । शम् । अग्नयः ।
शम् । नः । महऽऋषयः । देवाः । शम् । देवाः । शम् । बृहस्पतिः ११

रुद्राः एकादश । वसवः अष्टौ । आदित्याः द्वादश । अग्नयः वैतानिकास्त्रयः सभ्यावसथ्याभ्यां सह पञ्च वा । एकः स्मार्तो वाग्निः । महर्षयः सप्त । देवाः द्योतमानास्तेजोरूपाः महर्षिविशेषणम् एतत् । देवाः इन्द्रादयः । बृहस्पतिः तेषां पुरोधाः । एते रुद्रादयः नः शम् शान्त्यै भवन्तु ॥

ग्यारह रुद्र हमारे लिये कल्याण देने वाले हों, आठ आदित्य हमें शांति प्रदान करें, बारह आदित्य हमें सुख देवें । वैतानिक तीन वा सभ्य और आवसथ्य सहित पाँच और एक स्मार्त इस प्रकार सब अग्नियें हमको सुख देवें, सात महर्षि, इंद्र आदि देवता और उनके पुरोहित हमें शांति प्रदान करें ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोऽग्नयः ।

तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु ।
विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु

ब्रह्म । प्रजाऽपतिः । धाता । लोकाः । वेदाः । सप्तऽऋषयः । अग्नयः ।
तैः । मे । कृतम् । स्वस्त्ययनम् । इन्द्रः । मे । शर्म । यच्छतु ।
ब्रह्मा । मे । शर्म । यच्छतु ।
विश्वे । मे । देवाः । शर्म । यच्छन्तु । सर्वे । मे । देवाः । शर्म । यच्छन्तु ॥ १२ ॥

ब्रह्म । ❀ बृहतेर्मनिन् प्रत्ययः ❀ । देशकालानवच्छिन्नं सच्चिदानन्दलक्षणं परं ब्रह्म । प्रजापतिः प्रजानां पालकः सर्वनियन्ता सर्वान्तर्यामी । धाता सर्वस्य धाता चतुर्मुखो ब्रह्मा । वेदाः साङ्गाश्चत्वारः । लोकाः सप्तसंख्याकाः । सप्तर्षयः प्रसिद्धाः । अग्नयः व्याख्याताः । तैः सर्वैः मे मम स्वस्त्ययनम् । स्वस्तीति अविनाशिनाम । तस्य अयनं प्राप्तिः कृतम् स्वस्त्ययनं क्षेमप्रापणं कृतम् । ❀ "आशंसायां भूतवच्च" इति भूतवत्प्रत्ययः ❀ । इन्द्रो मे शर्म सुखं यच्छतु प्रयच्छतु । ❀ दाण् दाने । "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ ॥ एवं ब्रह्मा मे इत्याद्यास्त्रयः पर्याया व्याख्येयाः

देशकालसे अनवच्छिन्न सच्चिदानंदलक्षण परब्रह्म, प्रजाओंके पालक सर्वनियंता सर्वांतर्यामी प्रजापति, सबके धाता चतुर्मुख ब्रह्मा, अंगों सहित चारों वेद, सात लोक, सप्त ऋषि, अग्नियें, इन सबसे मुझको क्षेमकी प्राप्ति हो, इंद्रदेवता मुझको सुख देवें । ब्रह्मा मुझको कल्याण देवें, विश्वेदेवता मुझको कल्याण प्रदान करें, सकल देवता मुझको सुख प्रदान करें १२

त्रयोदशी ॥

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः ।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु १३

यानि । कानि । चित् । शान्तानि । लोके । सप्तऽऋषयः । विदुः । सर्वाणि । शम् । भवन्तु । मे । शम् । मे । अस्तु । अभयम् । मे । अस्तु ॥ १३ ॥

उक्तानुक्तानि शान्तिकारणानि संगृह्य आह । सप्तर्षयः अतीन्द्रियार्थद्रष्टारो लोके सर्वेषु लोकेषु यानि कानि चिद् वस्तूनि शांतानि शान्तिकारणानि विदुः जानन्ति तानि सर्वाणि मे शं भवन्तु ॥ एतत्सूक्तप्रतिपाद्यस्यार्थस्य संग्रहेण वचनम् शं मे अस्त्वभयं मे अस्त्विति । "शान्ता द्यौः" इत्यादिना द्यु लोकादयः शान्ता भवन्तु इति यद् उक्तं तस्यायम् अर्थः । मे शम् अस्तु सर्वतः सुखम् । अभयम् भयराहित्यं चास्त्विति ॥

[उक्त और अनुक्त शांतिके सकल कारणोंका संग्रह करके कहते हैं, कि—] अतीन्द्रियार्थदर्शी ऋषि लोकमें शांतिकी जितनी वस्तुओंको जानते हैं, वे सब मेरे लिये सुखप्रद हों, मुझे सर्वत्र सब ओरसे सुख प्राप्त हों, अभय प्राप्त हो ॥ १३ ॥

चतुर्दशी ॥

अनृगात्मकश्चतुर्दशो मन्त्र एवम् आम्नायते ॥

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः ।

ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥ १४ ॥

पृथिवी । शान्तिः । अन्तरिक्षम् । शान्तिः । द्यौः । शान्तिः । आपः । शान्तिः । ओषधयः । शान्तिः । वनस्पतयः । शान्तिः । विश्वे । मे । देवाः । शान्तिः । सर्वे । मे । देवाः । शान्तिः । शान्तिः । शान्तिः । शान्तिऽभिः ।

ताभिः । शान्तिऽभिः । सर्व । शान्तिऽभिः । शम् । अयामः । अहम् । यत् । इह । घोरम् । यत् । इह । क्रूरम् । यत् । इह । पापम् । तत् । शान्तम् । तत् । शिवम् । सर्वम् । एव । शम् । अस्तु । नः ॥ १४ ॥

पृथिव्यादयः शान्तिरूपा भवन्तु । शान्तिभिः उक्ताभिः पृथिव्यादिशान्तिभिः शान्तिः निरुपपदा सर्वसाधारणभूता शान्तिरपि शान्तिर्भवतु इत्याशास्यते। शान्तेरपि शान्तित्वं तैत्तिरीयके समाम्नायते। "शान्तिरेव शान्तिर्मे अस्तु शान्तिरिति" [तै० आ० ४. ४२. ५] । ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः । अहम् । ❀ "सुपां सुलुक्" इति जसः सुः ❀ । वयं शमयामः अपगमयामः । किं तद् इति तद् आह । इह अस्मिन् कर्मणि यद् घोरम् भयंकरं विपरीतानुष्ठानेन विपरीतफलप्रापकं यद् अस्ति । एतस्यैव विवरणम् यद् इह क्रूरं यद् इह पापम् इति । अथ वा त्रिर्वचनेन दोषशमयितृत्वं निश्चितं भवतीति यद् इह घोरम् इत्यादि

त्रिर्वचनम्। एवं तच्छान्तं तच्छिवम् इति शान्तिशिवशंशब्दैस्त्रिर्वचनम् । यथा कर्मान्तरेषु "अदीक्षिष्टायं ब्राह्मणः" [तै० सं० ६. १. ४. ३] इत्यादिषु आवेदनरूपेषु त्रिरुपांशुवचनम् त्रिरुच्चैर्वचनम् एवम् अत्रापि । सर्वथा घोरं कर्म शमयामः । तच्च सर्वथा शान्तं भवत्वित्यर्थः ॥

इति एकोनविंशे काण्डे प्रथमेनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

प्रथमोनुवाकः समाप्तः ॥

पृथिवी हमको शांति देवे, अंतरिक्ष हमको शांति देवे, द्यौ हमको शांति देवें, जल हमको शांति देवें, औषधियें हमको शांति देवें, वनस्पतियें हमको शांति देवें, विश्वेदेवता हमारे लिये शांतिरूप हों, सब देवता मुझको शांति देवें, इन सब शांतियोंसे अतिरिक्त शांति भी मुझको प्राप्त हो । इन सब शांतियोंके द्वारा हम, जो इस कर्ममें विपरीत अनुष्ठानसे भयङ्कर फल प्राप्त होने वाला है उस भयंकर फलको, क्रूर फलको और पापमय फलको दूर करते हैं । वह शांत हो वह कल्याणप्रद हो, वह सब हमारे लिये मङ्गल करने वाला हो ॥ १४ ॥

उन्नीसवें काण्डके प्रथम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (५५३)

प्रथम अनुवाक समाप्त

द्वितीयेनुवाके एकादश सूक्तानि । तत्र "शं न इन्द्राग्नी" इति प्रथमसूक्तत्रयस्य अहरहः पुरोहितेन कर्तव्ये राज्ञः शय्यागृहप्रवेशनकर्मणि शांत्यर्थजपे विनियोगः । "अथातो रात्रीसूक्तानां विधिम् अनुक्रमिष्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "शान्ता द्यौरिति जपित्वा राजानं वासगृहं नयेत्" इति [प० ४. ५] ॥ अत्र शान्ता द्यौरित्येकेन शान्त्यर्थप्रतिपादकं समनन्तरम् इदं सूक्तद्वयं गृह्यते । यत्रैकेन प्रतीकेन समानार्थं समानदेवत्यं समानार्षं वा समनन्तरं सूक्तं गृह्यते तद्द्व्यर्थसूक्तम् इति अथर्वणां परिभाषणात् ॥

तथा अनेन सूक्तत्रयेण "शान्ता द्यौः" इति पूर्वेण च तुलापुरुषमहादाने आज्यहोमं कुर्यात् । "अथातस्तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "प्राक्तन्त्रम् आज्यभागान्तं कृत्वा महाव्याहृतिसावित्रीशान्तिब्रह्मजज्ञानम् इति हुत्वा" इति [प० ११. १] । अत्र शान्तिपदेन शान्त्यर्थप्रतिपादकम् इदं सूक्तत्रयं पूर्वं च गृह्यते ॥

अस्य सूक्तत्रयस्य शान्तिप्रतिपादकत्वेन शान्तिगणे पाठाद् "आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" [न० क० १८] इत्यादिषु विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

द्वितीय अनुवाकमें ग्यारह सूक्त हैं। इनमेंसे "शं न इंद्राग्नी" आदि तीन सूक्तोंका प्रतिदिन पुरोहितके द्वारा किये जाने योग्य राजाके शय्यागृहप्रवेशन कर्मके शांत्यर्थजपमें विनियोग है । "अथातो रात्रीसूक्तानां विधिं अनुक्रमिष्यामः ।–अब रात्रिसूक्तों की विधिको कहते हैं" कह कर अथर्व परिशिष्टमें कहा है, कि- "शांता द्यौरिति जपित्वा राजानं वासगृहं नयेत् ।–शांता द्यौको जप कर राजाको वासगृहमें लेजावे" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ५) यहाँ शांता द्यौः इस एकसे शांतिके अर्थके प्रतिपादक पासके ही ये दोनों सूक्त भी लिये जाते हैं । क्योंकि—अथर्ववेदियोंकी यह परिभाषा है, कि-"जहाँ एक प्रतीकसे समान अर्थवाला, समान देवता वाला वा समान ऋषिवाला पासका सूक्त ग्रहण किया जाता है वह अर्थसूक्त कहलाता है" ।

तथा इन तीनों सूक्तोंसे तथा "शांताः द्यौ" इस पहिले सूक्तसे भी तुलापुरुषमहादानमें घृतहोम करे । अथर्वपरिशिष्टमें "अथातः तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः" का आरम्भ करके कहा है, कि-"प्राक् तंत्रं आज्यभागान्तं कृत्वा महाव्याहृतिसावित्रीशांतिब्रह्मजज्ञानं इति हुत्वा" (अथर्वपरिशिष्ट ११ । १) यहाँ शांति-

पदसे शांत्यर्थप्रतिपादक ये तीनों सूक्त और पहिला सूक्त भी ग्रहण किया जाता है।

ये तीनों सूक्त शांतिके प्रतिपादक हैं अत एव इनका शांतिगणमें पाठ है और शांतिगणमें पाठ होनेसे "आयुष्यः शांतिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्।–आयुष्यगण, शांतिगण और स्वस्तिगण ऐरावती महाशांतिमें आता है" (नक्षत्रकल्प १८) इत्यादि में इसका विनियोग करना चाहिये।

तत्र प्रथमा ॥

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ ॥ १ ॥

शम् । नः । इन्द्राग्नी इति । भवताम् । अवःऽभिः । शम् । नः । इन्द्रावरुणा । रातऽहव्या ।

शम् । इन्द्रासोमा । सुविताय । शम् । योः । शम् । नः । इन्द्रापूषणा । वाजऽसातौ ॥ १ ॥

हे इन्द्राग्नी युवाम् अवोभिः रक्षाभिः नः अस्माकम् अस्मभ्यं वा शम् शान्त्यै सकलदुःखनिवारणाय भवताम् । ❀ इन्द्राग्नी इत्यत्र "आमन्त्रितस्य च" इति-आष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् ❀। रातहव्यारातहव्यौ यजमानैर्दत्तहविष्कौ इन्द्रावरुणा इन्द्रावरुणौ । ❀ "देवताद्वन्द्वे च" इति आनङ् उभयपदप्रकृतिस्वरत्वं च ❀। शं नः भवताम् इत्यनुषङ्गः। इन्द्रसोमा इन्द्रासोमौ सुविताय। सुखनामैतत्। सुष्ठु प्राप्तव्याय। ❀ सुपूर्वाद् एतेः कर्मणि क्तः। तन्वादित्वाद् उवङ् आदेशः❀। सुखाय शं भवताम्।

❀शं योः इति पदयोरर्थो यास्केनोक्तः। शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम् इति [नि०४.२१.]। शमु उपशमे। यु मिश्रणामिश्रणयोः। उभयत्र "अन्येभ्योपि दृश्यन्ते" इति विच् प्रत्ययः ❀। शमनाय यावनाय च। केचिद्धु एवं व्याचक्षिरे। "शम् आत्महेतुकं सुखम् योः विषययोगनिमित्तं सुखम्" इति। इन्द्रापूषणा इन्द्रापूषणौ। ❀"वा षपूर्वस्य निगमे" इति पूषन्शब्दस्य दीर्घाभावः ❀। वाजसातौ। युद्धनामैतत्। वाजो वेगः वेगेन सातिः अवसानं विनाशो योद्धॄणां भवति यत्रेति वाजसातिः युद्धं तत्र। अथ वा वाजः अन्नं तल्लाभार्थम्। ❀ विषयसप्तमी ❀। शं नो भवताम्। ❀ षो अन्तकर्मणि। "स्त्रियां क्तिन्"। "ऊतियूति०" इत्यादिना निपातनाद्धु आत्वं द्रष्टव्यम्। अथ वा षण संभक्तौ। अस्मात् क्तिनि "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀ ॥

हे इंद्र और अग्नि देवताओं ! तुम अपने रक्षाकारक विचारों के साथ हमारे सकल दुःखोंको हटाओ. यजमानके द्वारा हवि पाने पर इंद्र और वरुण देवता भी हमारा कल्याण करें, इंद्र और सोम देवता सरलतासे मिलने वाले सुखको देनेके लिये उद्यत हों, इंद्र और पूषा देवता जिसमें शीघ्रतासे वीरोंका अवसान होता है उस वाजसाति युद्धमें हमारे रोगोंका दमन करने वाले और भयोंको दूर करने वाले होवें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं नो॒ भग॒ः शमु॑ नः॒ शंसो॑ अस्तु॒ शं नः॒ पुरं॑धि॒ः शमु॑ सन्तु॒ रायः॑ ।

शं नः॑ स॒त्यस्य॑ सु॒यम॑स्य॒ शंस॒ः शं नो॑ अर्य॒मा पु॑रुजा॒तो अ॑स्तु ॥ २ ॥

शम् । नः । भगः । शम् । ऊं इति । नः । शंसः । अस्तु । शम् । नः । पुरम्ऽधिः । शम् । ऊं इति । सन्तु । रायः ।
शम् । नः । सत्यस्य । सुऽयमस्य । शंसः । शम् । नः । अर्यमा । पुरुऽजातः । अस्तु ॥ २ ॥

भगः भजनीयो देवः । ❀ "पुंसि संज्ञायाम्०" इति भजतेर्घप्रत्ययः ❀ । नः अस्माकं शम् अस्तु । शंसः सत्रैं स्तूयमानः । एकदेशेन व्यपदेशः । नराशंसो नाम देवः । उशब्दः अवधारणे । शम् एव नः अस्तु । पुरंधिः पूर्णा धीयते निधीयते संचार्यत इति पुरंधिर्बुद्धिः शं नः अस्तु । रायः धनानि सुखायैव सन्तु । सुयमस्य सुष्ठु यन्तव्यस्य शोभनयमयुक्तस्य वा । "अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" इति [पा० सू० २. ३०] यमस्वरूपं पातञ्जले विहितम् । तादृशस्य सत्यस्य शंसः वचनं नः अस्माकं सुखाय भवतु । पुरुजातः बहुप्रादुर्भावः अर्यमा देवः शं नोस्तु ॥

भग देवता हमारे लिये कल्याणकारक होवें, सबसे स्तुति पानेके पात्र नराशंस नामक देवता हमारे लिये कल्याणप्रद ही होवें । बुद्धि हमारा मङ्गल करे, धन हमारे मङ्गलके लिये ही होवें 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।—अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और दान न लेना ये यम कहलाते हैं" इस पातञ्जलसूत्र २ । ३ के अनुसार शोभन यमसम्पन्न सत्यवचन हमको सुख देने वाला होवे, अनेक वार प्रकट होने वाले अर्यमा देवता हमारे लिये मङ्गलप्रद होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः ।

शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुह-
वानि सन्तु ॥ ३ ॥

शम् । नः । धाता । शम् । ऊं इति । धर्ता । नः । अस्तु । शम् ।
नः । उरूची । भवतु । स्वधाभिः ।

शम् । रोदसी इति । बृहती इति । शम् । नः । अद्रिः। शम् ।
नः । देवानाम् । सुऽहवानि । सन्तु ॥ ३ ॥

धाता विधाता सर्वस्य देवः नः अस्माकं शम् अस्तु । धर्ता विधारयिता पुण्यपापानाम् वरुणः शम् एव नः अस्तु । उरूची विस्तीर्णगमना विवर्तगमना वा पृथिवी कथ्यते। स्वधाभिः अन्नैः सह नः अस्माकं शं भवतु । बृहती बृहत्यौ रोदसी द्यावापृथिव्यौ शं भवताम् । अद्रिःपर्वतः शं नो भवतु। नः अस्मदीयानि देवानां सुहवानि सुष्टुतयः शं सन्तु ॥

विधाता देवता हमारा मङ्गल करें, पुण्य और पापका फल देने वाले वरुण देवता हमारा मङ्गल करें, विस्तीर्ण गमन वाली पृथिवी अन्नों सहित हमारे लिये मङ्गलप्रद हो, विशाल द्यावा-पृथिवी हमारा कल्याण करें, पर्वत हमारे लिये कल्याणप्रद हो, हमारे देवताओंके स्तोत्र हमारा कल्याण करने वाले होवें ॥३॥

चतुर्थी ॥

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणा-
वश्विना शम् ।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु
वातः ॥ ४ ॥

शम् । नः । अग्निः । ज्योतिःऽअनीकः । अस्तु । शम् । नः ।
मित्रावरुणौ । अश्विना । शम् ।
शम् । नः । सुऽकृताम् । सुऽकृतानि । सन्तु । शम् । नः । इषिरः ।
अभि । वातु । वातः ॥ ४ ॥

ज्योतिरनीकः ज्योतींषि अनीके मुखे यस्य स तादृशोऽग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः नः अस्माकं शम् अस्तु । मित्रावरुणौ नः शं भवताम् । अश्विना अश्विनौ शं स्ताम् । सुकृतां पुण्यकर्मणाम् ❀ "सुकर्मपाप०" इति क्विप् प्रत्ययः ❀ । सुकृतानि सुष्ठु कृतानि पुण्यानि नः शं सन्तु । इषिरः गमनशीलो वातः वायुः शम् शान्त्यर्थं नः अभि वातु अस्मान् अभिलक्ष्य प्रवातु ॥

जिनके मुखमें ज्योति होती है ऐसे ज्योतिरनीक अग्निदेव हमारा मङ्गल करें । मित्र वरुण और अश्विनीकुमार हमारा कल्याण करें । पुण्यात्माओंके पुण्यकर्म भी हमारे लिये मङ्गलप्रद होवें, और गमनशील वायु भी हमको शांति देनेके लिये प्रवाहित होवे ४

पञ्चमी ॥

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु ।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥

शम् । नः । द्यावापृथिवी इति । पूर्वऽहूतौ । शम् । अन्तरिक्षम् ।
दृशये । नः । अस्तु ।

शम् । नः । ओषधीः । वनिनः । भवन्तु । शम् । नः । रजसः ।
पतिः । अस्तु । जिष्णुः ॥ ५ ॥

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ पूर्वहूतौ देवानां प्रथमस्तोत्रार्थम् । यद्वा पूर्वे पूर्वं जाता देवा हूयन्ते इज्यन्ते आहूयन्ते वेति पूर्वहूतिर्यज्ञः तत्र शं नः स्ताम् । अन्तरिक्षम् मध्यमलोकः दृशये दर्शनाय शं नो अस्तु । ओषधीः ओषध्यः वनिनः वनरूपसमुदायिनो वृक्षाश्च शं नो भवन्तु । रजसः लोकस्य पतिः पालकः जिष्णुः जयशील इन्द्रः शं नोस्तु ॥

जिसमें प्रथम प्रकट हुए देवता बुलाये जाते हैं ऐसे पूर्वहूति यज्ञमें द्यावापृथिवी हमारा कल्याण करें, मध्यम लोक अन्तरिक्ष हमारी दृष्टिको सुखप्रद हो, औषधि और वृक्ष हमारा कल्याण करें, लोकपालक जयशील जिष्णु इन्द्र हमारा कल्याण करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥

शम् । नः । इन्द्रः । वसुऽभिः । देवः । अस्तु । शम् । आदित्येभिः ।
वरुणः । सुऽशंसः ।
शम् । नः । रुद्रः । रुद्रेभिः । जलाषः । शम् । नः । त्वष्टा । ग्नाभिः ।
इह । शृणोतु ॥ ६ ॥

इन्द्रो देवः वसुभिः एतत्संज्ञकैर्देवैः सार्धं नः अस्माकं शम् अस्तु । सुशंसः शोभनस्तुतिर्वरुणः आदित्येभिः आदित्यैः सार्धं

शं नोस्तु । जलाषः । सुखनामैतत् । जलाषः सुखं तद् अस्यास्तीति । ❀ अर्श आदित्वाद्द अच् प्रत्ययः ❀ । सुखकरो रुद्रो रुद्रेभिः रुद्रैः सार्धं शं नोस्तु । त्वष्टा सर्वप्राणिनां रूपाणि विकुर्वन् देवः ग्नाभिः देवपत्नीभिः सार्धं शं नोस्तु । इह अस्मिन् कर्मणि शृणोतु च । नः स्तोत्रम् इति शेषः ॥

वसुओंसहित इन्द्रदेवता हमारा कल्याण करने वाले बनें, सुन्दर स्तुति वाले वरुण आदित्योंसहित हमारे कल्याणके कार्यमें प्रवृत्त होवें, सुखप्रद रुद्र रुद्रोंके साथ हमारा कल्याण करें, देवपत्नियों सहित त्वष्टा देवता हमारा कल्याण करें और इस कर्ममें हमारे स्तोत्रको सुनें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः ।

शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्वः १ शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥

शम् । नः । सोमः । भवतु । ब्रह्म । शम् । नः । शम् । नः । ग्रावाणः । शम् । ऊं इति । सन्तु । यज्ञाः ।

शम् । नः । स्वरूणाम् । मितयः । भवन्तु । शम् । नः । प्रऽस्वः । शम् । ऊं इति । अस्तु । वेदिः ॥ ७ ॥

सोमः लतारूपः अभिषूयमाणः शं नोस्तु । ब्रह्म स्तोत्रशस्त्रात्मकं शं नोस्तु । ग्रावाणः अभिषवसाधनभूताः शं नः सन्तु । यज्ञाः सोमनिर्वर्त्याः क्रतवः शम् एव सन्तु । स्वरूणाम् । ❀ लुप्त-

मत्वर्थीयः ❀ । स्वरुमतां यूपानां मितयः उन्मानानि शं नो भवन्तु । प्रस्वः । प्रकर्षेण सूयमाना जायमाना ओषधयः चरुपुरोडाशसंपादिकाः शं नः सन्तु । ❀ प्रस्व इति । प्रपूर्वात् सूयतेः क्विप् । कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण अन्तोदात्तः । ततः परस्य जसः "उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोनुदात्तस्य" इति स्वरितत्वम् ❀ । उशब्दः अवधारणे । वेदिः शमेवास्तु । ❀ "मय उञो वो वा" इति उशब्दस्य वकारः ❀ ॥

लतारूप निचोड़ा जाता हुआ सोम हमारे लिये कल्याणप्रद हो, स्तोत्रशंसात्मक मन्त्र हमारे लिये मंगलप्रद हो, कूटनेके साधन पत्थर हमारा मंगल करें, सोमसे होने वाले यज्ञ हमारा कल्याण करें, यूपोंके उठाव हमारा कल्याण करें, अधिकतासे प्रादुर्भूत होने वाली ओषधियें हमारे लिये मंगलप्रद हों, वेदी हमारे कल्याणके लिये ही हो ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः । शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥

शम् । नः । सूर्यः । उरुऽचक्षाः । उत् । एतु । शम् । नः । भवन्तु । प्रऽदिशः । चतस्रः ।

शम् । नः । पर्वताः । ध्रुवयः । भवन्तु । शम् । नः । सिन्धवः । शम् । ऊं इति । सन्तु । आपः ॥ ८ ॥

उरुचक्षाः विस्तीर्णतेजाः उरुभिर्बहुभिर्दृश्यमानो वा ।

❀ "असनयोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति ल्यप्यादेशाभावः ❀। सूर्यो नः अस्माकं शम् शान्त्यर्थम् उदेतु ॥ चतस्रः प्रदिशः महादिशः शं नो भवन्तु ॥ ध्रुवयः ध्रुवाः। ❀ ध्रु स्थैर्ये । औणादिकः किप्रत्ययः । उवङ् आदेशः ❀। स्थिराः पर्वताः शं नो भवन्तु ॥ सिन्धवः स्यन्दमाना नद्यः नः शं सन्तु । शम् एव सन्तु आपः ॥

विस्तीर्ण तेज वाले सूर्यदेव हमारी शान्तिके लिये उदित हों, चारों महादिशाएँ हमारे कल्याणके लिये उद्यत रहें, स्थिर पर्वत हमको कल्याण प्रदान करें, नदियें और जल हमारा कल्याण करने वाले ही होवें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः ।

शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥

शम् । नः । अदितिः । भवतु । व्रतेभिः । शम् । नः । भवन्तु । मरुतः । सुऽअर्काः ।

शम् । नः । विष्णुः । शम् । ऊं इति । पूषा । नः । अस्तु । शम् । नः । भवित्रम् । शम् । ऊं इति । अस्तु । वायुः ॥ ९ ॥

अदितिः अखण्डनीया देवमाता व्रतेभिः व्रतैः कर्मभिः सार्धं नः अस्माकं शं भवतु । स्वर्काः । ❀ अर्कोर्चतेः स्तुतिकर्मणः इति यास्कः ❀। सुष्टुतयो मरुतः नः शं भवन्तु । शं नोस्तु विष्णुः । शम् एव पूषा नो अस्तु । भवित्रम् भुवनम् उदकम् अन्तरिक्षं वा

शं नोस्तु । ❀ "अर्तिलूधूसूखनसह०" इति विहित इत्रप्रत्ययो भवतेरपि व्यत्ययेन उत्पन्नः ❀। उशब्दः अवधारणे । वायुः शम् शान्त्यर्थमेवास्तु। ❀ "मय उञो वो वा" इति उञो वकारादेशः ❀॥

अखण्डनीया देवमाता अदिति अपने कर्मोंसे हमारा कल्याण करें, सुन्दर स्तुति पाने वाले मरुत्-देवता हमारा कल्याण करें, विष्णुदेव हमारे लिये मंगलप्रद हों, पूषा देवता हमारा कल्याण करें, जल और वायु हमें शान्ति ही प्रदान करें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

शं नो॑ दे॒व स॑वि॒ता त्राय॑माणः॒ शं नो॑ भवन्तू॒षसो॑ वि॒भा॑तीः ।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्य॒ः शं न॒ः क्षेत्र॑स्य॒ पति॑-र॒स्तु शं॒भुः॥ १० ॥

शम् । न॒ः । दे॒वः । स॒वि॒ता । त्राय॑माणः । शम् । न॒ः । भ॒व॒न्तु॒ । उ॒षसः॑ । वि॒ऽभा॒तीः ।
शम् । न॒ः । प॒र्जन्यः॑ । भ॒व॒तु॒ । प्र॒ऽजाभ्यः॑ । शम् । न॒ः । क्षेत्र॑स्य । पतिः॑ । अ॒स्तु॒ । शम्॒ऽभुः ॥ १० ॥

त्रायमाणः रक्षन् भयेभ्यः सविता सर्वस्य प्रेरको देवः नः शं भवतु । विभातीः विभात्यो व्युच्छन्त्यः । ❀ "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀। उषसः उषोभिमानिन्यो देवताः नः शं भवन्तु। पर्जन्यः वृष्टिप्रदो नः अस्माकं प्रजाभ्यः शं भवतु। शम्भुः सुखस्य भावयिता क्षेत्रस्य पतिः ।

रुद्रं क्षेत्रपतिं प्राहुः केचित् अग्निम् अथापरे ।
स्वतन्त्र एव वा कश्चिद् क्षेत्रस्य पतिरुच्यते ॥

एतत्संज्ञको देवः नः अस्माकं शम् शान्त्यै अस्तु भवतु । ❀ "विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्" इति विप्रसमुपपदाद् भवतेर्विहितो डुप्रत्ययः शम्पूर्वादपि व्यत्ययेन भवति ❀ ॥

इति द्वितीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

भयोंसे बचाने वाले सविता देवता हमारा मंगल करें, उषाकी अभिमानी देवता विभाती हमारा कल्याण करें, वृष्टिप्रद पर्जन्य देवता हमारी प्रजाओंके लिये कल्याणप्रद हों, सुखको देने वाले क्षेत्रपति † शम्भु हमारा कल्याण ही करें ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५५४)

"शं नः सत्यस्य" इति सूक्तस्य रात्रीकल्पादिषु शान्त्यर्थजपे पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"शं नः सत्यस्य" सूक्तका रात्रिकल्पके शान्त्यर्थजपमें विनियोग होता है यह बात पहिले सूक्तमें ही कह दी है ।

तत्र प्रथमा ॥

शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शमु सन्तु गावः ।
शं न ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु ॥ १ ॥

---

† "रुद्रं क्षेत्रपतिं प्राहुः केचिद्द अग्निं अथापरे ।
स्वतन्त्र एव वा कश्चित् क्षेत्रस्य पतिरुच्यते ॥
कोई रुद्रको क्षेत्रपति कहते हैं, कोई अग्निको क्षेत्रपति कहते हैं कोई कहते हैं क्षेत्रपति कोई स्वतन्त्र ही है ।"

शम् । नः । सत्यस्य । पतयः । भवन्तु । शम् । नः । अर्वन्तः ।

शम् । ऊं इति । सन्तु । गावः ।

शम् । नः । ऋभवः । सुऽकृतः । सुऽहस्ताः । शम् । नः । भवन्तु ।

पितरः । हवेषु ॥ १ ॥

सत्यस्य पतयः पालयितारः सत्यशीला देवाः नः अस्माकम् शम् शान्त्यै भवन्तु । अर्वन्तः अश्वाः शं नो भवन्तु । शम् एव सन्तु गावः धेनवः । सुकृतः सुकृतकर्माणः कर्मणैव देवत्वं प्राप्ताः सुहस्ताः शोभनहस्ताश्चमसतक्षणादिषु कुशलहस्ता ऋभवः एतत्संज्ञकाः कर्मदेवाः । तथा च दाशतय्याम् आर्भवसूक्ते समाम्नायते । "एकं वि चक्र चमसं चतुर्वयं निश्चर्मणो गाम् अरिणीत धीतिभिः" इति [ऋ० ४. ३६. ४] । "विष्ट्वी शमी तरणित्वेन वाघतो मर्तासः सन्तो अमृतत्वम् आनशुः" इति [ऋ० १. ११०. ४] ॥ "ऋभवो वै देवेषु तपसा सोमपीथम् अभ्यजयन्" इत्यादिना ऐतरेयब्राह्मणे [३. ३०] ऋभूणां मनुष्याणामेव देवैः सह सोमपानं विद्यत इति प्रपञ्चितम् । अत एव अत्र सुकृत इत्युक्तम् । एवंविधमहिमान ऋभवो देवा नः अस्माकं शम् शान्त्यै दुरितनिवृत्त्यै भवन्तु । पितरो हवेषु स्तोत्रेषु । ❀ विषयसप्तमी ❀ । यज्ञेषु वा: नः अस्माकं शं भवन्तु ॥

सत्यके पालक देवता हमारे लिये शान्ति करें, घोड़े और गौ हमारे यहाँ शान्ति ही फैलावें, पुण्यात्मा हस्तकुशल ऋभु हमारा कल्याण करें स्तोत्रोंके समय पितर हमारा कल्याण करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु ।

शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः
शं नो अप्याः ॥ २ ॥

शम् । नः । देवाः । विश्वऽदेवा । भवन्तु । शम् । सरस्वती ।
सह । धीभिः । अस्तु ।

शम् । अभिऽसाचः । शम् । ऊं इति । रातिऽसाचः । शम् । नः ।
दिव्याः । पार्थिवाः । शम् । नः । अप्याः ॥ २ ॥

विश्वदेवाः । अत्र दीव्यतिः स्तुत्यर्थः । बहुस्तोत्रका देवा इन्द्रादयाः । यद्वा देवा इति विश्वदेवानां विशेषणम् । दीव्यन्तो विश्वे सर्वे देवाः ❀ पूर्वस्मिन् पक्षे "बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् । द्वितीयस्मिन् पक्षे तत्पुरुषपक्षे पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वाद् आद्युदात्तत्वेन भवितव्यम् । अत्र "परादिश्छन्दसि बहुलम्" इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वम् ❀ । देवाः नः अस्माकं शं भवन्तु । सरस्वती वर्णपदवाक्यात्मना सरणवती वाग्देवता धीभिः स्तुतिभिः कर्मभिर्वा सह शम् अस्तु । अभिषाचः । ❀ षच समवाये ❀ । अभिषचमानाः यज्ञम् अभितः समवयन्तो देवाः शं भवन्तु । रातिषाचः रातये दानार्थं संगच्छमाना देवाः शम् एव भवन्तु । रातिषाचः अभिषाचः इति पदद्वयेन विश्वे देवा उच्यन्ते । तथा च दाशतय्यां वैश्वदेवसूक्ते समाम्नायते । "विश्वे देवाः सह धीभिः पुरंध्या मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः । रातिषाचो अभिषाचः स्वर्विदः स्वर्गिरो ब्रह्म सूक्तं जुषेरत" इति [ऋ० १०, ६५, १४]। दिव्याः दिवि भवा देवाः पार्थिवाः पृथिव्यां भवाः । ❀ उत्सादित्वाद् अञ् प्रत्ययः ❀ । पार्थिवा देवाश्च नः अस्माकं शं भवन्तु । अप्याः अप्सु अन्तरिक्षे भवाः । ❀ "भवे छन्दसि" इति यत् । "यतोऽनावः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । ते शं भवन्तु ॥

जिनके अनेक स्तोत्र हैं ऐसे इन्द्र आदि देवता हमारा कल्याण करें, वाग्देवता सरस्वती अपने कर्मोंसे हमारा कल्याण करें, यज्ञ में सम्मिलित होने वाले और दानके लिये जाने वाले विश्वेदेवता हमारा मङ्गल करें, द्युलोक पृथिवीलोक और जलमें होने वाले देवता हमारा मङ्गल करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

शं नो अज एकपाद् देवो अस्तु शमहिर्बुध्न्यः शं समुद्रः ।
शं नो अपां नपात् पेरुरस्तु शं नः पृश्निर्भवतु देवगोपा ॥ ३ ॥

शम् । नः । अजः । एकऽपात् । देवः । अस्तु । शम् । अहिः । बुध्न्यः । शम् । समुद्रः ।

शम् । नः । अपाम् । नपात् । पेरुः । अस्तु । शम् । नः । पृश्निः । भवतु । देवऽगोपा ॥ ३ ॥

अजः अजायमानः एकपात् एकः पादः स्थावरजङ्गमात्मको यस्य । "पादोस्य विश्वा भूतानि" इति श्रुतेः [१९. ६. ३] । ❀ "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादस्य लोपः समासान्तः ❀ । अजएकपाच्छब्दाभ्याम् एक एव देवोभिधीयते । अजैकपान्नामको देवः नः शम् अस्तु । अहिर्बुध्न्यः अहिः अहन्तव्यः बुध्न्यः बुध्नं मूलं तदर्हः । अत्रापि पूर्ववद् अहिर्बुध्न्य इति पदद्वयम् एकदेवताप्रतिपादकम् । अहिर्बुध्न्यनामको देवः नः शम् अस्तु । समुद्रः समुद्द्रवन्ति आपः अस्माद् इति समुद्रः शम् अस्तु । अपां नपात् अपाम्

उदकानां न पातयिता । ❀ पातयतेः क्विप् । "नभ्राण्नपात्०" इति नलोपाभावो निपातितः ❀ । अपांनपात्संज्ञको देवो नः शम् शान्त्यै पेरुः पारयिता दुःखेभ्यो भवतु । पृश्निः मरुतां माता देवगोपा देवा गोपयितारो यस्याः सा पृश्निः नः शं भवतु । ❀ गुपू रक्षणे । क्विप् । गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः" इति आयप्रत्ययः । अतोलोपयलोपौ । देवा गोपा यस्या इति बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरः ❀ ॥

जिसका स्थावर जंगमात्मक एकपाद अजायमान है वह अजैकपाद नामक देव हमारा कल्याण करे, अहिर्बुध्न्य नामक देवता हमारा कल्याण करे, समुद्र हमारे लिये कल्याणरूप हो, जलोंके न गिरने देने वाले अपांनपात् नामक देवता हमें दुःखोंसे पार लगावें, देवता जिसकी रक्षा करते हैं वह मरुतोंकी माता पृश्नि हमारा कल्याण करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

आदित्या रुद्रा वसवो जुषन्तामिदं ब्रह्म क्रियमाणं नवीयः ।
शृण्वन्तु नो दिव्याः पार्थिवासो गोजाता उत ये यज्ञियासः ॥ ४ ॥

आदित्याः । रुद्राः । वसवः । जुषन्ताम् । इदम् । ब्रह्म । क्रियमाणम् । नवीयः ।
शृण्वन्तु । नः । दिव्याः । पार्थिवासः । गोऽजाताः । उत । ये । यज्ञियासः ॥ ४ ॥

आदित्याः अदितेः पुत्रा द्युस्थाना देवाः । ❀ "दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्०" इति एयः ❀ । रुद्राः रोदयितारः अन्तरिक्षस्थाना देवाः वसवः पार्थिवाः जुषन्ताम् सेवन्ताम् । किं तत् । नवीयः नवतरम् इदम् इदानीं क्रियमाणं ब्रह्म स्तोत्रं जुषन्ताम् इत्यन्वयः ॥ अन्ये च नः अस्मदीयं ब्रह्म स्तोत्रं शृण्वन्तु । के ते । दिव्याः दिवि भवाः पार्थिवासः पार्थिवाः । ❀ "आज्जसेरसुक्❀ । पृथिवीस्थानाः गोजाताः गोः पृश्नेर्जाता मरुतो देवाः । उत अपि च यज्ञियासः यज्ञार्हा ये देवास्तेपि नः स्तोत्रं शृण्वन्तु ॥

अदितिके पुत्र द्युस्थानीय देवता, रुद्र और वसु इस किये जाते हुए नवीन स्तोत्रका सेवन करें, और दिव्य पार्थिव तथा पृश्निसे उत्पन्न हुए यज्ञार्ह देवता भी हमारे इस स्तोत्रको सुनें ४

पञ्चमी ॥

ये देवानामृत्विजो यज्ञियासो मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः ।

ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ५ ॥

ये । देवानाम् । ऋत्विजः । यज्ञियासः । मनोः । यजत्राः । अमृताः । ऋतऽज्ञाः ।

ते । नः । रासन्ताम् । उरुऽगायम् । अद्य । यूयम् । पात । स्वस्तिऽभिः । सदा । नः ॥ ५ ॥

देवानाम् "शं न इन्द्राग्नी" इत्यादिसूक्तद्वयप्रतिपादितानाम् ऋत्विजः ऋतौ काले यष्टारः । ❀ "ऋत्विग्दधृक्०" इत्यादिना ऋत्विक्शब्दो निपातितः ❀ । यज्ञियासः यज्ञार्हा मनोः प्रजा-

पतेः यजत्राः यजनीया यजनार्हा अमृताः अमरणधर्माणः ऋतज्ञाः ऋतं सत्यभूतं यज्ञं जानन्तो ये देवाः सन्ति ते देवाः अद्य इदानीं नः अस्माकम् उरुगायम् प्रभूतां कीर्तिं रासन्ताम् प्रयच्छन्तु। ❀ रासतिर्दानकर्मा। कै गै रै शब्दे। अस्मात् कर्मणि घञ्। आतो युगागमः ❀॥ हे देवाः यूयं नः अस्मान् सदा सर्वदा स्वस्तिभिः। स्वस्तीति अविनाशिनाम। क्षेमकरणैरुपायैः पात रक्षत। ❀ सुपूर्वाद् अस्तेः क्तिनि भूभावाभावश्छान्दसः ❀॥

"शं न इन्द्राग्नी" आदि दोनों सूक्तोंमें प्रतिपादित देवताओंके ऋत्विज, यज्ञार्ह, मनु प्रजापतिके पुत्र, अमरणधर्मी जो सत्यज्ञ देवता हैं वे इस समय हमको विशाल कीर्ति प्रदान करें, हे देवताओं! तुम हमारी क्षेमंकर उपायोंसे सदा रक्षा करो॥ ५॥

षष्ठी॥

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।

अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय ६

तत्। अस्तु। मित्रावरुणा। तत्। अग्ने। शम्। योः। अस्मभ्यम्। इदम्। अस्तु। शस्तम्।

अशीमहि। गाधम्। उत। प्रतिऽस्थाम्। नमः। दिवे। बृहते। सदनाय॥ ६॥

हे मित्रावरुणा मित्रावरुणौ अहोरात्राभिमानिनौ तत् वक्ष्यमाणं फलम् अस्तु। हे अग्ने प्रातःसायंकालाभिमानिन् तत् वक्ष्यमाणं फलम् अस्तु। किं तत्। शम् रोगाणां शमनम् योः भयानां यावनं पृथक्करणं च इदम् उक्तं फलं शस्तम् प्रशस्तं समीचीनम्

अस्मभ्यम् अस्तु । उत अपि च गाधं प्रतिष्ठाम् । ❀ गाधृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रन्थे च । अस्माद् घञ् ❀ । प्रतिष्ठां स्थितेरविच्छेदम् । यद्वा गाधं धनलाभं प्रतिष्ठां च क्षेत्रादिरूपं फलम् अशीमहि अश्नुवीमहि । ❀ अशू व्याप्तौ । अस्माद् विधिलिङि विकरणस्य लुक् छान्दसः । आशीर्लिङि वा ऊदित्वाद् इडभावः । "छन्दस्युभयथा" इति लिङः सार्वधातुकत्वात् "लिङः सलोपोनन्त्यस्य" इति सकारलोपः ❀ । दिवे द्युलोकाय बृहते महते सदनाय सर्वेषां निवासस्थानाय । ❀ अधिकरणे ल्युट् ❀ । पृथिव्यै च नमः नमस्कारोस्तु ॥

इति द्वितीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे दिन और रात्रिके अभिमानी मित्र और वरुण नामक देवताओं ! वह आगे कही हुई वस्तु हमको प्राप्त हो, हे प्रातः सायंकालके अभिमानी अग्निदेव ! वह आगे कहा हुआ फल हमको प्राप्त हो (वह फल यह है, कि–) रोगोंकी शान्ति और भयोंका पृथक्करणरूप प्रशंसनीय फल हमारे लिये हो और हम धनलाभको तथा क्षेत्रादिरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त करें । द्युलोकके लिये और सबकी निवास्थानरूप पृथिवीके लिये प्रणाम है ॥ ६ ॥

द्वितीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५५५)

"उषा अप स्वसुः" इति एकर्चस्य सूक्तस्य रात्रिकल्पे शान्त्यर्थजपे "शान्ता द्यौः" इत्यादिसूक्तत्रयेण सह उक्तो विनियोगः ॥

"उषा अप स्वसुः" इस एक ऋचा वाले सूक्तका रात्रिकल्पके शान्त्यर्थजपमें "शान्ता द्यौः" आदि तीन सूक्तोंके साथ विनियोग कह दिया है ।

सा खल्वेषा ऋग् एवम् आम्नायते ।

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ।

अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः १

उषाः । अप स्वसुः । तमः । सम् । वर्तयति । वर्तनिम् । सुऽजातता । अया । वाजम् । देवऽहितम् । सनेम । मदेम । शतऽहिमाः । सुऽवीराः ॥ १ ॥

उषाः उषःकालाभिमानिनी देवता स्वसुः । यदा उषा अभवत् तदा अनन्तरमेव रात्रिर्भवतीति परस्पराविनाभावेन रात्रिरुषसः स्वसेत्युच्यते । स्वसुः स्वयमेव सारिण्या आगच्छन्त्याः स्वसृभूतायाः रात्रेः तमः अन्धकारम् अप । गमयतीति योग्यक्रियाध्याहारः । ततः सुजातता सुष्ठु जाता सुजाता तस्या भावः सुजातता । ❀ "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इति पुंवद्भावः । तृतीयाया आकारः ❀ । सुजाततया सुष्ठु प्रादुर्भावेन सम्यक् प्रकाशकरणेन वर्तनिम् मार्गं लौकिकं वैदिकं च सं वर्तयति सम्यग् निर्वर्तयति । उषःकाले जाते सर्वेपि प्राणिनः स्वस्वव्यापारकरणाय मार्गं पश्यन्ति वैदिका अपि अग्निहोत्रादिकर्ममार्गं पश्यन्तीत्यर्थः ॥ अया अनया उषसा । ❀ सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् अनादेशाभावः । इदमः इद्रूपस्य लोपः । "आङि चापः" इति एत्वे अयादेशः । अनादेशे वा नकारलोपश्छान्दसः । "ऊडिदम्" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । देवहितम् देवैः सम्यगिष्टैर्हितं निहितं दत्तं देवेभ्यो वा हितं वाजम् अन्नं सनेम संभजेमहि लभेमहि । ❀ वन षण संभक्तौ ❀ । अनन्तरं सुवीराः । वीरः कर्मणि कुशलः पुत्रपौत्रादिः । शोभनपुत्रादिसमेताः सन्तः शतहिमाः । हिमशब्दो हेमन्तर्तुवाची । शतं हिमाः शतसंख्याकान् हेमन्तर्तून् शतं वर्षाणि मदेम हृष्यास्म । ❀ "कालाध्वनोः०" इति द्वितीया । माद्यतेः "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ।

इति द्वितीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

उषा आते ही अपनी बहिन रात्रिके अंधकारको दूर कर देती है। फिर फली प्रकार प्रकाश करके लौकिक और वैदिकमार्गको भली प्रकार प्रवृत्त करती है। इस उषाके द्वारा हम देवताओं के हितकारी अन्नको प्राप्त करें और शोभन पुत्र पौत्र आदिसे सम्पन्न रहते हुए सौ हेमन्त ऋतुओं-सौ वर्षों-तक आनंद पावें १

द्वितीय अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५५६)

"इन्द्रस्य बाहू" इति चतुर्थं सूक्तम् अप्रतिरथसंज्ञकम्। तस्य "गणावायुष्यवर्चस्यौ तथाप्रतिरथं स्मृतम्" इति शान्तिकल्पे [न० क० २३] "अप्रतिरथं जपित्वा" इति वैतानपरिशिष्टादिषु च [वै० ३. ३, प० ६. ४] यत्रयत्र अप्रतिरथसंज्ञया विनियोगश्चोद्यते तत्र सर्वत्र अस्य विनियोगोऽवगन्तव्यः ॥

"इन्द्रस्य बाहू" यह चतुर्थसूक्त अप्रतिरथसंज्ञक है। वैतानसूत्र वा नक्षत्रकल्प आदिमें जहाँ २ अप्रतिरथशब्दसे वर्णन आवे तहाँ सर्वत्र इसी सूक्तको समझना चाहिये। यथा–"गणावायुष्यवर्चस्यौ तथाप्रतिरथं स्मृतम्" (नक्षत्रकल्प २३) "अप्रतिरथं जपित्वा" (वैतानपरिशिष्ट ३ । ३)

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू ।

तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्व१र्यत् ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । बाहू इति । स्थविरौ । वृषाणौ । चित्रा । इमा । वृषभौ । पारयिष्णू इति ।

तौ । योक्षे । प्रथमः । योगे । आऽगते । याभ्याम् जितम् । असुराणाम् । स्वः । यत् ॥ १ ॥

अस्मिन् सूक्ते शत्रुधर्षणसमर्थ इन्द्रः स्तूयते । स हि स्वबाहुभ्यामेव परान् हिनस्तीति तावेव प्रथमं स्तूयेते । स्थविरौ नाम स्थूलौ पुष्टौ महान्तौ वृषाणौ अभिमतफलवर्षकौ । "आप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्" इति हि मन्त्रान्तरम् [७. २७. ८] । शस्त्रास्त्रवर्षकौ वा चित्रौ चायनीयौ सर्वैः श्लाघनीयौ । ❀चायृ पूजानिशामनयोः इत्यस्माद् उत्पन्नश्चित्रशब्द इति यास्को मन्यते [नि० १२, ६] ❀ । कटकाङ्गदादिभिराभरणैर्नानावर्णौ वा इमा इमौ परिदृश्यमानौ वृषभौ । लुप्तोपमम् एतत् । वृषभौ पुंगवाविव दुर्ललितौ पारयिष्णू प्रक्रान्तशत्रुहननकर्म समाप्तिं गमयन्तौ निःशेषं शत्रून् मर्दयन्तौ याविन्द्रस्य परमैश्वर्यसंपन्नस्य देवस्य बाहू विद्येते तौ बाहू प्रथमः सर्वेभ्य उपासकेभ्यः पूर्वभावी सन् यक्षे पूजयामि प्रोत्साहयामि । ❀ यजतेर्लेटि "सिब्बहुलम्०" इति सिप् । "टित आत्मनेपदानाम्०" इति टेरेत्वम् ❀ । किमर्थं यजनम् । योगे आगते च । अप्राप्यप्रापणं योगः । प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः । अत्र आगतशब्देन क्षेम उच्यते । योगक्षेमार्थं यक्षे इति संबन्धः । याभ्यां बाहुभ्याम् असुराणाम् देवविद्वेषिणां स्वर्यत् स्वः स्वर्गं तत्र निवासिनो देवान् वा यत् गच्छत् बाधकत्वेन प्राप्नुवत् बलं शारीरं सेनालक्षणं च वीर्यं जितम् पराजितम् । निरस्तम् इत्यर्थः ॥

[इस ऋचामें-शत्रुओंको दबानेमें समर्थ इन्द्रकी स्तुति की गई है, यह इन्द्रदेव अपनी भुजाओंसे ही शत्रुओंका संहार करते हैं अत एव उन भुजाओंकी ही पहिले स्तुति करते हैं, कि—] जिन भुजाओंने देवद्वेषी असुरोंके स्वर्गको जीत लिया है उन इन्द्रकी

मोटी और शस्त्रास्त्रकी वर्षा करने वालीं वा अभिमत फलकी वर्षा करने वालीं † कटक अङ्गद आदिसे विभूषित, वृषभकी समान शत्रुहनन कर्मको पार लगाने वालीं भुजाओंकी मैं योगक्षेमके लिये प्रार्थना करता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभ-
णश्चर्षणीनाम् ।
संक्रन्दनोनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत् साक-
मिन्द्रः ॥ २ ॥

आशुः । शिशानः । वृषभः । न । भीमः । घनाघनः । क्षोभणः । चर्षणीनाम् ।
सम्ऽक्रन्दनः । अनिऽमिषः । एकऽवीरः । शतम् । सेनाः । अजयत् । साकम् । इन्द्रः ॥ २ ॥

आशुः शीघ्रकारी व्यापको वा । ॐ कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य० [उ० १. १] इति उण् प्रत्ययः ॐ । शिशानः तीक्ष्णीभवन्मतिः स्वाभिमतसंपादने व्यग्रः । ॐ शो तनूकरणे । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । अभ्यासस्य च इत्वम् । श्यैङ् गतौ इत्यस्य वा । छान्दसो यलोपः ॐ । वृषभो न वृषभ इव भीमः भयंकरः घनाघनः हन्ता शत्रूणाम् ।

† सातवें काण्डके सत्ताईसवें सूक्तके अष्टम मन्त्रमें भी कहा है, कि-"आप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ।-दाईं और बाईं भुजा से धन दीजिये" ॥

❀ हन्तेः पचाद्यचि "हन्तेर्घत्वं च" इति द्विर्वचनम् । अभ्यासस्य आगागमः । घत्वं च धात्वभ्यासयोः ❀ । चर्षणीनाम् मनुष्याणां क्षोभणः क्षोभयिता । ❀ "कृत्यल्युटः०" इति कर्तरि ल्युट् ❀ । प्रावृषि वर्षादिना कर्षकादीन् युद्धे परसेना वा विक्षोभयन् संक्रन्दनः युद्धे रिपूणाम् आह्वाता क्रन्दयिता वा स्तनयित्नूनां वा शब्दयिता अनिमिषः अनिमेषचक्षुः । ❀ मिषतेः "घञर्थे कविधानम्" इति कः । ततो बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्" इति अन्तोदात्तत्वम् एकवीरः एकविक्रान्तः असहाय एव कार्यसमर्थः ईदृश इन्द्रः शतम् बह्वीः सेनाः परकीयाः साकम् सहैव एकप्रकारेण अजयत् जयति । तस्मात् तमेवाश्रयत इष्टसिद्ध्यर्थम् इति शेषः ॥

शीघ्रता करने वाले, अपने प्रयोजनको साधनेके लिये बुद्धिको तीक्ष्ण बनाने वाले, वृषभकी समान भयंकर, शत्रुओंके संहारक, मनुष्योंको क्षुब्ध करने वाले अर्थात् वर्षामें किसानोंको और युद्धमें शत्रुकी सेनाको क्षुब्ध करने वाले, बिजलियोंको कड़काने वाले, पलक न मारने वाले, बिना किसीकी सहायताके ही अकेले ही कार्य करनेमें समर्थ इन्द्रदेव शत्रुओंकी अनेकों सेनाओं को एक साथ ही जीत लेते हैं, अत एव इष्टसिद्धिके लिये उनका ही आश्रय लो ॥ २ ॥

तृतीया ॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनायोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।

तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥

सम्ऽक्रन्दनेन । अनिऽमिषेण । जिष्णुना । अयोध्येन । दुःऽच्यवनेन । धृष्णुना ।

तत् । इन्द्रेण । जयत । तत् । सहध्वम् । युधः । नरः । इषुऽहस्तेन ।

वृष्णा ॥ ३ ॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण व्याख्यातौ । संक्रन्दयित्रा अनिमिषचक्षुषा जिष्णुना जयशीलेन योध्येन युद्धसंसक्तेन । ❀ युध संप्रहारे । "ऋहलोर्ण्यत्" । "शकि लिङ् च" इति शक्यार्थे कृत्यप्रत्ययः ❀ । दुश्च्यवनेन दुःखेन च्यावयितुं शक्येन अविचाल्येन । ❀ "छन्दसि गत्यर्थेभ्यः" इति युच् ❀ । धृष्णुना प्रसहनशीलेन इषुहस्तेन । ❀ इषवो बाणा हस्ते यस्येति बहुव्रीहौ "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इति परनिपातः ❀ । वृष्णा वर्षित्रा कामानाम् इन्द्रेण यथोक्तगुणसंपन्नेन सहायेन हे युधः योद्धारः हे नरः मनुष्याः । ❀ "विभाषितं विशेषवचने बहुवचनम्" इति पूर्वस्य आमन्त्रितस्य अविद्यमानवत्त्वनिषेधाद् द्वितीयं निहन्यते ❀ । योद्धारः शूराः यूयं तज्जयत । जेतव्यम् इति सामर्थ्याल्लभ्यते । किं च तेनैव इन्द्रेण सहायेन तत् सहध्वम् अभिभवनीयम् इति अभिभवत ।

शत्रुओंको रुलाने वाले, पलक न मारने वाले, विजयशील, युद्धमें आसक्त, कठिनतासे च्युत करने योग्य, दबाने वाले, बाणधारी, कामनाओंकी वर्षा करने वाले इन्द्रदेवकी सहायतासे हे शूरो ! तुम विजय पाओ, और इन ही इन्द्रदेवकी सहायतासे तुम दबाने योग्यको दबाओ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन ।

संसृष्टजित् सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता ॥ ४ ॥

सः । इषुऽहस्तैः । सः । निषङ्गिऽभिः । वशी । सम्ऽस्रष्टा । सः ।

युधः । इन्द्रः । गणेन ।

संसृष्टऽजित् । सोमऽपाः । बाहुऽशर्धी । उग्रऽधन्वा । प्रतिऽहिताभिः ।

अस्ता ॥ ४ ॥

इषुहस्तैः इषवो हस्तेषु येषां तैरुपलक्षितः स इन्द्रः निषङ्गिभिः इषुधियुक्तैर्धन्विभिः । निषङ्गशब्देन सर्वदा हस्ते संबध्यमानो गृह्यमाणः खड्गादिरुच्यते । तद्वद्भिः सहितः स इन्द्रः वशी वशैः वश्यैर्वशवर्तिभिरनुचरैस्तद्वान् स च इन्द्रः संस्रष्टा । संयोजनशीलः । केन संस्रष्टा । गणेन । सामर्थ्यात् परकीयो गणो विवक्ष्यते । परकीयेन सैन्येन एकीभवनशीलः । किं कुर्वन् । युधः युध्यमानः । ❀ इगुपधलक्षणः कः ❀ । यद्वा युधः युद्धाद्धेतोः । ❀ "सावेकाचः०" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् ❀ । न केवलं संस्रष्टा अपि तु संसृष्टजित् संसृष्टानां संघीभूतानाम् अभिमुखम् आगतानां वा जेता सोमपाः सोमस्य पाता बाहुशर्धी । शर्धो बलम् । बाहुबलवान् । ❀ मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः ❀ । यद्वा । ❀ शृधु प्रसहने ❀ । बाहुभ्यां शर्धयति अभिभवतीति बाहुशर्धी । ❀ "सुप्यजातौ०" इति णिनिः ❀ । उग्रधन्वा भयंकरधनुर्युक्तः । ❀ "धनुषश्च" इति अनङ् समासान्तः ❀ । प्रतिहिताभिः परशरीरे प्रेरिताभिरिषुभिः अस्ता परेषां क्षेप्ता मारयिता । ❀ असु क्षेपणे । तृचि "रधादिभ्यश्च" इति इड्विकल्पः ❀ । एतादृशगुणोपेत इन्द्रो वर्तते । तादृशेन इन्द्रेण जयत तत् सहध्वम् इति ॥

अपने हाथमें बाणको धारण करने वाले, और खड्गधारी भटोंसे संयुक्त यह इन्द्रदेव अपने वशवर्ती अनुचरोंको रखते हैं और उनको युद्ध करते समय शत्रुदलसे भिड़ा देते हैं और

यह युद्ध करनेको आने वालोंको जीत लेते हैं, सोमका पान करने वाले हैं, भुजबली हैं, इनका धनुष प्रचण्ड है और बाणोंको फैंक कर शत्रुओंका संहार कर डालते हैं, ऐसे इन्द्रदेवकी कृपासे हे शूरों! तुम विजय पाओ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः ।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन् ॥ ५ ॥

बलऽविज्ञायः । स्थविरः । प्रऽवीरः । सहस्वान् । वाजी । सहमानः । उग्रः ।
अभिऽवीरः । अभिऽसत्वा । सहःऽजित् । जैत्रम् । इन्द्र । रथम् । आ । तिष्ठ । गोऽविदन् ॥ ५ ॥

बलविज्ञायः परस्य बलं विजानातीति । ❀ "कर्मण्यण्" ❀ । यद्वा अयं मम बलम् इति सर्वैर्बलत्वेन विज्ञायत इति बलविज्ञायः । सर्वस्य बलभूत इत्यर्थः । ❀ "अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति कर्मणि घञ् ❀ । स्थविरः महान् पुरातनो वा प्रवीरः प्रकर्षेण वीरः शूरः । यद्वा प्रगतान् परागतबलानपि वीरयतीति प्रवीरः सहस्वान् अभिभवनशक्तिमान् वाजी अन्नवान् वेगवान् वा सहमानः अभिभवन् शत्रून् उग्रः उद्गूर्णबलः अभिवीरः अभितो वीरा बलवन्तः अनुचरा यस्य सः अभिषत्वा अभिषदनशीलः शत्रुसेनाभिगमनशीलः । ❀ सदेः क्वनिप् । दकारस्य तकारः । "सदिरप्रतेः"

इति षत्वम् । यद्वा सत्वनो वीरान् अभिभवतीति अभिसत्वा । सांहितिको मूर्धन्यादेशः ❀ । सहोजित् शात्रवीयबलस्य जेता गोविदन् गाः परकीया धेनूः स्वकीयत्वेन जानन् परगवीः स्वाधीनाः कुर्वन् । ❀ वेत्तेः शतृप्रत्ययः । "पूरणगुणसुहित०" इति षष्ठीसमासप्रतिषेधो न भवति । छन्दसि सर्वविधीनां विकल्पितत्वात् ❀ । हे इन्द्र एवं गुणविशिष्ट स त्वं जैत्रम् जयशीलं रथम् आ तिष्ठ अस्मदर्थं रथम् आरोढुम् अर्हसि ॥

इन इन्द्रदेवको सब अपना बल मानते हैं, यह महान् हैं, प्रचण्ड बली हैं, दबानेकी शक्ति रखते हैं, अन्नवान् हैं, शत्रुओंको दवाने वाले और प्रचण्ड बली हैं, इनके अनुचर बलवान् हैं शत्रुसेना की ओर बढ़ना इनका स्वभाव है, यह शत्रुओंके बलको जीत लेते हैं, शत्रुओंकी गौओंको अपने आधीन कर लेते हैं हे इन्द्र ! आप ऐसे गुणोंसे सम्पन्न हैं, इस कारण आप हमारे लिये विजयशील रथ पर आरूढ़ हूजिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा ॥ ६ ॥

इमम् । वीरम् । अनु । हर्षध्वम् । उग्रम् । इन्द्रम् । सखायः । अनु । सम् । रभध्वम् ।

ग्रामऽजितम् । गोऽजितम् । वज्रऽबाहुम् । जयन्तम् । अज्म । प्रऽमृणन्तम् । ओजसा ॥ ६ ॥

हे सखायः समानख्यानाः समानबुद्धिकर्माणो योद्धारो यूयम् इमं शत्रुधर्षणसमर्थं वीरम् विक्रान्तम् अत एव उग्रम् उद्गूर्णबलम् इन्द्रम् अनु हर्षध्वम् । एनं वीरम् अग्रतः कृत्वा यूयं पश्चाद् उत्साहिनो भवत । ❀ हृष तुष्टौ । "कर्तरि शप्" इति शपेव जातः शपेवोत्पन्नः । तस्यापवादत्वेन श्यनोऽनुत्पत्तिश्छान्दसी आत्मनेपदं च ❀। तथा इन्द्रम् अनु सं रभध्वम् शत्रुहननाय संरब्धम् उद्योगवन्तम् इन्द्रम् अनु स्वयमपि उद्योगिनो भवत। ❀ रभ राभस्ये❀। इन्द्रं विशिनष्टि । ग्रामजितम् शत्रुसंघस्य जेतारम् । अथ वा ग्रामस्य शत्रुपुरस्य जेतारम् गोजितम् शत्रुगवीनां जेतारं वज्रबाहुम् वज्रं बाहौ यस्येति । ❀ "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इति परनिपातः ❀ । जयन्तं शत्रून् अज्म आजनशीलम् । ❀ सुपो लुक् ❀ । यद्वा अज्म अजन्ति अत्र योद्धार इति युद्धस्थानम् । ❀ अधिकरणे मनिन् प्रत्ययः ❀ । युद्धस्थानं जयन्तम् इति । ओजसा वीर्येण प्रमृणन्तम् प्रकर्षेण हिंसन्तं परसैन्यानि । ❀ मृण हिंसायाम् । तौदादिकः ❀ ॥

हे समान बुद्धि और कर्म वाले योधाओं ! तुम इन शत्रुओंको दबानेकी शक्ति रखने वाले प्रचण्ड वीर इन्द्रको आगे करके उत्साहित होओ, और शत्रुहननके लिये उद्योग करते हुए इन्द्रके साथ २ तुम भी शत्रु हननका उद्योग करो, यह इन्द्रदेव शत्रुओंके ग्रामोंको जीतने वाले हैं, शत्रुओंकी गौओंको जीतने वाले हैं, इनकी भुजाएँ वज्रकी समान कड़ी हैं, युद्धस्थलका विजय करने वाले हैं और अपने वीर्यसे शत्रुओंकी सेनाको मसलने वाले हैं ६

सप्तमी ॥

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः ।

दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु ॥ ७ ॥

अभि । गोत्राणि । सहसा । गाहमानः । अदायः । उग्रः । शतऽमन्युः । इन्द्रः ।

दुःऽच्यवनः । पृतनाषाट् । अयोध्यः । अस्माकम् । सेनाः । अवतु । प्र । युत्ऽसु ॥ ७ ॥

गोत्राणि गोः उदकस्य त्राणि त्रायकाणि युद्धक्षेत्राणि वा सहसा बलेन अभि गाहमानः आभिमुख्येन प्रविशन् अदायः निर्दयो निग्राह्येऽविद्यमानकरुणः । ❀ दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु । अस्माद् घञि बहुव्रीहौ "नञ्सुभ्याम्०" इति अन्तोदात्तत्वम् ❀। उग्रः उद्गूर्णबलो वीरः शतमन्युः बहुविधक्रोधः दुश्च्यवनः च्यावयितुं युद्धाङ्गणाद् अपसारयितुम् अशक्यः । ❀ "छन्दसि गत्यर्थेभ्य." इति युच् ❀। पृतनाषाट् परसेनानाम् अभिभविता । ❀ "छन्दसि सह." इति ण्विः । "सहेः साडः सः" इति मूर्धन्यादेशः ❀ । अयोध्यः योद्धुं संप्रहर्तुम् अशक्यः ईदृश इन्द्रः युत्सु युद्धेषु । ❀ संपदादिलक्षणः क्विप् ❀ । अस्माकं सेनाः प्रावतु प्रकर्षेण रक्षतु ॥

युद्धक्षेत्रोंमें सहसा प्रवृत्त होकर उनमें सामनेको घुसे चले जाने वाले दण्डय प्राणियों पर निष्करुण, प्रचण्डबली, अनेक प्रकार के क्रोध वाले, युद्धाङ्गणसे हटानेको अशक्य, शत्रुसेनाओंको दबाने वाले और जिनसे कोई युद्धमें डट नहीं सकता, ऐसे इन्द्रदेव युद्धोंमें हमारी सेनाकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः ।

प्रभञ्जञ्छत्रून् प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम्

बृहस्पते । परि । दीय । रथेन । रक्षःऽहा । अमित्रान् । अपऽबाधमानः ।

प्रऽभञ्जन् । शत्रून् प्रऽमृणन् । अमित्रान् । अस्माकम् । एधि ।

अविता । तनूनाम् ॥ ८ ॥

हे बृहस्पतेः बृहतां देवानां पते पालक त्वं रथेन परि दीय । ❀ दीयतिर्गतिकर्मसु पठ्यते । छान्दसो धातुः । अथ वा दीङ् क्षये । अनेकार्थत्वाद्धातूनाम् अत्र गत्यर्थः ❀ । युद्धभूमिं परितो गच्छ व्याप्नुहि । रक्षोहा रक्षसां हन्ता अमित्रान् शत्रून् । ❀ अम गत्यादिषु । अस्माद् इत्रप्रत्ययः ❀ । अपबाधमानः सर्वतो नाशयन् । ❀"लक्षणहेत्वोः०" इति हेत्वर्थे शानच् ❀ । बाधनेन हेतुना सर्वतो गच्छ ॥ शत्रून् प्रभञ्जन् प्रकर्षेण मर्दयन् । ❀ भञ्जो आमर्दने रौधादिकः ❀ । अमित्रान् शत्रून् प्रमृणन् प्रकर्षेण हिंसन् ईदृशस्त्वम् अस्माकं तनूनाम् शरीराणाम् अविता रक्षिता एधि भव । ❀ अस्तेर्लोटि "ध्वसोरेद्धौ०" इति हेध्यादेशः एत्वं च ❀॥

हे बड़े २ देवताओंके पालक ! आप राक्षसोंका संहार करने वाले हैं आप हमारे शत्रुओंका संहार करते हुए रथके द्वारा युद्ध में व्याप्त होजाइये । आप हमारे शत्रुओंको मारिये और अमित्रों को मसलिये और हमारे शरीरकी रक्षा करते हुए वृद्धिको प्राप्त हूजिये ॥ ८ ॥

नवमी ॥

इन्द्र एषां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः ।

देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्तु मध्ये

इन्द्रः । एषाम् । नेता । बृहस्पतिः । दक्षिणा । यज्ञः । पुरः । एतु । सोमः ।

देवऽसेनानाम् । अभिऽभञ्जतीनाम् । जयन्तीनाम् । मरुतः । यन्तु । मध्ये ॥ ६ ॥

अभिभञ्जतीनाम् अस्मदमित्रान् आभिमुख्येन भङ्क्तुं मर्दयितुम् । ❀ हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः । "ङ्याश्छन्दसि०" इति नाम उदात्तत्वम् ❀ । भञ्जनेन हेतुना जयन्तीनाम् जयनशीलानाम् । ❀ जयन्तीनाम् इत्यत्र बहुलवचनाद् नाम उदात्तत्वं न भवति ❀। एवम् अस्मदर्थं प्रवर्तमानानाम् एषाम् । ❀ लिङ्गव्यत्ययः ❀ । आसाम् देवसेनानाम् इन्द्रो नेता अस्तु । बृहस्पतिः पुरः पुरस्ताद् एतु दक्षिणा च यज्ञश्च सोमश्च पुर एतु । इति प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् । दक्षिणा दक्षिणस्या दिशि बृहस्पतिरेतु यज्ञः सोमश्च पुरस्ताद् एतु इति केचिद् व्याचक्षते । तदा दक्षिणशब्दाद् "दक्षिणाद् आच्" इति आचि कृते "चितः" इति अन्तोदात्तत्वम् । यथा "सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञम् अभिनक्षमाणाः" [१८. १. ४२, ऋ० १०. १७. ६] इत्यत्र दक्षिणाशब्दः अन्तोदात्तः पठ्यते एवम् अत्रापि स्यात् । अतः यज्ञे दीयमाना गोरूपा दक्षिणा अत्र विवक्षिता । ❀ दक्ष वृद्धौ । द्रुदक्षिभ्याम् इनन् [उ० २. ५०] इति इनन्प्रत्यये कृते "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वं सिध्यति । दिगाख्याने वा व्यत्ययेन आद्युदात्तत्वं द्रष्टव्यम् ❀। तथा मरुतो देवताश्च देवसेनानां मध्ये यन्तु गच्छन्तु ॥

हमारे शत्रुओंका मर्दन करनेके लिये विजय करती हुई देवसेनाओंके इन्द्र नेता बनें, बृहस्पति इसके पूर्वभागमें चलें, और दक्षिणकी ओरसे सोम और यज्ञ चलें, और मरुत् देवता इन देवसेनाओंके मध्यमें चलें ॥ ६ ॥

दशमी ॥

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञ आदित्यानां मरुतां शर्ध उग्रम् ।

महामनसां भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयतामुदस्थात् ॥ १० ॥

इन्द्रस्य । वृष्णः । वरुणस्य । राज्ञः । आदित्यानाम् । मरुताम् । शर्धः । उग्रम् ।

महाऽमनसाम् । भुवनऽच्यवानाम् । घोषः । देवानाम् । जयताम् । उत् । अस्थात् ॥ १० ॥

वृष्णः कामानां वर्षितुः शस्त्रास्त्राणां वा सांतत्येन प्रक्षेप्तुः इन्द्रस्य राज्ञः राजनशीलस्य वरुणस्य शत्रुनिवारकस्य एतत्संज्ञकस्य देवस्यापि आदित्यानाम् अदितिपुत्राणां देवानां मरुतां च उग्रम् उद्गूर्णं शर्धः शत्रुप्रसहनसमर्थं बलम् उद् अस्थात् उत्तिष्ठतु शत्रून् हन्तुम् आविर्भवतु । ❀ शृधु प्रसहने । अस्माद् असुन् प्रत्ययः ❀ । ततः महामनसाम् अदीनमनसां भुवनच्यवानाम् च्यावयितुं समर्थानां भुवनेभ्यो लोकेभ्यो वा शत्रूंश्च्यावयितुं शक्तानाम् । ❀ च्यवतेरन्तर्भावितण्यर्थात् पचाद्यच् ❀ । जयताम् शत्रून् विनाशयतां देवानां सर्वेषामपि घोषः जयध्वनिः उद् अस्थात् उत्तिष्ठतु ॥

शस्त्र और अस्त्रोंकी वर्षा करने वाले इन्द्रदेवका, शत्रुओंको हटाने वाले वरुणदेवका, अदितिपुत्रोंका, और मरुत्–देवताओंका शत्रओंको दबानेमें समर्थ प्रचण्ड बल शत्रओंका हनन करनेके लिये प्रकट हो और महायशस्वी, शत्रओंको लोकसे भी च्युत करनेमें समर्थ, जीतने वाले सब देवताओंकी जयध्वनि यहाँ प्रकट होवे

एकादशी ॥

अस्माकमिन्द्रः समृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता जयन्तु ।
अस्माकं वीरा उत्तरे भवन्त्वस्मान् देवासोवता हवेषु

अस्माकम् । इन्द्रः । सम्ऽऋतेषु । ध्वजेषु । अस्माकम् । याः । इषवः । ताः । जयन्तु ।
अस्माकम् । वीराः । उत्ऽतरे । भवन्तु । अस्मान् । देवासः । अवत । हवेषु ॥ ११ ॥

ध्वजेषु ध्वजवत्सु । ❀ अर्श आदित्वाद् मत्वर्थीयः अच् प्रत्ययः ❀। संग्रामेषु समृतेषु । ❀ अर्तेः "गत्यर्थाकर्मक०" इति कर्तरि क्तप्रत्ययः ❀ । संप्राप्तेषु सत्सु अस्माकम् इन्द्र एव । रक्षिता भवत्विति शेषः । अस्माकं या इषवः इष्यमाणाः प्रेर्यमाणाः शरास्ता जयन्तु शत्रून् । यद्वा इषुशब्देन इषुमन्तो योधा उच्यन्ते । ❀ लुप्तमत्वर्थीयो निर्देशः ❀ । इषुमन्तो योधा जयन्तु ॥ अस्माकं संबन्धिनो वीराः विक्रान्तकर्माणः पुरुषा उत्तरे भवन्तु जयेन उत्कृष्टा भवन्तु ॥ हे देवासः देवाः यूयमपि हवेषु । हूयन्ते आहूयन्ते परस्परं योद्धारो योद्धृभिरत्रेति हवः संग्रामः । तेषुः अस्मान् अवत रक्षत । यथा जयिनो भवेम तथा अनुपालयत । ❀ "अन्येषामपि दृश्यते" इति तिङन्तस्य दीर्घः ❀ ॥

इति द्वितीयेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

ध्वजा वाले संग्रामोंका अवसर आने पर इन्द्रदेव ही हमारे रक्षक होवें, हमारे छोड़े हुए बाण शत्रुओंको जीत लेवें, हमारे

वीर पुरुष विजय पाकर श्रेष्ठ बनें, हे देवताओं ! तुम भी युद्धमें हमारी रक्षा करो ॥ ११ ॥

द्वितीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५५७)

"इदमुच्छ्रेयोवसानम्", इति एकर्चेन सूक्तेन साग्निपत्नीक आहिताग्निः प्रयाणे पर्यवसिते आज्यं जुहुयात् ॥

"इदमुच्छ्रेयोऽवसानम्" इस एक ऋचा वाले सूक्तसे साग्नि-पत्नीक आहिताग्नि प्रयाणके पर्यवसित होने पर घृतकी आहुति देय।

सैषा ऋग् एवम् आम्नायते ॥

इदमुच्छ्रेयोवसानमागां शिवे मे द्यावापृथिवी अभूताम् असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु न वै त्वा द्विष्मो अभयं नो अस्तु ॥ १ ॥

इदम् । उत्ऽश्रेयः । अवऽसानम् । आ । अगाम् । शिवे इति । मे । द्यावापृथिवी इति । अभूताम् ।

असपत्नाः । प्रऽदिशः । मे । भवन्तु । न । वै । त्वा । द्विष्मः । अभयम् । नः । अस्तु ॥ १ ॥

अवसानम् । अवस्यति परिसमाप्तं भवति प्रयाणम् अत्र स्थान इति अवसानम् । तद्रूपम् इदम् इदानीं गम्यमानं श्रेयः श्रेष्ठं फलम् उत् । ❀ योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । उद्दिश्य आगाम् प्राप्तवान् अस्मि । ❀ इणो लुङि गादेशः ❀ । द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ मे मम शिवे श्रेयःप्रदे अभूताम् भवताम् । ❀ भवतेश्छान्दसो लुङ् ❀ ॥ तथा मे मम प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्राच्यादिमहादिशः असपत्नाः । सपत्नीव सपत्नः । ❀ अकार उपमार्थीयः । "यस्येति च" इति ईकारलोपः । एतत् सर्वं "व्यन्तसपत्ने" इति निपातनात्

सिद्धम् ॐ । सपत्नरहिता बाधकहेतुकोपद्रवरहिता भवन्तु । ॐ "नञ्सुभ्याम्" इति अन्तोदात्तत्वम् ॐ ॥ भयहेतौ विद्यमाने कथं तत्कृतोपद्रवराहित्यम् इत्यत आह न वै त्वा द्विष्म इति । हे सपत्न त्वा त्वां न द्विष्मः द्विष्टं मा कुर्मः । वैशब्दः प्रसिद्धौ । त्वद्विषये मया द्वेषो न क्रियत इति सर्वे जानन्तीत्यर्थः । अतो नः अस्माकम् अभयं भयराहित्यम् अस्तु । ॐ "अव्यये नञ्कुनिपातानाम् इति वक्तव्यम्" इति नञः प्रकृतिस्वरत्वम् ॐ ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

जहाँ पर चलना पूर्ण होता है उस श्रेष्ठ फलात्मक स्थानमें मैं आगया हूँ, द्यु लोक और पृथिवीलोक मुझे कल्याण प्रदान करें, और पूर्व आदि चारों दिशाएँ बाधक उपद्रवसे शून्य होवें—वा शत्रुरहित होवें, हे सपत्न ! हम तुझसे द्वेष नहीं रखते अत एव हमको अभय प्राप्त हो ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५५८)

"यत इन्द्र भयामहे" इत्यस्य सूक्तस्य अभयगणे पाठाद् "अभयगणोऽभयायाम्" इति [न० क० १८]

"आयुष्यश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः" इति [प० ५, ३.]

"अभयेनोपतिष्ठते" [शा० क० १६]

इति नक्षत्रकल्पशान्तिकल्पपरिशिष्टादिषु गणप्रयुक्तो विनियोगोऽनुसंधेयः ॥

"यत इन्द्र भयामहे" सूक्तका अभयगणमें पाठ है, अत एव नक्षत्रकल्प शान्तिकल्प परिशिष्ट आदिमें गणप्रयुक्त विनियोग समझना चाहिये । यथा—"अभयगणोऽभयायाम् ।—अभया शान्तिमें अभयगण आता है" (नक्षत्रकल्प १८) । "आयुष्याश्चाभयश्चैव तथा स्वस्त्ययनो गणः" (अथर्वपरिशिष्ट ५ । ३) । "अभयेनोपतिष्ठते" (शान्तिकल्प १६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यत॑ इन्द्र भयामहे ततो॑ नो॒ अभ॑यं कृधि ।

मघ॑वञ्छ॒ग्धि तव॒ त्वं न॑ ऊ॒तिभि॒र्वि द्वि॒षो॒ वि मृधो॑ जहि

यतः॑ । इ॒न्द्र॒ । भया॑महे । ततः॑ । नः॒ । अभ॑यम् । कृ॒धि ।

मघ॑ऽवन् । श॒ग्धि । तव॑ । त्वम् । नः॒ । ऊ॒तिऽभिः॑ । वि । द्वि॒षः॑ ।

वि । मृधः॑ । ज॒हि ॥ १ ॥

हे इन्द्र अभयंकर यतः यस्माद्धेतोः भयामहे बिभीमः भीतिं प्राप्नुमः । ❀ बिभेतेः सामान्यविहितः कर्तरि शबेवोत्पन्नः । यद्वा लेट्याडागमः । उभयत्र व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इति यत इत्यत्र अपादानत्वात् पञ्चमी ❀ । ततः तस्माद्ध भयहेतोः नः अस्माकम् अभयम् भयराहित्यम् उपद्रव-परिहारं कृधि कुरु । ❀ करोतेर्लोटि विकरणस्य लुक् । "श्रुशृणु-पृकृवृभ्यः०" इति हेर्धिरादेशः ❀ । किं च हे मघवन् धनवन् इन्द्र त्वं तव तत्संबन्धिनीभिः ऊतिभिः रक्षाभिः नः अस्मान् रक्षितुम् इति शेषः । शग्धि शक्तः समर्थो भव । ❀ शकेः प्राप्त-काले लोट् ❀ । भयहेतोः सपत्नात् सकाशाद्ध बिभ्यतोस्मां-स्त्वदीयैः पालनैः पालयितुम् अयं प्राप्तः काल इत्यर्थः। ❀ शके-र्लोटि विकरणस्य लुक् छान्दसः । झलन्तत्वात् हेर्धिरादेशः ❀ । अनन्तरं द्विषः द्वेष्टॄन् अस्मदीयान् शत्रून् वि जहि विशेषेण छिन्द्धि । मृधः शत्रुसंबन्धिनः संग्रामांश्च वि जहि विशेषेण नाशय । यद्वा द्विषो मृध इति बाह्याभ्यन्तररूपा द्विविधाः शत्रवो विवक्षिताः । संनिहिता असंनिहिताश्चेति वा ॥

हे अभयप्रद इन्द्रदेव ! हम जिस कारणसे डर रहे हैं उपद्रवको दूर कर उस भयहेतुसे हमको बचाइये । और हे धनवान् इन्द्र ! आप अपनी रक्षक शक्तियोंसे हमारी रक्षा करनेमें समर्थ हूजिये। तात्पर्य यह है, कि-शत्रुके भयसे हम डर रहे हैं अत एव अपनी रक्षकशक्तियोंके अब दिखानेका समय है। तथा आप हमारे शत्रुओं को काटिये और संग्रामोंको नष्ट करिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इन्द्रं वयमनूराधं हवामहेनु राध्यास्म द्विपदा चतुष्पदा ।
मा नः सेना अररुषीरुप गुर्विषूचीरिन्द्र द्रुहो वि नाशय

इन्द्रम् । वयम् । अनुऽराधम् । हवामहे । अनु । राध्यास्म । द्विऽपदा । चतुःऽपदा ।

मा । नः । सेनाः । अररुषीः । उप । गुः । विषूचीः । इन्द्र । द्रुहः । वि । नाशय ॥ २ ॥

अनुराधम् अनुक्रमेण राधनीयं पूजनीयम् । सर्वेपि स्वस्वकार्यार्थम् इन्द्रम् एव प्रार्थयन्ते । तथा च दाशतय्याम् आम्नायते । "इन्द्रं परेवरे मध्यमास इन्द्रं यान्तोवसितास इन्द्रम् । इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमाना इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते" [इति ऋ० ४. २५. ८] । ❀ अनुपूर्वाद् राधतेः कर्मणि घञि "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये०" इति अनोः सांहितिको दीर्घः ❀ । ईदृशम् इन्द्रं वयं हवामहे स्वेष्टसिद्ध्यर्थम् आह्वयामः । इन्द्रप्रार्थनया वयं द्विपदा पादद्वयोपेतेन पुत्रभृत्यादिना चतुष्पदा पादचतुष्टयोपेतेन गवाश्वादिना च अनु राध्यास्म अनुक्रमेण संपन्ना भूयास्म । पुत्रभृत्यगवादिरूपाभिमतफलसमृद्धा भवेम । ❀ राध साध संसिद्धौ । आशीर्लिङि

रूपम् ॥ किं च अररुषीः अदात्र्यः अभिमतफलप्रतिबन्धिकाः सेनाः शात्रवीया नः अस्मान् मोप गुः मोपगच्छन्तु समीपं मा प्राप्नुवन्तु । ❀ अररुषीरिति । नञ्पूर्वाद् रातेः क्वसौ "उगितश्च" इति ङीपि "वसोः संप्रसारणम्" । "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः । अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः ❀ । न केवलं समीपप्राप्त्यभावः किंतु हे इन्द्र विषूचीः विष्वगञ्चना सर्वतो व्याप्ता द्रुहः द्रुह्यन्तीस्ताः शत्रुसेना वि नाशय विशेषेण जहि ॥

हम सबसे ही पूजनीय † इन्द्रदेवका अपनी अभीष्टसिद्धिके लिये आह्वान करते हैं । इन्द्रकी प्रार्थना करनेसे हम दो पैर वाले पुत्र आदिसे और चार पैर वाले गौ घोड़े आदिसे क्रमशः सम्पन्न होवें, हमारे अभिमत फलमें बाधा डालने वाली शत्रुसेना हमारे पास न फटक सके । और हे इन्द्र ! आप चारों ओर व्याप्त शत्रुदलको पूर्णरीतिसे समाप्त कर दीजिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

इन्द्रस्त्रातोत वृत्रहा परस्फानो वरेण्यः ।
स रक्षिता चरमतः स मध्यतः स पश्चात् स पुरस्तान्नो अस्तु ॥ ३ ॥

---

† सब ही अपने कार्यकी सिद्धिके लिये इन्द्रकी प्रार्थना करते हैं । ऋग्वेदसंहिता ४ । २५ । ८ में भी लिखा है, कि-"इन्द्र परेऽवरे । मध्यमास इन्द्रं यान्तो वसितास इन्द्रम् । इन्द्रं क्षियन्त उत युध्यमानाः इन्द्रं नरो वाजयन्तो हवन्ते ।-उत्कृष्ट और निकृष्ट तथा मध्यम श्रेणीके पुरुष भी रक्षकको पानेके लिये इन्द्रका आह्वान करते हैं । क्षीण होते हुए युद्ध करते हुए वा अन्न चाहते हुए पुरुष भी इन्द्रका आह्वान करते हैं" ॥

इन्द्रः । त्राता । उत । वृत्रऽहा । परस्फानः । वरेण्यः ।

सः । रक्षिता । चरमतः । सः । मध्यतः । सः । पश्चात् । सः ।

पुरस्तात् । नः । अस्तु ॥ ३ ॥

उत अपि च वृत्रहा वृत्रम् आवरकम् असुरं मेघं वा हतवान् इन्द्रः त्राता रक्षिता भवतु । सामान्येन उक्त्वा विशेषत आह । वरेण्यः वरणीय इन्द्रः नः अस्माकं परस्पाः परेभ्यः पाता रक्षिता । ❀ सकारोपजनश्छान्दसः ❀ । परः परस्ताद् वा पाता । उत्तरत्र प्राच्यादिदिग्भ्यो रक्षितेति वदति तद्व्यतिरिक्ताभ्यो दिग्भ्यो रक्षितेत्यर्थः । ❀ पातेर्विच् ❀ । स एव इन्द्रः चरमतः अन्ते । ❀ सार्वविभक्तिकस्तसिः ❀ । तत्र रक्षिता मध्यतः मध्यदेशे । सर्वत्र स इत्युक्तिः अवश्यरक्षणीयत्वद्योतनार्थम् । पश्चात् पृष्ठभागे पुरस्तात् पुरोभागे नः अस्माकं रक्षिता अस्तु भवतु ॥

वृत्रासुर वा आवारक मेघको ताड़ित करने वाले इन्द्रदेव हमारे रक्षक बनें । वरणीय इन्द्र शत्रुओंसे हमारी रक्षा करें । यह इन्द्रदेव अन्तमें मध्यमें पीछे और सामने सर्वत्र हमारे रक्षक होवें ३

चतुर्थी ॥

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्व१र्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति ।

उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता ॥

उरुम् । नः । लोकम् । अनु । नेषि । विद्वान् । स्वः । यत् ।

ज्योतिः । अभयम् । स्वस्ति ।

उग्रा । ते । इन्द्र । स्थविरस्य । बाहू इति । उप । क्षयेम । शरणा । बृहन्ता ॥ ४ ॥

हे इन्द्र विद्वान् सर्वं जानानस्त्वं नः अस्मान् उरुम् विस्तीर्णं लोकम् इमम् अमुं च अनु नेषि अनुप्रापय । ❀ नयतिर्द्विकर्मकः । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुक् ❀ । स्वर्यत् स्वः स्वर्गं सर्वं वा यत् गच्छद् व्याप्नुवद् वा ज्योतिः आदित्याख्यं स्वस्ति । अविनाशिनाम । अभयम् भयरहितं क्षेमप्रदं च अस्तु । भयहेतुनिबन्धनोपद्रवपरिहारकं क्षेमादिसकलाभीष्टप्रदं च भवतु ॥ हे इन्द्र स्थविरस्य महतः पुरातनस्य वा ते तव संबन्धिनौ उग्रा उद्गूर्णबलौ शरणा शरणौ शत्रुविशरणसमर्थौ । अथ वा शरणशब्दो रक्षितृवाची । सर्वस्य रक्षकौ बृहन्ता बृहन्तौ महान्तौ बाहू उप क्षियेम उपप्राप्नुयाम । शरणेति विधेयविशेषणम् । रक्षकत्वेन उपगच्छेम । ❀ क्षि निवासगत्योः । तौदादिकः । विधिलिङि रूपम् ❀ ॥

हे इन्द्र ! सबको जानते हुए आप हमें इस विशाल लोकको और परलोकको प्राप्त कराइये । जो स्वर्गमें व्याप्त होने वाली आदित्य नामक ज्योति है वह भयरहित क्षेमको देने वाली हो, हे इन्द्र ! आप प्राचीन देवकी प्रचण्ड बली शत्रुओंको विदीर्ण करने में समर्थ सबकी रक्षक भुजाओंको हम रक्षकरूपमें प्राप्त करें ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु

अभयम् । नः । करति । अन्तरिक्षम् । अभयम् । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । इमे इति ।

अभयम् । पश्चात् । अभयम् । पुरस्तात् । उत्ऽतरात् । अधरात् ।

अभयम् । नः । अस्तु ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं मध्यमलोकः नः अस्माकम् अभयम् भयराहित्यं करति कुर्यात् । ❀ करोतेः पञ्चमलकारे अडागमः ❀ । इमे सर्वप्राणिनिवासस्थानभूते परिदृश्यमाने उभे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अभयम् । करतीति अनुषज्यमानं क्रियापदम् अत्र द्विवचनान्तत्वेन विपरिणमयितव्यम् । कुर्याताम् । तथा पश्चात् पश्चिमस्यां दिशि नः अस्माकम् अभयम् अस्तु । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि उत्तरात् उदीच्यां दिशि अधरात् तत्तरप्रतियोगिकः अधरशब्दो दक्षिणदिग्वाची । दक्षिणस्यां दिशि नः अस्माकम् अभयम् अस्तु । ❀ "उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" इति आतिप्रत्ययः ❀ ॥

मध्यमलोक अंतरिक्ष हमको निर्भयता प्रदान करे, और ये सब प्राणियोंके निवासस्थानभूत द्यावापृथिवी हमको निर्भयता प्रदान करें और पश्चिमदिशामें पूर्वदिशामें उत्तर दिशामें और दक्षिण दिशामें हमको अभय प्राप्त हो ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वाः आशा मम मित्रं भवन्तु ॥ ६ ॥

अभयम् । मित्रात् । अभयम् । अमित्रात् । अभयम् । ज्ञातात् ।

अभयम् । पुरः । यः ।

अभयम् । नक्तम् । अभयम् । दिवा । नः । सर्वाः । आशाः । मम । मित्रम् । भवन्तु ॥ ६ ॥

मित्रात् सुहृदः अभयम् भयराहित्यम् अस्तु । सर्वदा हितकारी खलु पुरुषो मित्रम् तस्माद् भयप्रसङ्ग एव नास्ति किमर्थं भयराहित्यम् आशास्यते । सत्यम् । अत्र भयराहित्यं न प्रार्थ्यते किं तु भयव्यतिरिक्तं हितं फलं सर्वदा भवत्विति । ❀ अत्र नञ्स्तदन्यत्वम् अर्थः ❀ । तथा अमित्रात् । ❀ अमेरित्रप्रत्ययः ❀ । शत्रोः सकाशाद् अभयम् अस्तु । अत्र भयपरिहारः प्रार्थ्यते । अमित्रं विशिनष्टि । ज्ञातात् द्वेष्टृत्वेन परिज्ञाताद् अमित्रात् । यः परः ज्ञाताद् अन्यः अपरिज्ञातः प्रकाशशत्रुर्न भवति किं तु गूढशत्रुः तस्माच्च अभयम् अस्तु । नक्तम् रात्रौ दिवा अहनि नः अस्माकम् अभयम् अस्तु । अहोरात्रयोरभयप्रार्थनेन कालनिबन्धनभयपरिहारः । सर्वा आशाः सर्वा दिशः मम अभयकामस्य मित्रम् मित्रवन्मित्रं सर्वदा हितकारिण्यो भवन्तु । अनेन सर्वतो भीतिनिवारणम् आशास्यते ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हमें मित्रसे अभय अर्थात् भयसे भिन्न हितकारक फल सदा प्राप्त हो, शत्रुसे हम निर्भय रहें, हम प्रत्यक्ष शत्रुसे निर्भय रहें और अप्रत्यक्ष शत्रुसे भी हमको किसी प्रकारका भय प्राप्त न होवे, हमें दिन और रात्रिमें अभयता मिले सब दिशाएँ मुझ अभय चाहने वालेके साथ मित्रकी समान हितकारी होवें ॥६॥

द्वितीय अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (५५९).

"असपत्नं पुरस्तात्" इति सूक्तचतुष्कस्य रात्रौ पुरोहितकर्तव्ये राज्ञः शय्यागृहप्रवेशकर्मणि अभिमन्त्रितशर्करायाः प्रतिदिशं प्रदक्षिणं प्रक्षेपे विनियोगः । "अथातो रात्रिसूक्तानां विधिम् अनुक्रमिष्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "त्र्यायुषम् [५.

२८, ७] इति राज्ञे रक्षां कृत्वा असपत्नम् [१६. १६] "इति शर्कराम् अभिमन्त्र्याङ्गुष्ठात् प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्" इति [प० ४. ५]। असपत्नम् इत्येकेन प्रतीकेन समनन्तरं सूक्तत्रयं समानार्थत्वाद् गृह्यते। अत एव असपत्नम् इति अर्थसूक्तम् आथर्वणा व्यवहरन्ति ॥

"असपत्नं पुरस्तात्" इन चार सूक्तोंका रात्रिके पुरोहितके कर्तव्य, राजाके गृहप्रवेशकर्मके अभिमंत्रित रेतेको प्रत्येक दिशा में फेंकनेमें विनियोग होता है। इस विषयमें अथर्वपरिशिष्ट ४।५ का प्रमाण है, कि—"अथातो रात्रिसूक्तविधिं अनुक्रमिष्यामः।० त्र्यायुषम् जमदग्ने (५ । २८ । ७) इति राज्ञे रक्षां कृत्वा असपत्नम् (१६ । १६) इति शर्करां अभिमंत्र्यांगुष्ठात् प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्" ॥—असपत्नम्—इस एक प्रतीकसे समीपके तीनों सूक्त भी समानार्थक होनेसे ग्रहण किये जाते हैं। अत एव अथर्ववेदी असपत्नम्को अर्थसूक्त कहते हैं।

तत्र प्रथमा ॥

असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः॥ १ ॥

असपत्नम्। पुरस्तात्। पश्चात्। नः। अभयम्। कृतम्।
सविता। मा। दक्षिणतः। उत्तरात्। मा। शचीऽपतिः॥ १ ॥

पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि असपत्नम् सपत्नराहित्यं शत्रुबाधापरिहारं नः अस्माकं कृतम् कुरुतम्। सामर्थ्याद् उत्तरार्धे निर्दिष्टौ सवितृशचीपती संबोध्येते। पश्चाच्च अभयं कुरुतम्। ❀ करोतेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक्। अमाङ्योगेपि छन्दसि अडभावः। करोतेर्लोटि वा शपो लुक् ❀ ॥ अथ परोक्षवचनः।

मा मां दक्षिणतः सविता सर्वस्य प्रेरको देवः । रक्षतु इति क्रियाध्याहारः । उत्तरात् उत्तरतः शचीपतिः शची इन्द्राणी तस्याः पतिरिन्द्रः मा मां रक्षतु ॥

हे सविता और शचीपति देवताओं ! तुम पूर्वदिशाको हमारे लिये शत्रुकी बाधासे शून्य करो और पश्चिम दिशाको भी हमारी लिये शत्रुरहित करो । दक्षिणकी ओरसे सविता देवता हमारी रक्षा करें और उत्तरकी ओरसे इन्द्रदेवता हमारी रक्षा करें ॥१॥

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः ।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम् ।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म ॥ २ ॥

दिवः । मा । आदित्याः । रक्षन्तु । भूम्याः । रक्षन्तु । अग्नयः । इन्द्राग्नी इति । रक्षताम् । मा । पुरस्तात् । अश्विनौ । अभितः । शर्म । यच्छताम् ।
तिरश्चीन् । अघ्न्या । रक्षतु । जातऽवेदाः । भूतऽकृतः । मे । सर्वतः । सन्तु । वर्म ॥ २ ॥

द्वितीया ॥ आदित्याः अदितेः पुत्राः सर्वे देवा दिवः द्युलोकाद् मा मा रक्षन्तु । द्युलोकनिबन्धनेभ्योऽशन्यादिभ्यो दैवीभ्य आपद्भ्यो रक्षन्तु ॥ अग्नयः अङ्गनशीला गार्हपत्यादयस्त्रयोग्नयो भूम्याः सकाशाद् रक्षन्तु भूमिहेतुकान् उपद्रवान् परिहरन्तु ।

❀ दिवो भूम्या इत्युभयत्र "भीत्रार्थानाम्०" इति अपादानत्वात् पञ्चमी ❀ ॥ तथा पुरस्तात् पूर्वस्या दिशो मा माम् इन्द्राग्नी रक्षताम् पालयताम् । इन्द्रः पूर्वदिगभिमानी । आहवनीयाग्निरपि पूर्वदिगभिमुख एव प्रणीयते । अतस्तौ ततो रक्षितारौ भवताम् ॥ तथा अश्विना अश्विनौ सूर्यपुत्रौ देवानां भिषजौ नासत्यौ अभितः सर्वतः शर्म सुखं यच्छताम् प्रयच्छताम् । ❀ "पाघ्रा०" इत्यादिना दाणो यच्छादेशः ❀ ॥

तृतीया ॥ तिरश्चीनित्यादि । सैषा द्विपदा ऋक् । जातवेदाः जातानां वेदिता जातैर्विद्यमानो वा अग्निः तिरश्चीन् तिर्यगञ्चनान् अस्मान् रक्षतु । यद्वा तिरश्चीशब्देन विदिश उच्यन्ते । ❀ नकारोपजनश्छान्दसः ❀ । तिरश्चीः । ❀ पञ्चम्याः शसादेशः ❀ । तिरश्चीभ्यो दिग्भ्यो रक्षतु । ❀ तिरःपूर्वाद् "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपे श्चुत्वेन शकारः । तिरश्चीनान् अस्मान् इति पक्षे तिर्यक्शब्दाद् "विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति खः । तस्य ईनादेशे तिरश्चीन इति भवति । अत्र अन्त्यलोपश्छान्दसः । अग्नी रक्षतु इत्यत्र । "ढ्रलोपे०" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । भूतकृतः भवनवताम् उत्पत्तिमतां प्राणिनां कर्तारो निर्मातारो देवाः । यद्वा भूता ग्रहपिशाचादयः । तेषां निकर्तितारो हिंसितारो देवाः । ❀ कृती छेदने । क्विप् ❀ । तादृशा देवा मे मम सर्वतः सर्वत्र वर्म परैरभेद्यं सुरक्षकं कवचं सन्तु भवन्तु ॥

इति द्वितीयेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

अदितिके पुत्र सब देवता द्युलोकसे मेरी रक्षा करें अर्थात् द्युलोकसे आने वाली अशनि आदि दैवी आपत्तियोंसे मेरी रक्षा करें, गार्हपत्य आदि तीनों अग्नियें भूमिके उपद्रवोंसे मुझको बचावें, इन्द्र और अग्नि देवता पूर्वदिशामें मेरा पालन करें, तात्पर्य यह है, कि-इंद्र पूर्वदिशाके अभिमानी देवता हैं, और

आहवनीयाग्नि भी पूर्वदिगभिमुख ही प्रणीत होती है अतः वे दोनों पूर्वदिशामें मेरी रक्षा करें। देवताओंके वैद्य सूर्यके पुत्र अश्विनीकुमार चारों ओरसे मुझको सुख देवें। जातवेदा अग्निदेव दिशाओंसे हमारी रक्षा करें। भूत पिशाच आदिका दमन करने वाले देवता चारों ओरसे मेरे लिये अभेद्य कवचरूप होवें २

द्वितीय अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५६०)

"अग्निर्मा पातु" इति सूक्तद्वयस्य रात्रौ राज्ञः शय्यागृहप्रवेशनार्थं पुरोहितेन कर्तव्ये पिष्टमयरात्रिप्रतिमादिसमर्चनकर्मणि प्रतिदिशं शर्कराचतुष्टयप्रक्षेपानन्तरं राजानम् अधिष्ठापितायाः पञ्चम्याः शर्करायाः प्रतिदिशं प्रक्षेपे विनियोगः।

अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह।
अर्चितां गन्धमाल्येन स्थापयेत् तस्य चाग्रतः॥

इति प्रक्रम्य [प० ४. ३] उक्तं परिशिष्टे। "अभयम् [१६. १५. ५] इत्यृचा चतस्रः शर्कराः प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत्। एह्यश्मानम् आ तिष्ठ [२. १३. ४] इति पञ्चमीम् अधिष्ठापयेत्। न तं यक्ष्माः [१६. ३८] ऐतु देवः [१६. ३६] इति गुग्गुलुकुष्ठधूपं दद्यात्। यस्ते गन्धः [१२. १. २३–२५] त्र्यायुषम् [५. २८. ७] इति भूमिं प्रयच्छेत्। दूष्या दूषिरसि [२. ११. १] इति प्रतिसरम् आबध्य तां शर्कराम् अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्तात् [१६. १७] इति प्रतिदिशं क्षिपेत्" [प० ४. ४] इति॥

तत्र "अग्निर्मा पातु" इति सूक्ते एकैकस्याः प्राच्यादिमहादिशो द्वौ द्वौ पर्यायौ ध्रुवाया ऊर्ध्वाया दिशश्च एकैक इति दश पर्यायाः॥

"अग्निर्मा पातु" इन दोनों सूक्तोंका, रात्रिमें राजाके शय्यागृहप्रवेशनार्थ पुरोहितके कर्तव्य पिट्ठीकी रात्रिप्रतिमा आदिके पूजनकर्ममें प्रत्येक दिशामें चार धूलिकण फेंकनेके अनंतर राजा पर स्थापित पाँचवें धूलिकणके प्रतिदिश प्रक्षेपमें विनियोग है"

"अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह । अर्चितां गंधमाल्येन स्थापयेत् तस्य चाग्रतः ॥–राजाके सामने पिट्ठीकी रात्रिमूर्त्ति बनावे, उसके चारों ओर चार दीपक बनावे और गंध और माल्यसे उसको अलंकृत करे ॥" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ३) कहकर अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि–"अभयं (१९ । १५ । ५) इत्यृचा चतस्रः शर्कराः प्रदक्षिणं प्रतिदिशं क्षिपेत् । एह्यश्मानमातिष्ठ (२ । १३ । ४) इति पञ्चमीं अधिष्ठापयेत् । न तं यक्ष्मा (१९ । ३८) ऐतु देवः (१९ । ३९) इति गुग्गुलुकुष्ठधूपं दद्यात् । यस्ते गंधः (१२ । १ । २३–२५) त्र्यायुषं (५ । २८ । ७) इति भूमिं प्रयच्छेत् । दूष्या दूषिरसि (२ । ११ । १) इति प्रतिसरं आबध्य तां शर्करां अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्ताद् (१९ । १७) इति प्रतिदिशं क्षिपेत्" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ४) ॥

"अग्निर्मा पातु" सूक्तमें पूर्व आदि महादिशाके दो दो पर्याय हैं ध्रुवा और ऊर्ध्वा दिशाके एक २ पर्याय हैं । इस प्रकार दश पर्याय हैं ।

तत्र प्रथमपर्याये एष मन्त्र आम्नायते ॥

प्रथम पर्यायमें यह मंत्र है, कि—

अ॒ग्निर्मा॑ पातु॒ वसु॑भिः पु॒रस्ता॑त् तस्मि॑न् क्र॒मे तस्मि॑ञ्छ्र॒ये तां पुरं॒ प्रैमि॑ ।

स मा॑ रक्षतु स मा॑ गोपायतु॒ तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ ददे॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

अ॒ग्निः । मा॒ । पा॒तु॒ । वसु॑ऽभिः । पु॒रस्ता॑त् । तस्मि॑न् । क्र॒मे । तस्मि॑न् । श्र॒ये । ताम् । पुर॑म् । प्र । ए॒मि॒ ।

सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् ।

परि । ददे । स्वाहा ॥ १ ॥

अग्निः पृथिवीस्थानो देवः वसुभिः एतत्संज्ञकैर्देवैः सह पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि मा मां पातु रक्षतु । अग्नेर्वसुसाहित्यम् अन्यत्राम्नायते । "अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्" इति [आश्व० २. ११] । कुत्रस्थं पुरुषं रक्षतु इत्याकाङ्क्षायाम् आह । तस्मिन् क्रमे । क्रमणं क्रमः पादप्रक्षेपः । ❀ भावे घञ् । "नोदात्तोपदेशस्य०" इति वृद्ध्यभावः ❀ । तस्मिन् पादप्रक्षेपे । तस्मिन् श्रये । श्रयणं श्रयः आश्रयः । ❀ "श्रिणीभुवोनुपसर्गे" इति विहितो घञ् व्यत्ययेन न प्रवर्तते । "एरच्" इति अच् प्रत्ययः ❀ । तस्मिन् आश्रये अवस्थाने । पादप्रक्षेपप्रदेशे अवस्थानप्रदेशे चेत्यर्थः । यद्वा क्रमे श्रये इति तिङन्त पदम् । तस्मिन् यस्मिन्नुद्दिष्टे स्थाने क्रमे पादं प्रक्षिपामि । ❀ क्रमतेर्विपूर्वत्वाभावेपि व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । यद्वा । वृत्त्याद्यर्थेषु अनुपसर्गाद् आत्मनेपदम् ❀ । यद् गन्तव्यं स्थानम् उद्दिश्य उत्सहे तत्र । तथा यत् स्थानं श्रये आश्रयामि तत्र । ❀ श्रीञ् सेवायाम् । लटि ञित्त्वात् कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् ❀ ॥ तां पुरम् या उद्दिष्टा पूः शय्यागृहलक्षणा तां पुरं प्रैमि प्रगच्छामि । तत्र सर्वत्र अग्निर्मां पात्विति संबन्धः । यद्वा "आपो मौषधीमतीः" इति षष्ठमन्त्रे तासु क्रमे तासु श्रये इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन आम्नानाद् अत्रापि तस्मिन् क्रमे इत्यत्र एवं व्याख्येयम् । तस्मिन् । सति सप्तमीयम् । तस्मिन् वसुमत्यग्नौ रक्षके सति क्रमे क्रमणं करोमि । तस्मिन् रक्षके सति श्रये आश्रयामि । तां पुरं प्रैमीत्यादि पूर्ववत् । किं च स वसुमान् अग्निः मा मां रक्षतु । सोग्निश्च मा मां गोपायतु । अत्र रक्षणगोपनयोः अहितनिवारणहितकरणहितकरणरूपपालनभेदेन भेदो द्रष्टव्यः ।

❀ गुपेः "गुपूधूप०" इति आयप्रत्ययः ❀। तस्मै सर्वतोरक्षकाय वसुमते अग्नये आत्मानं परि ददे। रक्षणार्थं दानं परिदानम् इत्युच्यते। रक्षार्थं प्रयच्छामि। स्वाहा। तदधीनत्वद्योतनार्थं स्वाहाशब्दप्रयोगः। यथा सुहुतं हविस्तत्तद्देवताधीनं भवति एवम् आत्मापि रक्षणार्थम् अग्न्यधीनो भवत्वित्यर्थः॥

एवम् उत्तरे नव पर्याया व्याख्येयाः। विशेषस्तु तत्रतत्र वक्ष्यते॥

पृथिवीस्थान अग्निदेव वसुनामक देवताओंके साथ पूर्वदिशामें मेरी रक्षा करें, [अग्निका वसुसाहित्य आश्वलायन २। ११ में भी है, कि–"अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्"] यह अग्निदेव पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें। जिस पुर में मैं जाऊँ तहाँ सर्वत्र अग्निदेव मेरी रक्षा करें। वह वसुमान अग्नि मेरी रक्षा करें, वह मेरा पालन करें। मैं चारों ओरसे रक्षा करने वाले वसुमान् अग्निके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा॥ १॥

द्वितीयपर्यायमन्त्रः॥

वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिंछ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ २॥

वायुः। मा। अन्तरिक्षेण। एतस्याः। दिशः। पातु। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि।
सः। मा। रक्षतु। सः। मा। गोपायतु। तस्मै। आत्मानम्। परि। ददे। स्वाहा॥ २॥

वायुः अन्तरिक्षस्थानो देवः अन्तरिक्षेण स्वाधिष्ठितेन मध्यमलोकेन सह मा माम् एतस्याः पूर्वमन्त्रे पुरस्ताद् इति निर्दिष्टायाः प्राच्या दिशः पातु । ❀ "भीत्रार्थानाम्०" इति अपादानत्वात् पञ्चमी ❀ ॥ तस्मिन् क्रम इत्यादि पूर्ववत् ॥

अंतरिक्षस्थान वायुदेव स्वाधिष्ठित मध्यमलोकके साथ पूर्वदिशा में मेरी रक्षा करें । यह अग्निदेव प्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थान में मेरी रक्षा करें । जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जाऊँ तहाँ सर्वत्र वायुदेव मेरी रक्षा करें, वह वायु मेरी रक्षा करें, वह वायु मेरा पालन करें, मैं चारों ओरसे रक्षा करने वाले वायुके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ–रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ । स्वाहा २

तृतीयपर्यायः ॥

सोमो मा रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।
स मा रक्षतु स मा गोपयतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ३ ॥

सोमः । मा । रुद्रैः । दक्षिणायाः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ।
सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ३ ॥

सोमो देवः रुद्रैः रोदयितृभिः । एतत्संज्ञकैर्देवैः मा मां दक्षिणस्या दिशः पातु । सोमस्य रुद्रसाहित्यम् अन्यत्राम्नायते । "सोमो रुद्रैरभिरक्षतु त्मना" इति [आश्व० २. ११] शिष्टं पूर्ववन्नेयम् ॥

सोम देवता रौद्र रुद्रदेवताओंके साथ दक्षिण दिशामें मेरी रक्षा करें [सोमका रुद्रसाहित्य आश्वलायन २।११ में भी कहा है, कि–"सोमो रुद्रैरभिरक्षतु त्मना ।–सोमदेव रुद्र देवताओंके साथ मेरी रक्षा करें"] यह सोमदेव पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें। यह सोम मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जारहा हूँ तहाँ सर्वत्र सोमदेव मेरी रक्षा करें,वह मेरा पालन करें मैं चारों ओरसे रक्षा करने वाले सोमके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ–रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ३ ॥

चतुर्थपर्यायः ॥

वरु॑णो मादि॒त्यैरे॒तस्या॑ दि॒शः पा॑तु तस्मि॑न् क्र॒मे तस्मि॑ञ्छ्र॒ये तां पुरं॒ प्रैमि॑।

स मा॑ रक्षतु स मा॑ गोपायतु तस्मा॑ आ॒त्मानं॒ परि॑ द॒दे स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

वरु॑णः। मा॒। आ॒दि॒त्यैः। ए॒तस्याः॑। दि॒शः। पा॒तु। तस्मि॑न्। क्र॒मे। तस्मि॑न्। श्र॒ये। ताम्। पुर॑म्। प्र। ए॒मि।

सः। मा॒। र॒क्ष॒तु। सः। मा॒। गो॒पा॒य॒तु। तस्मै॑। आ॒त्मान॑म्। परि॑। द॒दे। स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

वरुणः वारको देवः आदित्यैः अदितिपुत्रैः एतत्संज्ञैर्देवैः सह। वरुणस्य आदित्यसाहित्यम् अन्यत्र श्रूयते। "आदित्यैर्नो वरुणः शर्म यंसत्" इति [आश्व० २. ११]। एतस्या दक्षिणाया दिशः पातु ॥ शिष्टं व्याख्यातम् ॥

वारकदेव वरुण अदितिके पुत्र आदित्यनामक देवताओंके साथ इस दक्षिणदिशामें मेरी रक्षा करें [वरुणका आदित्य-साहित्य आश्वलायन २।११ में लिखा है, कि–"आदित्यैर्नो वरुणः शर्मयंसत्"] यह वरुणदेव पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें। यह वरुण मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जा रहा हूँ तहाँ सर्वत्र वरुणदेव मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें। मैं चारों ओरसे रक्षा करने वाले वरुणके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ–रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ४ ॥

पञ्चमपर्यायः ॥

सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ५ ॥

सूर्यः। मा। द्यावापृथिवीभ्याम्। प्रतीच्याः। दिशः। पातु। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि। सः। मा। रक्षतु। सः। मा। गोपायतु। तस्मै। आत्मानम्। परि। ददे। स्वाहा ॥ ५ ॥

सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः। ❀ "राजसूयसूर्य०" इति सुवतेः सूयतेर्वा सूर्यशब्दः क्यबन्तत्वेन निपातितः ❀। द्यावापृथिवीभ्यां सह। तत्प्रकाश्यत्वेन तत्साहित्यम्। प्रतीच्याः पश्चिमाया दिशः। शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सर्वप्रेरक सूर्यदेव द्यावापृथिवीके साथ पश्चिम दिशामें मेरी रक्षा करें। यह सूर्यदेव पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें। जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जारहा हूँ तहाँ सर्वत्र वरुणदेव मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें। मैं रक्षा करने वाले सूर्यदेवके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ—रक्षाके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ५ ॥

षष्ठपर्यायः ॥

आपो मौषधीमतीरेतस्यां दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि ।
ता मा रक्षन्तु ता मा गोपायन्तु ताभ्य आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ६ ॥

आपः । मा । ओषधीऽमतीः । एतस्याः । दिशः । पान्तु । तासु । क्रमे । तासु । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ।
ताः । मा । रक्षन्तु । ताः । मा । गोपायन्तु । ताभ्यः । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ६ ॥

ओषधीमतीः ओषधीमत्यः । ❀ "वा छन्दसि" इति पूर्वसवर्णदीर्घः ❀ । आपः । अपाम् ओषधीसाहित्यं संपोष्यत्वेन हेतुना । एतस्या दिशः ता मां पान्तु । तासु ओषधीमतीष्वप्सु रक्षिकासु सतीषु क्रमे गन्तव्यं स्थानं प्रति पादं प्रक्षिपामि । तासु रक्षित्रीषु श्रये संश्रये अवतिष्ठे । तां पुरम् शय्यागृहलक्षणां प्रैमि प्रगच्छामि । तत्र सर्वत्र आपः पान्तु इति संबन्धः । किं च ता आपो मा मां रक्षन्तु । ताश्च मा गोपायन्तु । ताभ्यः अद्भ्यः आत्मानं परि ददे रक्षणार्थं प्रयच्छामि । स्वाहाशब्दो व्याख्यातः ॥

ओषधि वाले जल इस दिशासे मेरी रक्षा करें, [पुष्टिप्रद होनेसे जल और ओषधियोंका साहित्य कहा है] यह जल पाद-प्रक्षेप और पादप्रक्षेपके स्थानमें मेरी रक्षा करें, जिस शय्यागृह-रूप पुरमें मैं जा रहा हूँ तहाँ सर्वत्र जल मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, मैं रक्षक जलके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ–रक्षाके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ६ ॥

सप्तमपर्यायः ॥

विश्वकर्मा मा सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ७ ॥

विश्वऽकर्मा । मा । सप्तऋषिऽभिः उदीच्याः । दिशः । पातु । तस्मिन् । क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि । सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ ७ ॥

विश्वकर्मा विश्वं सर्वं कर्म कार्यं सृज्यं यस्माद्भवति स विश्वकर्मा विश्वजगत्कारणभूतः परमात्मा सप्तर्षिभिः स्वमनःसृष्टैः सप्तसंख्याकैर्ऋषिभिः सह मा माम् उदीच्या उत्तरस्या दिशः पातु । विश्वकर्मणः सप्तर्षिसाहित्यं स्वकार्यत्वेन । उक्तं च भगवता गीतासु ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

इति [भ० गी० १०. ६] ॥ तस्मिन् सप्तर्षिसहिते विश्वकर्मणि रक्षितरि क्रमे इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सम्पूर्ण सृज्य (कार्य) जिनसे होता है वह जगत्के कारण-भूत परमात्मा—विश्वकर्मा अपने मनसे रचे हुए सप्त ऋषियोंके साथ मुझे उत्तर दिशामें बचावें [भगवान्ने गीतामें 'विश्वकर्मा का सप्तर्षिसाहित्य स्वकार्यरूप से कहा है, कि—"महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः" (भगवद्गीता १० । ६)] मैं उन सप्तर्षिसहित विश्वकर्माके रक्षक होनेके कारण पादप्रक्षेप करता हूँ पादप्रक्षेप के स्थानका आश्रय लेता हूँ । जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जा रहा हूँ, तहाँ विश्वकर्मा—परमात्मा—सहित सप्त ऋषि मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, मैं रक्षक सप्तर्षिसहित परमात्माके लिये अपने को अर्पित करता हूँ, रक्षा करनेके लिये अर्पण करता हूँ ॥ ७ ॥

अष्टमपर्यायः ॥

इन्द्रो मा मरुत्वानेतस्या दिशः पातु तस्मिन् क्रमे
तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि ।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि
ददे स्वाहा ॥ ८ ॥

इन्द्रः । मा । मरुत्ऽवान् । एतस्याः । दिशः । पातु । तस्मिन् ।
क्रमे । तस्मिन् । श्रये । ताम् । पुरम् । प्र । एमि ।
सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् ।
परि । ददे । स्वाहा ॥ ८ ॥

मरुत्वान् मरुद्भिस्तद्वान् । ❀ "झयः" इति मतुपो वत्वम् ❀ । स इन्द्रः एतस्याः पूर्वमन्त्रोक्ताया उदीच्या दिशः पातु । इन्द्रस्य मरुत्साहित्यम् अन्यत्राम्नायते । "वृत्रस्य त्वा श्वसथाद् ईषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः । मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि" इति [ऋ० ८. ९६. ७] । अस्य मन्त्रस्य ऐतरेयकब्राह्मणम् एवम् आम्नायते । "इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन्त्सर्वा देवता अब्रवीद् अनु मोपतिष्ठध्वम् उप माह्वयध्वम् इति । तथेति तं हनिष्यन्त आद्रवन् । सोवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति हन्तेमान् भीषया इति । तान् अभि प्राश्वसीत् । तस्य श्वसथाद् ईषमाणा विश्वेदेवा अद्रवन् । मरुतो हैनं नाजहुः प्रहर भगवो जहि वीरयस्वे-त्येवैनम् एतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त" इति [ऐ० ब्रा० ३. २०] । तस्मिन् मरुत्वति इन्द्रे रक्षितरि ॥ शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

मरुतों सहित इन्द्र पूर्वमन्त्रमें कही हुई उत्तर दिशामें मेरी रक्षा करें [इन्द्रका मरुत्साहित्य अन्यत्र वर्णित है । ऋग्वेद-संहिता ८ । ९६ । ७ में कहा है, कि-वृत्रस्य त्वा श्वसथाद् ईष-माणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः । मरुद्भिरिन्द्र सख्यं ते अस्त्व-थेमा विश्वाः पृतना जयासि ।–हे इन्द्र! वृत्रासुरके श्वाससे भित्र होते हुए भी सब देवताओंने तुमको त्याग दिया था, इस समय मरुतों से ही आपकी मित्रता रही अत एव आप इन सकल सेनाओंको जीतिये ।" इस मंत्रका ऐतरेय ब्राह्मण इस प्रकार है, कि–"इन्द्रो वै वृत्रं हनिष्यन्त्सर्वा देवता अब्रवीत् अनु मोपतिष्ठध्वम् उप माह्व-यध्वम् इति । तथेति तं हनिष्यन्त आद्रवन् । सोवेन्मां वै हनिष्यन्त आद्रवन्ति हन्तेमान् भीषया इति । तान् अभि प्राश्वसीत् । तस्य श्वसथाद् ईषमाणा विश्वे देवा अद्रवन् । मरुतो हैनं नाजहुः । प्रहर भगवो जहि वीरयस्वेत्येवैनं एतां वाचं वदन्त उपातिष्ठन्त ।–वृत्रासुरके संहारके समय इन्द्रने सब देवताओंसे कहा, कि–तुम

मेरे खड़े होनेके अनुसार मेरे पास खड़े रहो और मेरे पास खड़े होकर शत्रुका आह्वान करो। तब देवताओंने तथास्तु कहकर वृत्रको मारनेके लिये उस पर धावा बोला। जब उसने यह जाना, कि—यह मुझे मारनेके लिये आते हैं तब उसने मनमें विचारा, कि—मैं इनको डराऊँ। तब उसने फुङ्कार भरी उसकी फुङ्कार से डर कर सब देवता भागने लगे, परन्तु मरुत्-देवताओंने इन्द्र का साथ नहीं छोड़ा। और "हे भगवन्! प्रहार करिये, इसको मारिये" यह कहते हुए उसके समीप ही खड़े रहे" (ऐतरेय ब्राह्मण ३। २०) ॥ यह मरुतों सहित इन्द्र पादप्रक्षेपमें और पादप्रक्षेप के स्थानमें मेरी रक्षा करें, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जारहा हूँ, तहाँ यह मरुतों सहित इन्द्र मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, मैं रक्षक मरुत्वान् इन्द्रके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ। रक्षाके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा ॥ ८ ॥

नवमपर्यायः ॥

प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा ॥ ९ ॥

प्रजाऽपतिः। मा। प्रजननऽवान्। सह। प्रतिऽस्थायाः। ध्रुवायाः। दिशः। पातु। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि।
सः। मा। रक्षतु। सः। मा। गोपायतु। तस्मै। आत्मानम्। परि। ददे। स्वाहा ॥ ९ ॥

प्रजननवान् प्रजननं नाम सर्वजगदुत्पादनसाधनम् तद्वान्। यद्वा प्रजननं पुंव्यञ्जकम् स्त्रीपुंससृष्टेस्तद्धेतुत्वात्। प्रजापतिः प्रकर्षेण जायमाना मनुष्यादिकाश्चराचरात्मिकाः प्रजाः तासां पतिः स्रष्टा देवः। सहसामर्थ्यात् प्रजननेन साकम् इत्यर्थः। यद्वा प्रतिष्ठायाः। ❀ तृतीयार्थे षष्ठी ❀। प्रतिष्ठया सहेति। प्रतिष्ठायाः सर्वजगदाधारभूताया ध्रुवायाः स्थिराया भूमेर्दिशः। भूमिरपि अधरदिक्त्वेनोच्यते। तस्याः पातु॥ तस्मिन् क्रमे इत्यादि शिष्टम् अविशिष्टम्॥

सकल जगत्की उत्पत्तिके साधन प्रजननसे सम्पन्न मनुष्य आदि चराचरात्मक प्रजाओंके पति प्रजननके साथ सब जगत्की आधारभूत स्थिरभूमिदिशा (अधरदिशा) से मेरी रक्षा करें। प्रजनन सम्पन्न प्रजापतिके रक्षक होनेके कारण मैं पैर उठाता हूँ और स्थानका आश्रय लेता हूँ, जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जा रहा हूँ तहाँ प्रजापति मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें। मैं रक्षक प्रजापतिके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ-रक्षाके लिये अर्पण करता हूँ। स्वाहा॥ ९॥

दशमपर्यायः॥

बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वाया दिशः पातु तस्मिन् क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ १०॥

बृहस्पतिः। मा। विश्वैः। देवैः। ऊर्ध्वायाः। दिशः। पातु। तस्मिन्। क्रमे। तस्मिन्। श्रये। ताम्। पुरम्। प्र। एमि।

सः । मा । रक्षतु । सः । मा । गोपायतु । तस्मै । आत्मानम् । परि । ददे । स्वाहा ॥ १० ॥

बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां पतिर्देवो विश्वैः सर्वैर्देवैः सह ऊर्ध्वाया उपरिस्थिताया दिवो दिशः । द्यौरपि ऊर्ध्वदिक्त्वेन तत्रतत्रोच्यते । तस्याः पातु । तस्मिन् विश्वदेवसहिते बृहस्पतौ रक्षितरि क्रमे पादप्रक्षेपं करोमि ॥ शिष्टं पूर्ववन्नेयम् ॥

इति द्वितीयेनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

बड़े २ देवताओंके हितकारक होनेसे उनके पति बृहस्पति नामक देव सकल देवताओंको साथमें लेकर ऊपरकी दिशा द्युलोकके उपद्रवोंसे मेरी रक्षा करें । सकल देवताओंके रक्षक बृहस्पतिदेवके रक्षक होनेके कारण मैं विक्रमण करता हूँ, स्थान का आश्रय लेता हूँ जिस शय्यागृहरूप पुरमें मैं जा रहा हूँ तहाँ देवताओं सहित बृहस्पतिदेव मेरी रक्षा करें, मेरा पालन करें, मैं रक्षक प्रजापतिके लिये अपनेको अर्पण करता हूँ—रक्षा करनेके लिये देता हूँ, स्वाहा ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (५६१)

"अग्नि ते वसुमन्तम्" इति सूक्तस्य पिष्टरात्रीसमर्चने कर्मणि शर्कराप्रक्षेपे पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

अत्र पूर्वसूक्ते प्राच्यादिदिग्भ्यो रक्षिका वसुमदग्न्यादिदेवताः तत्तद्दिगवस्थिताः सत्यः शत्रुसकाशाद् रक्षन्तु इति प्रतिपाद्यते । अत्र तु तासु देवतासु तत्तद्दिश आगच्छन्तः स्वद्वेषिणः अनिष्टकारिणो नाशार्थं प्रविशन्तु इति प्रतिपाद्यते इत्येतावान् विशेषः ॥ अत्रापि दश पर्यायाः । सर्वेपि अर्धर्चाः ॥

"अग्नि ते वसुमन्तम्" सूक्तका पिष्टरात्रिसमर्चनकर्मके शर्कराप्रक्षेपमें पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है ।

पूर्व सूक्तमें यह प्रतिपादन किया है, कि-पूर्व आदि दिशाओं से बचाने वाले वसुमत् अग्नि आदि देवता उन २ दिशाओंमें स्थित रह कर शत्रुओंसे हमारी रक्षा करें। और इस सूक्तमें यह प्रतिपादन किया जावेगा, कि-उन देवताओंमें अमुक अमुक दिशासे आते हुए द्वेषी अनिष्टकारी प्रविष्ट होजावें। इस सूक्तमें भी दश पर्याय हैं। सब ही अर्धर्च हैं।

प्रथमपर्यायद्वयम् एवम् आम्नायते ॥

अग्निं ते वसुवन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात् ॥ १ ॥

अग्निम् । ते । वसुऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । प्राच्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥ १ ॥

वायुं तेऽन्तरिक्षवन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ २ ॥

वायुम् । ते । अन्तरिक्षऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । एतस्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥२॥

अघायवः अघं हिंसालक्षणं पापं परस्येच्छन्तः । ❀ अघशब्दात् "छन्दसि परेच्छायामपि" इति क्यच् । "अश्वाघस्यात्" इति आत्त्वम् । क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ । जिघांसवो ये शत्रवः प्राच्याः पूर्वस्या दिश आगत्य मा मां रात्रीसमर्चनकारिणं माम् अभिदासात् अभितः सर्वतो दासयेयुः उपक्षपयेयुः हिंस्युः। ❀ दसु उपक्षये। अस्माण्ण्यन्ताद् अभिपूर्वात् पञ्चमलकारे "तिङां तिङो भवन्ति" इति झेस्तिबादेशः। "इतश्च लोपः०" इति इकार-

लोपः । "लेटोडाटौ" इति आडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति तिप आर्धधातुकत्वेन "णेरनिटि" इति णिलोपः । प्रत्ययलक्षणपरिभाषया "अत उपधायाः" इति वृद्धिः ❀ । ते अभिदासकाः शत्रवो वसुमन्तम् वसुभिर्देवैस्तद्वन्तम् अग्निम् ऋच्छन्तु मरणार्थं प्राप्नुवन्तु । ❀ ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु । अस्मात् लोट् ❀ ॥ एवम् उत्तरे नव पर्यायमन्त्रा व्याख्येयाः ॥ अन्तरिक्षवन्तम् अन्तरिक्षम् अधिष्ठेयत्वेन यस्यास्ति तं वायुं ते अघायवः शत्रवः ऋच्छन्तु प्रलयार्थं प्राप्नुवन्तु ये अघायवः शत्रवः एतस्याः प्राच्या दिशः सकाशाद् आगत्य मा माम् अभिदासात् अभिदासयेयुः हिंस्युः ॥

हिंसालक्षणरूप पापको दूसरेके लिये चाहने वाले जो शत्रु पूर्व दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका हिंसन करना चाहते हैं, वे शत्रु वसुमान् अग्निमें पड़ कर मृत्युको प्राप्त होवें ॥ १ ॥

हिंसारूप पापको दूसरेके लिये चाहने वाले जो शत्रु पूर्व दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका हिंसन करना चाहते हैं वे शत्रु अन्तरिक्षमें रहने वाले वायुको प्राप्त होकर मृत्युको प्राप्त होजावें ॥ २ ॥

तृतीयचतुर्थपर्यायमन्त्रौ ॥

सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात् ॥ ३ ॥

सोमम् । ते । रुद्रऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । दक्षिणायाः । दिशः । अभिऽदासात् ३

वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु ।

ये मांघायवं एतस्यां दिशोऽभिदासात् ॥ ४ ॥

वरुणम् । ते । आदित्यऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । एतस्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥४॥

ते हिंसकाः शत्रवो रुद्रवन्तम् रुद्रैर्देवैस्तद्वन्तं सोमं देवम् ऋच्छन्तु नाशार्थं गच्छन्तु ॥ आदित्यवन्तम् आदित्यैरदितिपुत्रैः आदित्यसंज्ञकैर्वा देवैस्तद्वन्तं वरुणम् अरिष्टनिवारकं देवं ते शातयितारो रिपवः ऋच्छन्तु । एतस्या दक्षिणाया दिशः॥ शिष्टं पूर्ववत् ॥

हिंसारूप पापको दूसरेके लिये चाहने वाले जो शत्रु दक्षिण दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका हिंसन करना चाहते हैं। वे शत्रु रुद्रदेवोंसहित सोमको नाशके लिये प्राप्त होवें ॥ ३ ॥

हिंसारूप पापको दूसरोंके लिये चाहने वाले जो शत्रु पूर्वमंत्रोक्त दक्षिण दिशासे आकर मुझ रात्रिसमर्चनकारीका हिंसन करना चाहते हैं वे शत्रु अदितिके पुत्रोंकी सहायता वाले वरुणदेवके बन्धनमें पड़ कर नष्ट होजावें ॥ ४ ॥

पञ्चमषष्ठमन्त्रपाठस्तु ॥

सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु ।

ये मांघायवः प्रतीच्यां दिशोऽभिदासात् ॥ ५ ॥

सूर्यम् । ते । द्यावापृथिवीऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । प्रतीच्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥ ५ ॥

अपस्त ओषधीमतीर्ऋच्छन्तु ।

ये मांघायवं एतस्यां दिशोऽभिदासात् ॥ ६ ॥

अपः । ते । ओषधीऽमतीः । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । एतस्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥ ६ ॥

द्यावापृथिवीवन्तम् द्यावापृथिव्यौ यस्य प्रकाश्यत्वेन स्तः । ❀ इति मतुप् । "छन्दसीरः" इति तस्य वत्वम् ❀ ॥ ओषधीमतीरपः उदकानि । कर्म । एतस्याः प्रतीच्या दिशः ॥ शिष्टं निगदसिद्धम् ॥

हिंसारूप पापको दूसरेके निमित्त करना चाहने वाले जो शत्रु पश्चिम दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका वध करना चाहते हैं वे शत्रु द्यावापृथिवीको अपने प्रकाशसे व्याप्त करने वाले सूर्यको प्राप्त होकर नष्ट होजावें ॥ ५ ॥

हिंसारूप पापको चाहते हुए जो शत्रु पूर्व मन्त्रोक्त पश्चिम दिशासे आकर मुझ रात्रिपूजकका संहार करना चाहते हैं वे शत्र औषधिवाले जलको पाकर नष्ट होजावें ॥ ६ ॥

सप्तमाष्टमपर्यायमन्त्रपाठस्तु ॥

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायव उदीच्या दिशोऽभिदासात् ॥ ७ ॥

विश्वऽकर्माणम् । ते । सप्तऋषिऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । उदीच्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥७॥

इन्द्रं ते मरुत्वन्तमृच्छन्तु ।

ये माघायव एतस्या दिशोऽभिदासात् ॥ ८ ॥

इन्द्रम् । ते । मरुत्ऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।

ये । मा । अघऽयवः । एतस्याः । दिशः । अभिऽदासात् ॥ ८ ॥

सप्तऋषिवन्तम् सप्तसंख्याकाः ऋषयः स्तुत्यत्वेन यस्य सन्ति । ❀ इति मतुप् । "ऋत्यकः" इति प्रकृतिभावः । "छन्दसीरः" इति मतुपो वत्वम् ❀ ॥ मरुत्वन्तम् मरुद्भिस्तद्वन्तम् इन्द्रम् । एतस्या उदीच्या दिशः ॥ शिष्टं व्याख्यातम् ॥

हिंसारूप पापको चाहने वाले जो शत्रु उत्तरदिशासे आकर मुझ रात्रिप्रतिमापूजकका संहार करना चाहैं वे शत्रु सप्तर्षियोंसे सम्पन्न विश्वकर्मा परमात्माको प्राप्त होकर नष्ट होजावें ॥ ७ ॥

हिंसारूप पापकी इच्छासे जो शत्रु पूर्वोक्त उत्तरदिशासे आकर मुझ रात्रिसमर्चनकारीका संहार करना चाहैं वे शत्रु मरुत्वान् इन्द्रको पाकर नष्ट होजावें ॥ ८ ॥

नवमदशमपर्यायौ एवम् आम्नायेते ॥

प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायवो ध्रुवाया दिशोऽभिदासात् ॥ ९ ॥

प्रजाऽपतिम् । ते । प्रजननऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।
ये । मा । अघऽयवः । ध्रुवायाः । दिशः । अभिऽदासात् ॥ ९ ॥

बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु ।
ये माघायव ऊर्ध्वायाः दिशोऽभिदासात् ॥ १० ॥

बृहस्पतिम् । ते । विश्वदेवऽवन्तम् । ऋच्छन्तु ।
ये । मा । अघऽयवः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अभिऽदासात् ॥ १० ॥

प्रजननं नाम सर्वजगदुत्पादनसाधनं वस्तु । यद्वा प्रजननम् इति पुंव्यञ्जनम् उच्यते । स्त्रीपुंसस्सृष्टेस्तन्निमित्तकत्वात् ॥ विश्व-

देववन्तम् विश्वैर्देवैस्तद्वन्तम् । ❀ "मादुपधायाः०" इति मतुपो वत्वम् ❀ । बृहस्पतिम् बृहतां महतां देवानां पतिं देवम् ॥ शिष्टम् अविशिष्टम् ॥

इति द्वितीयेऽनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

वे प्रजननसम्पन्न प्रजापतिको पाकर नष्ट होजावें जो अघायु मुझको ध्रुवदिशासे उठ कर संहार करना चाहें ॥ ६ ॥

जो ऊर्ध्वा दिशासे आकर मुझ रात्रिसमर्चनकारीका संहार करना चाहते हैं वे अघायु सकल देवोंसे सम्पन्न बृहस्पतिको पा कर नष्ट होजावें ॥ १० ॥

द्वितीय अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (५६२)

"मित्रः पृथिव्योदक्रामत्" इति सूक्तेन पुरोहितो रात्रौ राजानं शय्यागृहं प्रवेशयेत् । परिशिष्टं तु पूर्वमेव उदाहृतम् । राज्ञो नूतन-नगरप्रवेशनकर्मणि च विनियोगः ॥

"मित्रः पृथिव्योदक्रामत्" सूक्तसे पुरोहित रात्रिमें राजाको शय्यागृहमें प्रवेश करावे । परिशिष्ट पहले ही कह दिया है राजा के नूतननगरप्रवेशकर्ममें भी इसका विनियोग होता है ।

तत्र प्रथमा ॥

मित्रः पृथिव्योदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १ ॥

मित्रः । पृथिव्याः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः । ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ १ ॥

मित्रः। मित्रशब्देन अग्निरुच्यते। पृथिव्याः साहचर्यात् पृथिवीस्थानत्वाद् अग्नेः "सूर्यो दिवोदक्रामत्" इति सूर्यस्य पृथग्वक्ष्यमाणत्वाच्च। मित्रः अग्निः मीयमानत्वाद् आहवनीयादिस्वरूपेण प्रणीयमानत्वात्। ❀ डुमिञ् प्रक्षेपणे। अस्माद् औणादिकः क्त्रन् प्रत्ययः। कित्त्वाद् गुणाभावः ❀। पृथिव्या स्वनिवासस्थानभूतेन पृथिवीलोकेन सह उदक्रामत् उत्क्रान्तवान्। यां पुरं रक्षितुम् इति शेषः। तां पृथिवीलोकाभिमानिना अग्निना रक्षितां पुरम् शय्यागृहलक्षणां प्रसिद्धां नगरीं वा वः युष्मान् राज्ञः। पूजायां बहुवचनम् पुत्रमित्रामात्यावरोधस्त्रीविवक्षया वा बहुवचनम्। पुत्रयोषित्सहितान् युष्मान् प्र णयामि प्रकर्षेण नयामि प्रापयामि। ततः तां पुरम् आ विशत अभिमुखं प्रविशत प्रवेशोन्मुखा भवत। अनन्तरं तां पुरं प्र विशत अन्तःप्रविष्टा भवत। शय्यास्थाने स्वीयसौधे वा निविष्टा भवतेति वा। सा पूः शय्यागृहलक्षणा पुरी वा वः युष्मभ्यं प्रविष्टेभ्यः शर्म सुखं वर्म कवचं पराभेद्यत्वलक्षणम् आवरणं वा यच्छतु प्रयच्छतु। ❀ दाणो यच्छादेशः ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ। एवम् उत्तरे दश पर्यायमन्त्रा व्याख्येयाः। विशेषस्तु तत्रतत्र वक्ष्यते। यथा अग्निः स्वाधिष्ठिते पृथिवीलोके सर्वोत्तरो वर्तते एवं त्वमपि इदं नगरम् अधिष्ठाय सर्वातिशायी वर्तस्वेति विवक्षितम्। यथा पृथिव्या सह अग्निरुत्क्रान्तवान् इत्युक्तः एवम् उत्तरयोर्वायुसूर्यमन्त्रयोस्तात्पर्यार्थ उन्नेयः॥

आहवनीय आदिरूपसे प्रणीयमान होनेके कारण अग्निदेव अपने निवासस्थानभूत पृथिवीलोकसे जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उठते हैं। उस पृथिवीलोकाभिमानी अग्निसे रक्षित शय्या गृहरूपा वा प्रसिद्ध पुरीमें तुम पुत्र स्त्री सहित राजाओंको मैं प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्यास्थान महलमें प्रवेश करो, वह घर वा

पुरी तुमको दूसरेसे कष्टोंको निवारण करनारूप अभेद्य कवच-रूप सुखको प्रदान करे। तात्पर्य यह है, कि—जैसे अग्नि स्वाधिष्ठित पृथिवीलोकमें सर्वश्रेष्ठ होकर रहता है इस प्रकार आप भी इस नगर पर अधिष्ठित हो सर्वश्रेष्ठ बन कर रहिये ॥ १ ॥

अथ द्वितीया ॥

वायुरन्तरिक्षेणोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः। तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ २ ॥

वायुः। अन्तरिक्षेण। उत्। अक्रामत्। ताम्। पुरम्। प्र। नयामि। वः। ताम्। आ। विशत। ताम्। प्र। विशत। सा। वः। शर्म। च। वर्म। च। यच्छतु ॥ २ ॥

वायुः वातो मातरिश्वा अन्तरिक्षेण अन्तरा क्षान्तेन स्वीयेन मध्यमलोकेन सह उदक्रामत्। यां पुरं रक्षितुम् इति शेषः। तां पुरम् इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

वायुदेव अपने निवासस्थान मध्यमलोक अंतरिक्षसे जिस पुर की रक्षा करनेके लिये चलते हैं उस अंतरिक्षलोकाभिमानी वायु से रक्षित शय्यागृहरूपा वा प्रसिद्ध पुरीमें तुम पुत्र स्त्रीसहित राजाको मैं प्रवेश कराता हूँ तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह घर वा पुरी तुमको दूसरेसे कष्टोंको निवारण करना-रूप अभेद्य कवच और सुखको प्रदान करे। तात्पर्य यह है, कि—जैसे वायु स्वाधिष्ठित अन्तरिक्ष लोकमें सर्वश्रेष्ठ होकर रहता है, इस प्रकार आप भी इस नगर पर अधिष्ठित हो सर्वश्रेष्ठ बन कर रहिये ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सूर्यो दिवोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च
यच्छतु ॥ ३ ॥

सूर्यः । दिवा । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च ।
वर्म । च । यच्छतु ॥ ३ ॥

सूर्यः सर्वस्य प्रेरक आदित्यः दिवा स्वनिवासस्थानेन द्युलोकेन सह । उदक्रामत् इत्यादि पूर्ववत् ॥

सर्वप्रेरक आदित्य अपने निवासस्थान भूत द्युलोकसे जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उदित होते हैं, उस द्युलोकाभिमानी सूर्यसे रक्षित शय्यागृहरूपा पुरीमें वा प्रसिद्धपुरीमें मैं तुमको मन्त्री पुत्र और स्त्रीसहित प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरीमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्या भवनमें प्रवेश करो, वह घर वा पुरी तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करना रूप अभेद्य कवच सुखको प्रदान करे अर्थात् नगरमें तुम सूर्यकी समान दमको ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च
यच्छतु ॥ ४ ॥

चन्द्रमाः। नक्षत्रैः। उत्। अक्रामत्। ताम्। पुरम्। प्र। नयामि। वः।
ताम्। आ। विशत। ताम्। प्र। विशत। सा। वः। शर्म।
च। वर्म। च। यच्छतु॥ ४॥

चन्द्रमाः चन्द्रम् आह्लादं माति निर्मिमीत इति चन्द्रमाः सर्वस्य लोकस्य आह्लादको हिमांशुः नक्षत्रैः। न क्षीयन्त इति नक्षत्राणि तारकाः। ❀ "नभ्राण्नपात्" इत्यादिना नक्षत्रशब्दो निपातितः ❀। स्वोपभोग्यैरश्विन्यादिनक्षत्रैः सह नक्षत्राधिपतिश्चन्द्रमाः स्वपरिवारभूतैस्तैरेव सहितो यां पुरं रक्षितुम् उत्क्रान्तवान् तां पुरम्। युष्मान् प्रापयामीत्यादिगतम्॥

चन्द्र अर्थात् आल्हादको प्रदान करने वाले सर्वलोकाल्हादक चन्द्रमा, स्वपरिवारभूत स्वपभोग्य अश्विनी आदि नक्षत्रोंके साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उदित होरहे हैं उस चन्द्रदेवसे रक्षित शय्यागृहरूपा पुरीमें वा प्रसिद्ध पुरीमें तुम पुत्र स्त्रीसहित राजाको मैं प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह घर वा पुरी तुमको दूसरेसे कष्टोंको निवारण करनारूप अभेद्यकवच और सुखको प्रदान करे। तात्पर्य यह है, कि-जैसे स्वाधिष्ठित आकाशमें चन्द्रमा सर्वश्रेष्ठ होकर दमकता है इसी प्रकार इस नगरमें आप सर्वश्रेष्ठ बन कर प्रकाशित हूजिये॥४॥

पञ्चमी॥

सोम ओषधीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च
यच्छतु॥ ५॥

सोमः । ओषधीभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।

ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ५ ॥

सोमः ओषधीनां रसप्रदानेन पोषको देवः ओषधीभिः ओषः पाको धीयत आस्विति ओषध्यः फलपाकान्ताः । उपलक्षणम् एतत् तरुगुल्मादीनाम् । तैः स्वपोष्यैः सहितः । उदक्रामत् इत्यादि गतम् । युष्माभिः प्रविश्यमाने पुरे ओषध्यादिसमृद्धिर्भवत्वित्यर्थः ॥

सोम औषधियों सहित जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भूत होरहा है उस सोमसे रक्षित शय्यागृहरूपा पुरीमें वा प्रसिद्ध पुरीमें तुम राजाको मैं पुत्र स्त्री तथा मंत्री आदि सहित प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह घर वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करनारूप अभेद्यकवच और सुखको प्रदान करे । अर्थात् तुम्हारे प्रवेश करने पर नगरमें औषधि रस आदिकी समृद्धि होवे ॥५॥

षष्ठी ॥

यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ६ ॥

यज्ञः । दक्षिणाभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।

ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च ।
वर्म । च । यच्छतु ॥ ६ ॥

यज्ञः ज्योतिष्टोमादिः प्रकृतिविकृत्यात्मकः सर्वः क्रतुः दक्षिणाभिः विहिताभिर्यथोक्ताभिर्दक्षिणाभिः सह उत्क्रान्तवान्। यां पुरं रक्षितुम् इति । अत्र बहुदक्षिणाका यज्ञाः समृद्धा भवन्त्वित्यर्थः ॥

प्रकृतिविकृत्यात्मक ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ यथोक्त दक्षिणाओं के साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भूत होचुका है, उस दक्षिणाओं सहित यज्ञसे रक्षित शय्यागृहरूप पुरमें वा नगर में तुम राजाको मैं पुत्र स्त्री तथा मन्त्री आदि सहित प्रवेश करता हूँ तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह शय्या वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करना रूप अभेद्य कवच सुखको प्रदान करे अर्थात् तुम्हारे प्रवेश करने पर नगरमें दक्षिणा वाले यज्ञ होवें ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

समुद्रो नदीभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च
यच्छतु ॥ ७ ॥

समुद्रः । नदीभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र ।
नयामि । वः ।
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म ।
च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ७ ॥

नदीभिः नदनशीलाभिरापगाभिः समुद्रः समुद्द्रवन्ति अस्माद् आप इति अम्बुराशिः उदक्रामत् । तां पुरम् इत्यादि गतम् । रक्षोहननार्थं नदीसहितसमुद्रोत्क्रान्त्या दाम्पत्यधर्मविशिष्टाः प्रजा अत्र संपद्यन्ताम् इति विवक्ष्यते ॥

नदियों सहित समुद्र जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भूत हुआ है उस जलराशिसे रक्षित शय्यागृहरूप पुरीमें वा प्रसिद्ध पुरीमें स्त्री पुत्र मन्त्री आदि सहित तुमको मैं प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह शय्यागृह वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करनारूप अभेद्य कवच सुखको प्रदान करे अर्थात् तुम्हारे प्रवेश करने पर नगर में दाम्पत्यसृष्टि बढ़े ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ८ ॥

ब्रह्म । ब्रह्मचारिऽभिः । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः ।
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ ८ ॥

ब्रह्म साङ्गो वेदः ब्रह्मचारिभिः ब्रह्मणि वेदे वेदविहिते यज्ञादिकर्मणि चरितुं वर्तितुं शीलं येषां ते तैः सह उदक्रामत् । अनेन श्रौतस्मार्तकर्मनिष्णाताः साङ्गवेदाध्यायिनः अनूचाना ब्राह्मणा बहवः समृध्यन्ताम् इति विवक्ष्यते । तां पुरम् इत्यादि पूर्ववत् ॥

सांग वेद ब्रह्म, ब्रह्ममें अर्थात् वेदविहित यज्ञादि कर्ममें व्यवहार करनेका जिनका शील होता है उन ब्रह्मचारियोंके साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये प्रादुर्भूत हुआ है इस पुरमें वा शय्यागृहमें मैं स्त्री पुत्र मन्त्री आदि सहित तुमको प्रवेश करता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह शय्यागृह वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करना रूप अभेद्यकवच सुखको प्रदान करे अर्थात् तुम्हारे प्रवेश करने पर नगरमें श्रौतस्मार्तकर्ममें चतुर, सांग वेदका अध्ययन करने वाले बहुतसे ब्राह्मण बढ़ें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

इन्द्रो वीर्ये३णोदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च
यच्छतु ॥ ९ ॥

इन्द्रः । वीर्येण । उत् । अक्रामत् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः
ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च ।
वर्म । च । यच्छतु ॥ ९ ॥

इन्द्रः परमैश्वर्यसंपन्नः समस्तदेवाधिपतिः वीर्येण वीरकर्मणा स्वीयेन बाहुशौर्येण सेनालक्षणेन बलेन वा सह उद्ग अक्रामत् । इन्द्रो यथा स्ववीर्येण सर्वान् शत्रून् जितवान् एवम् अस्मिन् पुरे वर्तमानस्त्वमपि सर्वातिशायी सर्ववैरिक्षयी भूया इत्यर्थः ॥

परमैश्वर्यसम्पन्न समस्तदेवाधिपति इन्द्र अपने भुजबल वा सेनाबलरूप वीरकर्मसे जिस पुरकी रक्षा करनेके लिए उत्क्रान्त

हुए हैं मैं तुमको तिस शय्यागृहरूप पुरमें वा नगरमें प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, यह शय्यागृह वा नगर तुमको दूसरेसे प्राप्त होसकने वाले कष्टोंको निवारण करना रूप अभेद्य कवच सुखको प्रदान करे ॥ ६ ॥

दशमी ॥

देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां पुरं प्र णयामि वः ।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ १० ॥

देवाः । अमृतेन । उत् । अक्रामन् । ताम् । पुरम् । प्र । नयामि । वः । ताम् । आ । विशत । ताम् । प्र । विशत । सा । वः । शर्म । च । वर्म । च । यच्छतु ॥ १० ॥

देवाः द्योतनशीला अमरा अमृतेन अमरणसाधनेन सुधारसेन सह उदक्रामन् । यां पुरं रक्षितुम् इति शेषः । तां पुरम् इत्यादि गतम् । अत्रत्याः प्रजा निर्भीका दीर्घायुषश्च भवन्तु इत्यर्थं विवक्षितुं रक्षणार्थम् अमृतेन सह देवा उत्क्रान्तवन्त इत्युक्तम् ॥

द्योतनशील देवता अमरणसाधन सुधारसके साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उत्क्रान्त हुए हैं, मैं स्त्री पुत्र मन्त्री आदि सहित तुम राजाको उस शय्यागृहरूप पुरमें वा प्रसिद्ध पुरमें प्रवेश कराता हूँ, तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो, फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वह शय्यागृह वा नगर तुमको दुःखनिवारण शक्तिरूप कवच और सुखको प्रदान करे । 'यहाँ की प्रजा निर्भीक और दीर्घायु होवे'

यह कहनेके लिये "अमृतके साथ देवताओंने उत्क्रमण किया" कहा है ॥ १० ॥

एकादशी ॥

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत् तां पुरं प्र णयामि वः। तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु ॥ ११ ॥

प्रजाऽपतिः। प्रऽजाभिः। उत्। अक्रामत्। ताम्। पुरम्। प्र। नयामि। वः।

ताम्। आ। विशत। ताम्। प्र। विशत। सा। वः। शर्म। च। वर्म। च। यच्छतु॥ ११ ॥

प्रजापतिः प्रजानां पतिर्देवः प्रजाभिः प्रकर्षेण बहुत्वेन जायमानाभिर्मनुष्यादिकाभिः उदक्रामत्। तां पुरम् इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्। उत्तरोत्तरं प्रभविष्णुप्रजाभूयिष्ठत्वम् अत्र नगरे भूयाद् इत्याशासितुम् इदं वचनम् ॥

इति द्वितीयेनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

प्रजापति देवने मनुष्य आदि प्रजाओंके साथ जिस पुरकी रक्षा करनेके लिये उत्क्रमण किया है मैं स्त्री पुत्र मन्त्री आदि सहित तुम राजाको उस शय्यागृहरूप पुरमें वा प्रसिद्ध नगरीमें प्रवेश कराता हूँ,तुम उस पुरमें अभिमुख होकर प्रवेश करो फिर उसके भीतर पहुँचो, वा शय्याभवनमें प्रवेश करो, वा शय्याभवन वा पुर तुमको दुःखप्रतिरोधरूप कवच और सुख प्रदान करे ११

द्वितीय अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (५६३)

"अप न्यधुः पौरुषेयम्" इति सूक्तेन युद्धोद्यतं राजानं कवचेन पुरोहितः संनह्येत ॥

"अप न्यधुः पौरुषेयम्" सूक्तसे पुरोहित युद्धोद्यत राजाको कवच पहिरावे ।

तत्र प्रथमा ॥

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः ।

सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान् परि पातु मृत्योः ॥ १ ॥

अप । न्यधुः । पौरुषेयम् । वधम् । यम् । इन्द्राग्नी इति । धाता । सविता । बृहस्पतिः ।

सोमः । राजा । वरुणः । अश्विना । यमः । पूषा । अस्मान् । परि । पातु । मृत्योः ॥ १ ॥

पौरुषेयम् पुरुषैः शातयितृभिररिभिः कृतम् । ❀ "पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्" इति ढञ् । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । तं यं वधम् वधसाधनम् । "हनश्च वधः" इति हन्तेरप् प्रत्ययः । वधश्चादेश आद्युदात्तः ❀ । अप न्यधुः अपाञ्चम् अपगूढं न्यधुः निहितवन्तः । वलगलक्षणं शस्त्रास्त्रादिरूपं वा हननसाधनं मायया परेषाम् अप्रकाशं हननसाधनम् अस्मान् हिंसितुम् अस्मदभिमुखं प्रेरितवन्त इत्यर्थः । ❀ यत्तदोर्नित्यसंबन्धाद् उत्तरवाक्ये तच्छब्दाध्याहारः ❀ । तस्माद् अप्रकाशात् शत्रुभिः प्रहिताद् मृत्योः मृत्युसाधनाद् मृत्युरूपाद्

वा वधाद् अस्मान् कवचधारिणः अस्मदीयान् राज्ञो वा इन्द्राग्न्यादयो देवताः परि पातु । प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् । परितः सर्वतः पान्तु रक्षन्तु । ❀ "भीत्रार्थानाम्०" इति मृत्योरित्यत्र अपादानत्वात् पञ्चमी ❀ ॥

शत्रु पुरुषोंके द्वारा बनायेहुए जिस पुतली वा शस्त्रास्त्रादिरूप मरणसाधनको सर्वसाधारणसे गूढ़ रखकर किया है, उस शत्रुप्रेरित मृत्युसाधनसे कवचधारी हमारे राजाकी वा हमारी इन्द्र अग्नि धाता सविता बृहस्पति सोम राजा वरुण दोनों अश्विनीकुमार यम और पूषा देवता रक्षा करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः ।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु ॥ २ ॥

यानि । चकार । भुवनस्य । यः । पतिः । प्रजापतिः । मातरिश्वा । प्रऽजाभ्यः ।
प्रऽदिशः । यानि । वसते । दिशः । च । तानि । मे । वर्माणि । बहुलानि । सन्तु ॥ २ ॥

भुवनस्य भूतजातस्य पतिः पालको यः प्रजापतिरस्ति स यानि वर्माणि कवचानि चकार । किमर्थम् । प्रजाभ्यः प्रकर्षेण जायमानाभ्यो मनुष्यपश्वादिभ्यः । ❀ तादर्थ्ये चतुर्थी ❀ । तद्रक्षणार्थं मातरिश्वा मातरि अन्तरिक्षे श्वसितीति मातरिश्वा वायुः सूत्रा-

श्वा । प्रजापतेर्विशेषणम् एतत् । तथा प्रदिशः प्रकृष्टाः प्राच्यादि-महादिशः दिशः अवान्तरदिशश्च यानि वर्माणि वसते आच्छादयन्ति स्वरक्षणार्थम् । ❀ वस आच्छादने । आदादिकोऽनुदात्तेत् ❀ । तानि प्रजापतिना प्रजारक्षणार्थं निर्मितानि दिग्भिश्च स्वरक्षणार्थं वसितानि वर्माणि कवचानि मे मम युयुत्सोः बहुलानि प्रभूतानि सन्तु भवन्तु ॥ यदायदापेक्षते तदा लाभाय बहुलानीत्युक्तम् । अथ वा स्वस्य परिवाराणां च अपेक्षया बहुलानीति । यस्य यद् अपेक्षितं तस्य तद् भवत्वित्यर्थः ❀ ॥

भूतसमूहोंके पालक प्रजापतिने प्रजाओंकी रक्षाके लिये जिस कवचका निर्माण किया है, और आकाशमें श्वसन करने वाले मातरिश्वा प्रजापति तथा पूर्व आदि महादिशा और अवान्तर दिशायें अपनी रक्षाके निमित्त जिन कवचोंको पहिरती हैं, वे कवच (अपेक्षाके अनुसार वा पुत्र आदिके लिये) बहुतसे हों २

तृतीया ॥

यत् ते तनूष्वनह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः ।
इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान् पातु विश्वतः ॥ ३ ॥

यत् । ते । तनूषु । अनह्यन्त । देवाः । द्युऽराजयः । देहिनः ।
इन्द्रः । यत् । चक्रे । वर्म । तत् । अस्मान् । पातु । विश्वतः ३

द्युराजयः दिवि द्युलोके राजमाना देहिनः शरीरिणः । कवचधारणं देहस्यैवेति देहिनो देवा इत्युक्तम् । ते प्रसिद्धा देवाः तनूषु स्वशरीरेषु यद् वर्म अनह्यन्त धृतवन्तः । ❀ णह बन्धने । दैवादिकः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् ❀ । असुरयुद्धे स्वदेहरक्षणार्थं प्रतिमुक्तवन्तः । इन्द्रश्च यद् वर्म कवचं चक्रे शत्रुविजयार्थम् । ❀ करोतेः पूर्ववद् आत्मनेपदम् ❀ । तत् कवचं

देवैरिन्द्रेण च स्वशरीरे धारितम् इदं कवचम् अस्मान् युद्धोद्यतान् विश्वतः सर्वतः परकृतप्रहारेभ्यः पातु रक्षतु ॥

द्युलोकमें दमकने वाले देही देवताओंने जिस कवचको अपने शरीरों पर असुरसंग्रामके समय धारण किया था और इन्द्रने जिस कवचको धारण किया था, वह कवच चारों ओरसे हमारी रक्षा करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।

वर्म मे विश्वे देवाः क्रन् मा मा प्रापत् प्रतीचिका ४

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ।

वर्म । मे । विश्वे । देवाः । क्रन् । मा । मा । प्र । आपत् । प्रतीचिका

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ मे मम वर्म कवचं कुरुताम् । अग्निश्च वर्म करोतु । सूर्यश्च विश्वे सर्वे देवाः इन्द्रादयश्च मे मम युयुत्सोर्मदीयस्य वा राज्ञः वर्म कवचं क्रन् कुर्वन्तु । ❀ करोतेश्छान्दसे लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । झेः सार्वधातुकस्य ङित्त्वाद् गुणप्रतिषेधे यण् आदेशः । "बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀ । किं च प्रतीचिका प्रत्यगञ्चना प्रतीची । ❀ अज्ञातार्थे कप्रत्ययः । "केऽणः" इति ह्रस्वत्वम् ❀ । शत्रुसेना अज्ञातप्रतिकूलाञ्चना सती मा मां कवचधारिणं युद्धोद्यतं मो मैव प्रापत् प्राप्नोतु । ❀ आप्नोतेर्माङि लुङि लृदित्त्वाद् अङ् ❀ । कवचधारिणो ममाग्रतः शत्रुसेना प्रकाशैव आयातु । देवानुगृहीतकवचधारणेन दक्षामपि तां परसेनां हन्तुं शक्नोमीत्यर्थः ॥

एकादशं सूक्तम् ॥

इति एकोनत्रिंशे काण्डे द्वितीयोनुवाकः ॥

द्यावापृथिवी मेरे लिये कवचको देवें–बनावें। अग्निदेव मुझको कवच प्रदान करें,सूर्य और अग्नि आदि सब देवता भी मुझ युद्धाभिलाषी वा हमारे राजाको कवच देवें, शत्रुसेना छिपकर हमारे युद्धोद्यत राजाके पास न आने पावे किंतु हम कवचधारियोंके सामने प्रकाशरूपमें आवे,तात्पर्य यह है,कि-देवताओंसे अनुगृहीत कवचको धारण करनेसे हम उस घमण्डमें भरी सेनाका भी घमण्ड चूर्ण कर सकते हैं ॥ ४ ॥

एकादश सूक्त समाप्त (५६४)

उन्नीसवें काण्डमें द्वितीय अनुवाक समाप्त

तृतीयेनुवाके षट् सूक्तानि। तत्र "गायत्र्युष्णिक्" इति प्रथमसूक्तस्य "गायत्रीं छन्दोब्रह्मवर्चसकामस्य प्रयुञ्जीत" इति [न० क० १७] विहितायां गायत्र्याख्यायां महाशान्तौ विनियोगः। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "छन्दोगणः [२२] गायत्र्याम् समासः [२२, २३] आङ्गिरस्याम्" इति [न० क० १८.] ॥

तृतीय अनुवाकमें छः सूक्त हैं। इनमें "गायत्र्युष्णिक्" इस प्रथमसूक्तका "गायत्रीं छन्दो ब्रह्मवर्चसकामस्य–छन्दोब्रह्मवर्चसकामके लिये गायत्री महाशान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित गायत्रीमहाशांतिमें विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"छन्दोगणः (२२) गायत्र्यां समासः (२२, २३) आङ्गिरस्याम्" इति (नक्षत्रकल्प १८) ॥

तत्सूक्तपाठस्तु ॥

गायत्र्युष्णिगनुष्टुब् बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब् जगत्यै १

गायत्री। उष्णिक्। अनुऽस्तुप्। बृहती। पङ्क्तिः। त्रिऽस्तुप्। जगत्यै

"सप्तसु च्छन्दःस्रुचः कल्पयित्वा गायत्र्यादि गायत्र्यै स्वाहा इत्येवं यथाछन्दः" इति तत्रैव नक्षत्रकल्पे मन्त्राणाम् ऊहनप्रकारस्य

दर्शितत्वाद् गायत्र्यै स्वाहा उष्णिहे स्वाहा अनुष्टुभे स्वाहा बृहत्यै स्वाहा पङ्क्त्यै स्वाहा त्रिष्टुभे स्वाहा जगत्यै स्वाहा इत्येवम् अस्मिन् सूक्ते सप्त मन्त्रा भवन्ति। सर्वे मन्त्राः स्पष्टार्थाः ॥

इति तृतीयेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

[सात छन्दोंमें ऋचाओंकी कल्पना करके "गायत्र्यै स्वाहा" आदि छन्दके अनुसार नक्षत्रकल्पोंमें मन्त्रोंका ऊहनप्रकार दिखाया है अत एव इस सूक्तमें सात मन्त्र होते हैं यथा-] गायत्र्यै स्वाहा—गायत्रीकेलिये यह आहुति स्वाहुत हो, उष्णिहे स्वाहा-उष्णिक्छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, अनुष्टुभे स्वाहा-अनुष्टुप् छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, बृहत्यै स्वाहा-बृहती छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, पङ्क्त्यै स्वाहा-पङ्क्ति छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, त्रिष्टुभे स्वाहा-त्रिष्टुप् छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो, और जगत्यै स्वाहा-जगती छन्दके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १ ॥

तृतीय अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५६५)

"आङ्गिरसानामाद्यैः" इत्यादिसूक्तद्वयस्य "आङ्गिरसीं संपत्कामस्य अभिचरतोभिचर्यमाणस्य च" [न० क० १७] इति विहितायाम् आङ्गिरस्याख्यायां महाशान्तौ विनियोगः। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "समासः [१६. २२, २३] आङ्गिरस्याम् इन्द्र जुषस्व [२. ५] इत्यैन्द्र्याम्" इति [न० क० १८] ॥ अत्र समासशब्देन एतम् सूक्तद्वयम् उच्यते ॥

तत्र "आङ्गिरसानामाद्यैः" इति सूक्तम् एवमाम्नायते ॥

"आंगिरसानामाद्यैः" आदि दो सूक्तोंका "आङ्गिरसीं सम्पत्कामस्य अभिचरतोऽचर्यमाणस्य च।—सम्पत्तिके अभिलाषीके लिये अभिचार करने वालेके लिये वा जिसके ऊपर अभिचार

किया गया हो, उसके लिये आङ्गिरसी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आंगिरसी महाशान्तिमें इसका विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"समासः १६।२२–२३) आंगिरस्यां इन्द्र जुषस्व (२ । ५) इत्यैन्द्र्याम्" इति (नक्षत्रकल्प १८) ॥ यहाँ समास—शब्दसे ये दोनों सूक्त लिये जाते हैं।

आङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा ॥ १ ॥

आङ्गिरसानाम् । आद्यैः । पञ्च । अनुऽवाकैः । स्वाहा ॥ १ ॥

षष्ठाय स्वाहा ॥ २ ॥ सप्तमाष्टमाभ्यां स्वाहा ३ नीलनखेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ हरितेभ्यः स्वाहा ॥५॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ पर्यायिकेभ्यः स्वाहा ॥७॥ प्रथमेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वितीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥ तृतीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥ उपोत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ उत्तमेभ्यः स्वाहा १२ उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥ ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ शिखिभ्यः स्वाहा ॥ १५ ॥ गणेभ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥ महागणेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥ सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥ पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा १९ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २० ॥

षष्ठाय । स्वाहा ॥ २ ॥ सप्तमऽअष्टमाभ्याम् । स्वाहा ॥ ३ ॥ नीलऽनखेभ्यः । स्वाहा ॥ ४ ॥ हरितेभ्यः । स्वाहा ॥ ५ ॥ क्षुद्रेभ्यः । स्वाहा ॥ ६ ॥ पर्यायिकेभ्यः । स्वाहा ॥ ७ ॥ प्रथमेभ्यः । शङ्खेभ्यः । स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वितीयेभ्यः । शङ्खेभ्यः । स्वाहा ॥ ९ ॥ तृतीयेभ्यः । शङ्खेभ्यः । स्वाहा ॥ १० ॥ उपऽउत्तमेभ्यः । स्वाहा उत्ऽतमेभ्यः । स्वाहा ॥ १२ ॥ उत्ऽतरेभ्यः । स्वाहा ॥ १३ ॥ ऋषिऽभ्यः । स्वाहा ॥ १४ ॥ शिखिऽभ्यः । स्वाहा ॥ १५ ॥ गणेभ्यः । स्वाहा ॥ १६ ॥ महाऽगणेभ्यः । स्वाहा ॥ १७ ॥ सर्वेभ्यः । अङ्गिरःऽभ्यः । विदऽगणेभ्यः । स्वाहा ॥ १८ ॥ पृथक्ऽसहस्राभ्याम् स्वाहा ॥ १९ ॥ ब्रह्मणे । स्वाहा ॥ २० ॥

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्या॒णि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः

ब्रह्मऽज्येष्ठा । समऽभृता । वीर्या॒णि । ब्रह्म । अग्रे । ज्येष्ठम् । दिवम् । आ । ततान ।

भूतानाम् । ब्रह्मा । प्रथमः । उत । जज्ञे । तेन । अर्हति । ब्रह्मणा स्पर्धितुम् । कः ॥ २१ ॥

अत्र त्रिंशतिकाण्डात्मिकायाम् अस्यां शाखायां विद्यमानानुवाकसूक्तगणविशेषादिसंज्ञारूपैः शब्दैः अनुवाकादिद्रष्टार एत-

न्नामान ऋषयः प्रतिपाद्यन्ते । नीलनखादिसूक्तविशेषाणां प्रसिद्धत्वात् तानि विशेषतो न प्रदर्शितानि । "ब्रह्मणे स्वाहा" इति ब्रह्मशब्देन विंशतिकाण्डात्मकवेदवाचकेन तस्य द्रष्टा ब्रह्माख्य ऋषिः प्रतिपाद्यते । अन्यत् सर्वं निगदव्याख्यातम् ॥ अन्त्ययर्चा पूर्वमन्त्रप्रतिपादितस्य ब्रह्मणः सर्वाभिभावकत्वं प्रतिपाद्यते । वीर्याणि वीरकर्माणि ब्रह्मज्येष्ठा ब्रह्मज्येष्ठानि ब्रह्मा पूर्वोक्तो ज्येष्ठः प्रशस्यतमो येषां तानि । ❀ शेलुक् ❀ । यद्वा ज्येष्ठेन ब्रह्मणा । ❀ एकत्र विभक्तेर्लुक् । अपरत्र तृतीयाया इनादेशाभावः ❀ । संभृता संभृतानि । सर्वस्माद्ध अयमेव वीर्यवान् इत्यर्थः । अग्रे सृष्ट्यादौ ज्येष्ठं ब्रह्म दिवम् द्युलोकम् आ ततान विस्तारितवान् । तथा ब्रह्मा भूतानां सृज्यमानानां प्रथमः पूर्वभावी जज्ञे उत्पन्नः । तेन कारणेन ब्रह्मणा स्पर्धितुम् स्पर्धां कर्तुं कः अन्यो देवो मनुष्यो वा अर्हति समर्थो भवति । अधिकतरवीर्यवत्त्वात् सर्वोत्कृष्टस्थाननिवासित्वात् सर्वेषाम् आदिभूतत्वाच्च ब्रह्मणः समानो नास्तीत्यर्थः ॥

इति तृतीयेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

[इस बीस काण्ड वाली शाखामें विद्यमान अनुवाक सूक्तगण विशेष आदि संज्ञाशब्दोंसे अनुवाक आदिके द्रष्टा ऋषियोंका प्रतिपादन किया है । नीलनख आदि सूक्त प्रसिद्ध हैं अत एव उनका विशेषरूपसे वर्णन नहीं किया है बीसवेंका अधिक विवरण किया है यथा] आंगिरसोंके आदिम पाँच अनुवाकोंके द्वारा यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १ ॥ षष्ठके लिये यह आहुतिं स्वाहुत हो ॥ २ ॥ सप्तम अष्टमके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ३ ॥ नीलनखों के लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ४ ॥ हरितोंके लिये स्वाहा ५ क्षुद्रोंके लिये स्वाहा ॥ ६ ॥ पर्यायिकोंके लिये स्वाहा ॥ ७ ॥ प्रथम शंखोंके लिये स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वितीयशंखोंके लिये स्वाहा ६ तृतीय–शंखोंके लिये स्वाहा ॥ १० ॥ उपोत्तमोंके लिये स्वाहा ११

उत्तमोंके लिये स्वाहा ॥ १२ ॥ उत्तरोंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १३ ॥ ऋषियोंके लिये आहुति स्वाहुत हो ॥ १४ ॥ शिखियोंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ १५ ॥ गणोंके लिये स्वाहा ॥ १६ ॥ महागणोंके लिये स्वाहा ॥ १७ ॥ विद्गणके सब अंगिराओंके लिये स्वाहा ॥ १८ ॥ पृथक् सहस्रोंके लिये स्वाहा ॥ १९ ॥ विंशति काण्डात्मक वेदवाचक ब्रह्मा नामक ऋषिके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ २० ॥ [अब पूर्वमन्त्रमें प्रतिपादित ब्रह्मके सर्वाभिभावकत्वका प्रतिपादन करते हैं, कि-] सकल वीर कर्म ब्रह्मज्येष्ठ होते हैं अर्थात् इनमें ब्रह्मा श्रेष्ठ होता है ये सब कर्म ब्रह्म (वेद) से पूर्ण होते हैं। पहिले सृष्टिकी आदिमें ज्येष्ठ ब्रह्मने इस द्युलोकको विस्तृत किया था। और ब्रह्मा सब भूतोंमें प्रथम प्रकट हुए हैं। इस कारण और कोई देवता वा मनुष्य ब्रह्माकी स्पर्धा कैसे कर सकता है। तात्पर्य यह है, कि-अधिक वीर्यवान् होनेसे सब लोकों से उत्कृष्ट लोकमें रहनेसे और सबके आदिभूत होनेके कारण ब्रह्माकी समान कोई नहीं है ॥ २१ ॥

तृतीय अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५६६)

"आथर्वणानां चतुरृचेभ्यः" इति सूक्तस्य समाससंज्ञकस्य आङ्गिरस्यां महाशान्तौ विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः। सूत्रं तु तत्रैवोदाहृतम् ॥

"आथर्वणानां चतुरृचेभ्यः" समास संज्ञक सूक्तका आंगिरस महाशान्तिमें पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है। सूत्र भी तहाँ ही लिख दिया है। वह सूक्त इस प्रकार है, कि-

तत् सूक्तम् एवम् आम्नायते ॥

आथर्वणानां चतुरृचेभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥

आथर्वणानाम् । चतुःऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ १ ॥

पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥ षलृचेभ्यः स्वाहा ॥३॥
सप्तर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ४ ॥ अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥
नवर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ६ ॥ दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥
एकादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ८ ॥ द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ९
त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ १० ॥ चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा ११
पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ १२ ॥ षोडशर्चेभ्यः स्वाहा १३
सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा १४ अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा १५
एकोनविंशतिः स्वाहा १६ विंशतिः स्वाहा ॥ १७ ॥
महत्काण्डाय स्वाहा ॥ १८ ॥ तृचेभ्यः स्वाहा ॥ १९ ॥
एकर्चेभ्यः स्वाहा ॥ २० ॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा ॥ २१ ॥
एकानृचेभ्यः स्वाहा ॥ २२ ॥ रोहितेभ्यः स्वाहा २३
सूर्याभ्यां स्वाहा ॥ २४ ॥ व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥ २५ ॥
प्राजापत्याभ्यां स्वाहा २६ विषासह्यै स्वाहा ॥ २७ ॥
मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा २८ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २९ ॥

पञ्चऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ २ ॥ षट्ऽऋचेभ्यः । स्वाहा ३

सप्तऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ४ ॥ अष्टऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ५ ॥

नवऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ६ ॥ दशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ७ ॥

एकादशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ८ द्वादशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ ९ ॥

त्रयोदशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥१०॥ चतुर्दशऽऋचेभ्यः । स्वाहा ११

पञ्चदशऽऋचेभ्यः । स्वाहा १२ षोडशऽऋचेभ्यः । स्वाहा १३

सप्तदशऽऋचेभ्यः । स्वाहा १४ अष्टादशऽऋचेभ्यः । स्वाहा १५

एकोनविंशतिः । स्वाहा ॥ १६ ॥ विंशतिः । स्वाहा ॥ १७ ॥

महत्ऽकाण्डाय । स्वाहा ॥ १८ ॥ तृचेभ्यः । स्वाहा ॥ १९ ॥

एकऽऋचेभ्यः । स्वाहा ॥ २० ॥ क्षुद्रेभ्यः । स्वाहा ॥ २१ ॥

एकऽअनृचेभ्यः । स्वाहा ॥२२॥ रोहितेभ्यः । स्वाहा ॥ २३ ॥

सूर्याभ्याम् । स्वाहा ॥ २४ ॥ व्रात्याभ्याम् । स्वाहा ॥ २५ ॥

प्राजाऽपत्याभ्याम् । स्वाहा ॥२६॥ विऽससह्यै । स्वाहा ॥२७॥

मङ्गलिकेभ्यः । स्वाहा ॥ २८ ॥ ब्रह्मणे । स्वाहा ॥ २९ ॥

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः

ब्रह्मऽज्येष्ठा । सम्ऽभृता । वीर्याणि । ब्रह्म । अग्रे । ज्येष्ठम् ।

दिवम् । आ । ततान ।

भूतानाम् । ब्रह्मा । प्रथमः । उत । जज्ञे । तेन । अर्हति । ब्रह्मणा ।

स्पर्धितुम् । कः ॥ ३० ॥

अत्र चतुर्ऋचादिदशर्चान्तैः शब्दैस्तृचाद्येकर्चान्तैः शब्दैश्च तत्तत्संज्ञका अथर्वाख्या ऋषयः प्रतिपाद्यन्ते । एकादशादिविंशत्यन्तैः शब्दैराथर्वणा आर्षेयाः प्रतिपाद्यन्ते तथा च गोपथब्राह्मणे समाम्नायते । "तम् अथर्वाणम् ऋषिम् अभ्यश्राम्यत् । अभ्यतपत् । समपतत् तस्माच्छ्रान्तात् तप्तात् संतप्ताद् दशतयान् अथर्वण ऋषीन् निरमिमीत । एकर्चान् द्वृचांस्तृचांश्चतुर्ऋचान् पञ्चर्चान् षडृचान् सप्तर्चान् अष्टर्चान् नवर्चान् दशर्चान् इति । दशतयान् आथर्वणान् आर्षेयान् निरमिमीत । एकादशान् द्वादशांस्त्रयोदशांश्चतुर्दशान् पञ्चदशान् षोडशान् सप्तदशान् अष्टादशान् नवदशान् विंशान् इति" इति [गो० १. ५] । "महाकाण्डाय" इति शब्देन विंशतिकाण्डात्मककृत्स्नवेदवाचिना तद्द्रष्टैवैतन्नामा ऋषिरभिधीयते । "क्षुद्रेभ्यः" इति यजुर्मन्त्रवाचिना "पर्यायिकेभ्यः" इति पर्यायसूक्तवाचिना "एकानृचेभ्यः" इति अर्धर्चवाचकेन रोहितादिकाण्डवाचकैः शब्दैश्च तत्तत्संज्ञका ऋषयोभिधीयन्ते । अत्र रोहितादिप्रतिपादकाः काण्डाः सुप्रसिद्धाः । "विषासह्यै स्वाहा" इति विषासहिशब्देन सप्तदशकाण्डोभिधीयते । ब्रह्मणे स्वाहेत्यादि व्याख्यातम् ॥

इति तृतीयेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

[यहाँ चतुर्ऋचसे दशर्च तकके शब्दोंसे और तृचसे एकर्च तकके शब्दोंसे भी तत्तत्संज्ञक अथर्वा नामक ऋषियोंका प्रतिपादन किया है एकादशसे विंशति तकके शब्दोंसे आथर्वण आर्षेयोंका प्रतिपादन किया है इसी बातको गोपथब्राह्मणमें कहा है, कि–"तं अथर्वाणं ऋषिं अभ्यश्राम्यत् । अभ्यतपत् । सम-

तपत् । तस्माच्छ्रान्तात् तप्तात् संतप्ताद् दशतयान् अथर्वण ऋषीन् निरमिमीत । एकर्चान् द्व्यृचांस्तृचांश्चतुर्ऋचान् पञ्चर्चान् षडृचान् सप्तर्चान् अष्टर्चान् नवर्चान् दशर्चान् इति । दशतयान् आथर्वणान् आर्षेयान् निरमिमीत । एकादशान् द्वादशांस्त्रयोदशान् पञ्चदशान् षोडशान् सप्तदशान् अष्टादशान् नवदशान् विंशान् इति" गोपथ ब्राह्मण १ । ५ "महाकाण्डाय शब्दसे बीस काण्डके पूर्ण वेदके द्रष्टा महाकाण्ड नामक ऋषिका वर्णन किया है । यजुर्मन्त्रवाची "क्षुद्रेभ्यः"शब्दसे पर्यायसूक्तवाची "पर्यायिकेभ्यः" शब्दसे अर्धर्चवाचक "एकानृचेभ्यः" शब्दसे और रोहितादि काण्डवाचक शब्दोंसे भी तत्तत्संज्ञक ऋषि कहे जाते हैं । यहाँ रोहितादि प्रतिपादक काण्ड प्रसिद्ध ही हैं । "विषासहै स्वाहा" में विषासहि शब्दसे सत्रहवाँ काण्ड लिया गया है] आथर्वणोंके चतुर्ऋचोंके लिये स्वाहा ॥ १ ॥ पञ्चर्चोंके लिये स्वाहा ॥ २ ॥ षडृचोंके लिये स्वाहा ॥ ३ ॥ सप्तऋचोंके लिये स्वाहा ॥४॥ अष्टर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ५ ॥ नवर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ६ ॥ दशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ७ ॥ एकादशर्चोंके लिये स्वाहा ॥८॥ द्वादशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ९ ॥ त्रयोदशर्चोंके लिये स्वाहा १० चतुर्दशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ ११ ॥ पञ्चदशर्चोंके द्रष्टा ऋषिके लिये स्वाहा ॥ १२ ॥ षोडशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ १३ ॥ सप्तदशर्चोंके लिये स्वाहा ॥ १४ ॥ अष्टादशर्चोंके द्रष्टा ऋषियोंके लिये स्वाहा ॥ १५ ॥ एकोनविंशतिके लिये स्वाहा ॥ १६ ॥ विंशतिके लिये स्वाहा ॥ १७ ॥ महत्काण्डके लिये स्वाहा १८ तृचोंके लिये स्वाहा ॥ १९ ॥ एकर्चोंके लिये स्वाहा ॥ २० ॥ क्षुद्रोंके लिये स्वाहा ॥ २१ ॥ एकानृचोंके लिये स्वाहा ॥ २२ ॥ रोहितोंके लिये स्वाहा ॥ २३ ॥ सूर्योंके लिये स्वाहा ॥ २४ ॥ व्रात्योंके लिये स्वाहा ॥ २५ ॥ प्राजापत्योंके लिये स्वाहा २६

संहिता २ । ६ । २ । ३ में कहा है, कि—"न पुरस्तात् परि दधाति । आदित्यो ह्येवोद्यन् पुरस्ताद् रक्षांस्यपहन्ति"] उस शत्रुनाशनरूप कारणसे हे वेदरूप मंत्रके पालक ब्रह्मणस्पते देव ! इस महाशान्तिका अनुष्ठान कराने वाले यजमानको राज्यकी रक्षा करनेके लिये स्थापित करिये । अर्थात् इस राज्यकी शत्रु की बाधाको दूर करनेके लिये इस साधक राजाको रक्षकरूपमें दृढ़ करिये । [अथवा 'परिधत्तन' लिंगसे वस्त्ररक्षार्थ की जाने वाली त्वाष्ट्री शान्तिमें विनियोग करने पर यह अर्थ होगा, कि– जिस कारणसे देवताओंने सविताको आच्छादक दिया है, इस कारण हे ब्रह्मणस्पते ! और सकल देवताओं तुम भी इस राजा को राष्ट्रके लिये धारण करो अर्थात् जैसे वस्त्र देहका आच्छा-दक है, तिसी प्रकार तुम इस साधक राजाको राज्यके वस्त्रकी समान आच्छादक करो ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन ।

यथैनं जरसे नयां ज्योक् क्षत्रेऽधि जागरत् ॥ २ ॥

परि । इमम् । इन्द्रम् । आयुषे । महे । क्षत्राय । धत्तन ।

यथा । एनम् । जरसे । नयाम् । ज्योक् । क्षत्रे । अधि । जागरत्

हे इन्द्र परमैश्वर्यसम्पन्न त्वम् इमं साधकं मा माम् आयुषे आयुर्लाभाय महे महते क्षत्राय क्षतात् त्रायत इति क्षत्रम् परकृत-बाधापरिहारकं बलम् । तस्मै तल्लाभाय च परि धत्तन परिधाप-यत । अत्रापि पूर्ववत् पूजायां बहुवचनं वस्त्राभिमानिसर्वदेवा-पेक्षया वा । उक्तम् अर्थं स्पष्टीकरोति । ज्योक् चिरकालं क्षत्रे बाधापरिहारके बले । निमित्ते सप्तमी । अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ।

अधिकं वा जागरत् जागृयात् असौ शान्तिकर्ता यजमानः। ❀ जागर्तेर्लेटि अडागमः ❀ । यथाशब्दो भिन्नक्रमः । यथा अयं साधकश्चिरकालं बलवान् शत्रुधर्षणसमर्थो जागृयात् अवहितो भवेत् । तथेत्यध्याहारः । एनं शान्तिकर्तारं जरसे जरायै जरापर्यन्तं नय प्रापय । आयुष्मन्तं कुर्विति इन्द्रः संबोध्यः । विश्वदेवसंबोधनपक्षे प्रत्येकविवक्षया एकवचनम् । ❀ इदमोन्वादेशे एनादेशोनुदात्तः । "जराया जरस् अन्यतरस्याम्" इति अजादौ जराया जरस् आदेशः ❀ ॥

हे परमैश्वर्यसम्पन्न इन्द्र ! आप इस (मुझ) साधकको आयु की प्राप्तिके लिये और दूसरेकी बाधाको दूर करने वाले क्षात्र बलकी प्राप्तिके लिये स्थापित करिये । जिससे यह शान्तिकर्ता यजमान चिरकाल तक बाधापरिहारक क्षात्रबलमें अधिकतासे जागता रहे । जिस प्रकार यह साधक यजमान चिरकाल तक शत्रुओंको दबानेमें समर्थ रहता हुआ सावधान रहे तिस प्रकार इसको हे इन्द्र ! बुढ़ापे तक पहुँचाइये । इसको आयुष्मान् करिये२

तृतीया ॥

परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन ।
यथैनं जरसे नयां ज्योक् श्रोत्रेधि जागरत् ॥ ३ ॥

परि । इमम् । सोमम् । आयुषे । महे । श्रोत्राय । धत्तन ।
यथा । एनम् । जरसे । नयाम् । ज्योक् । श्रोत्रे । अधि । जागरत् ३

हे सोम वासोभिमानिदेव इमं शान्तिकर्तारं मा माम् आयुषे चिरकालजीवनाय महे महते श्रोत्राय । श्रोत्रशब्दः सर्वेषां चक्षुरादीनाम् उपलक्षणम् । इन्द्रियसाध्यरूपाद्युपलब्धये आदानादिकर्मणे च परि धत्तन परितः सर्वतो धत्त । पुष्टं कुरुत । पूर्ववद्

बहुवचनम् । यद्वा श्रोत्रशब्देन श्रूयते श्लाघ्यते सर्वैः पुमान् अनेनेति यश उच्यते । ❀ श्रु श्रवणे । करणे औणादिकस्त्रन् प्रत्ययः ❀ । महते यशसे च परिधत्त । यथैनम् इत्यादि पूर्ववत् । क्षत्रस्थाने श्रोत्रशब्दो विशेषः । यथा चिरकालं श्रोत्रादीन्द्रियःशक्तिमान् यशस्वी वा जागृयात् तथा एनं जरसे जरापर्यन्तं नयेति ॥

हे वस्त्रके अभिमानी सोमदेव ! मुझ शांतिकर्ता यजमानको आप चिरायुके लिये, श्रोत्रोपलक्षित सकल इन्द्रियोंके लिये वा यशके लिये स्थापित करिये-पुष्ट करिये । जिससे यह शांतिकर्ता यजमान बुढ़ापे तक श्रोत्र आदि इन्द्रियोंकी शक्तिवाला वा यशस्वी हो, तिस प्रकार इसको बुढ़ापे तक पहुँचाइये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः । बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ ४ ॥

परि । धत्त । धत्त । नः । वर्चसा । इमम् । जराऽमृत्युम् । कृणुत । दीर्घम् । आयुः ।

बृहस्पतिः । प्र । अयच्छत् । वासः । एतत् । सोमाय । राज्ञे । परिऽधातवै । ऊं इति ॥ ४ ॥

एषा ऋक् द्वितीयकाण्डे तृतीयेनुवाके "आयुर्दाः" इति सूक्ते [२. १३. २] व्याख्याता । संग्रहार्थस्तु । वाससः सर्वदेवत्यत्वात् तदभिमानिदेवानामेव संबोध्यत्वम् । तथात्वं च वाससः

तैत्तिरीयके समाम्नायते । "अग्नेस्तूपाधानम्" इति प्रक्रम्य "तद्द वा एतत् सर्वदेवत्यं यद् वासः" इति [तै० सं० ६. १. १. ४]। हे देवाः परि धत्त । ❀ अन्तर्भावितण्यर्थः ❀ । इमं माणवकं वासः परिधापयत । नः अस्मदीयम् इमं वर्चसा तेजसा धत्त पोषयत । तेजस्विनं कुरुतेत्यर्थः । किं च इममेव माणवकं जरामृत्युम् जरयैव मृत्युर्मृतिर्यस्य स तथोक्तः तथाविधं कुरुत । अकालमृतिर्मा भूद् इत्यर्थः । एतदेवाह दीर्घम् इति । अस्य माणवकस्य दीर्घम् शतपरिमितम् आयुरस्तु ॥ तदेव वासः प्रशंसति । बृहस्पतिः बृहताम् इन्द्रादीनां पतिः एतन्नामा देवः । ❀ "तद्बृहतोः करपत्योः०" इति सुट्तलोपौ । "पत्यावैश्वर्ये" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वे प्राप्ते "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । एतन्नामा देवः एतत् प्रकृतं वासः सोमाय राज्ञे ब्राह्मणानां स्वामिने । "सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा" इति श्रुतेः [तै० सं० १. ८. १०. २] । परिधातवै परिधातुम् । ❀ "तुमर्थे सेसेन्०" इति तवै प्रत्ययः । "तवै चान्तश्च युगपत्" इति उभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । प्रायच्छत् अददात् । ❀ दाण् दाने । इत्यस्मात् लङि "पाघ्रा०" इत्यादिना यच्छादेशः ❀ । उ इति पदपूरणः । अनेन वस्त्राणां सोमदेवताकत्वं सूचितम् । तथा च श्रुत्यन्तरम् । "सौम्यं वै वासः । स्वयैवैनद्द देवतया प्रतिगृह्णाति" इति [तै० ब्रा० २. २. ५. २] ॥

हे देवताओं ! इस बालकको तुम वस्त्र पहिराओ, हमारे इस बालकको तुम तेजसे पुष्ट करो अर्थात् इसको तेजस्वी करो तथा इस बालकको बुढ़ापेमें ही मरने वाला करो अर्थात् इसकी अकाल मृत्यु न हो । इस बालककी सौ वर्षकी दीर्घायु करो, बड़े २ देवताओंका हित करके उनका पालन करने वाले बृहस्पति नामक देवने राजा सोमको धारण करनेके लिये इस वस्त्रको दिया था

[इस मन्त्रसे वस्त्रका सोमदेवताकत्व सिद्ध होता है, तैत्तिरीय-ब्राह्मण २ । २ । ५ । २ की श्रुतिमें भी कहा है, कि–"सौम्यं वै वासः स्वयैवैनद् देवतया प्रतिगृह्णाति"] ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

जरां सु गच्छ परि धत्स्व वासो भवा गृष्टीनामभिशस्तिपा उ ।

शतं च जीव शरदः पुरूचीः रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व

जराम् । सु । गच्छ । परि । धत्स्व । वासः । भव । गृष्टीनाम् । अभिशस्तिऽपाः । ऊं इति ।

शतम् । च । जीव । शरदः । पुरूचीः । रायः । च । पोषम् । उपऽसंव्ययस्व ॥ ५ ॥

इयमपि ऋक् तत्रैव काण्डे [२. १३. ३] व्याख्याता । अत्र प्रथमपादो भिन्नः । हे शान्तिप्रयोक्तः त्वं जराम् वार्धकं सु गच्छ सम्यक् प्राप्नुहि । ❀ "सुः पूजायाम्" इति कर्मप्रवचनीयः ❀ । जरापर्यन्तम् आयुष्मान् भवेत्यर्थः । वासः एतत् परि धत्स्व आच्छादय । अनेन वासःपरिधानेन गृष्टीनाम् गवाम् अभिशस्तिपाः अभिशस्तिः अभितो विशसनं हिंसा तन्निमित्ताद् भयात् पाता पालको भव । तत्र अभूरिति पाठः अत्र भवेति विशेषः । गवाम् अभिशस्तिपात्वं तत्रैव शतपथब्राह्मणानुसारेण प्रपञ्चितं तत् ततोऽवगन्तव्यम् । किं च पुरूचीः बहुकालम् अञ्चन्तीः बहुविधान् पुत्र-पौत्रादीन् वा व्याप्नुवतीः शतम् शतसंख्याकाः शरदः संवत्सरान् जीव । अपि च रायः धनस्य पोषम् पुष्टिं समृद्धिम् उपसंव्ययस्व परिधत्स्व । एतद्वासःपरिधानेन धनादिसमृद्धिर्भवतीति भावः

हे शान्तिमयोक्ता यजमान ! तू बुढ़ापेको भली प्रकार प्राप्त हो अर्थात् बुढ़ापे तक आयुष्मान् हो, इस वस्त्रको धारण कर और गौओंकी अभिशस्तिसे रक्षा पाने वाला हो, और पुत्र पौत्रोंसे सम्पन्न रहता हुआ सौ वर्षों तक जीवित रह, धनकी पुष्टिको धारण कर। तात्पर्य यह है, कि—इस वस्त्रको धारण करनेसे धन आदिकी समृद्धि होती है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्वापीनामभिशस्तिपा उ शतं च जीव शरदः पुरूचीर्वसूनि चारुर्वि भजासि जीवन् ॥ ६ ॥

परि । इदम् । वासः । अधिथाः । स्वस्तये । अभूः । वापीनाम् । अभिशस्तिऽपाः । ऊं इति ।

शतम् । च । जीव । शरदः । पुरूचीः । वसूनि । चारुः । वि । भजासि । जीवन् ॥ ६ ॥

एषापि तत्रैव द्वितीयकाण्डे तृतीयेऽनुवाके [२. १३. ३] व्याख्याता । अत्र चरमपादो विभिन्नः । हे शान्तिकर्तः इदम् उक्तं वासो वस्त्रं स्वस्तये क्षेमाय पर्यधिथाः परिहितवान् असि । ❀ परिपूर्वाद् धाधातोर्लुङि "स्थाघ्वोरिच्च" इति इत्वकित्त्वे । "ह्रस्वाद् अङ्गात्" इति सिज्लोपः ❀ । तेन वासःपरिधानेन गृष्टीनाम् गवाम् अभिशस्तिपाः । स्वगादानभीतिरत्र अभिशस्तिशब्देन विवक्षिता । तस्या अभिशस्तेः पाता अभूः भव । उशब्दः पूरणः । शतं च जीवेति तृतीयः पादः पूर्ववत् । जीवन् शतसंवत्सरजीवनवान्

चारुः वाससा दीप्यमानस्त्वं वसूनि धनानि वि भजासि पुत्रमित्र-दायादादिभ्यो विभक्तं कुरु । अर्थिभ्यो वा प्रयच्छ । ❀ भजतेर्लेटि आडागमः ❀ ॥

हे शान्तिकर्तः ! तू इस वस्त्रको क्षेमके लिये धारण कर रहा है, इस वस्त्रधारणसे तू गौओंकी त्वगादानभीतिरूप अभिशस्ति से रक्षक हो, और बहुतसे पुत्र पौत्र आदिमें व्याप्त होने वाले सौ वर्ष तक जीवित रह और जीता रहता हुआ तू वस्त्रसे दमकता हुआ पुत्र मित्र स्त्री आदिको धन बाँटता रह ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे ।

सखाय इन्द्रमूतये ॥ ७ ॥

योगेऽयोगे । तवःऽतरम् । वाजेऽवाजे । हवामहे ।

सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥ ७ ॥

अप्राप्यप्रापणं योगः । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् ❀ । योगेयोगे सर्वस्य अप्राप्यस्य फलस्य प्रापणविषये वाजेवाजे । वाजशब्दः अन्नवाची । उपलक्षणम् एतत् । अन्नादिलक्षणे फले लब्धे च । ❀ पूर्ववद् द्विर्वचनम् । लुप्तमत्वर्थीयस्तवस् शब्दः ❀ । अतिशयेन तवस्विनं समृद्धं तम् इन्द्रम् परमैश्वर्यसंपन्नं देवं सखायः समानख्यानाः स्तोतारो वयम् ऊतये रक्षणार्थं च हवामहे आह्वयामः । अभिमतफललाभार्थं लब्धस्य परिपालनार्थं स्वरक्षणार्थं च इन्द्रमेव आह्वयाम इत्यर्थः ॥

मित्ररूप हम स्तोता [अप्राप्य वस्तुकी प्राप्तिका नाम योग है ऐसे] सब अप्राप्य फलोंकी प्राप्तिरूप प्रत्येक योगमें और अन्नादि फलकी लब्धिमें भी परमैश्वर्य सम्पन्न इन्द्रदेवका, रक्षाके लिये

आह्वान करते हैं। तात्पर्य यह है, कि—अभिमत फलकी प्राप्ति के लिये और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षाके लिये हम इन्द्रका ही आह्वान करते हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व ।
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः ८

हिरण्यऽवर्णः । अजरः । सुऽवीरः । जराऽमृत्युः । प्रऽजया । सम् । विशस्व ।
तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । बृहस्पतिः । सविता । तत् । इन्द्रः ॥ ८ ॥

हिरण्यवर्णः हितरमणीयशरीरकान्तिः हिरण्यसमानवर्णो वा अजरः जरारहितः सुवीरः । वीराः कर्मणि कुशलाः पुत्राः । शोभनपुत्रादियुक्तो जरामृत्युः जरयैव मृत्युर्मृतिर्यस्य अकालमरणरहितश्च सन् प्रजया प्रकर्षेण जायमानया पुत्रादिकया भृत्यादिरूपया वा सह सं विशस्व । संवेशशब्देन अत्र निर्वेशो विवक्ष्यते । निर्विश । एवं हिरण्यवर्णादिविहितफलोपपन्नः सन् चिरकालं सुखयेत्यर्थः । यद्वा सं विशस्व सम्यग्विश प्रविश । उक्तगुणोपेतः सन् स्वगृहम् अधितिष्ठेत्यर्थः । ॐ विशतेर्व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ॐ । उक्तेर्थे विप्रतिपत्त्यभावं वासोभिमानिसर्वदेवतावचनेन समर्थयते उत्तरार्धेन । अग्निः अङ्गनादिगुणयुक्तो देवः तत् अस्मिन् सूक्ते प्रतिपादितम् अर्थजातम् आह ब्रवीति । उशब्दः अवधारणे । तदेव सोमो देव आह । तदेव अर्थजातम् इन्द्रबृहस्प-

पतिसवितार आहुः । एतदादयः सर्वेपि देवा इमम् उक्तम् अर्थम् आहुः । अस्मिन्नर्थे विप्रतिपत्तिर्नास्तीत्यर्थः ॥

इति तृतीयेनुवाके चतुर्थम् सूक्तम् ॥

हे यजमान ! तू शरीरकी हितरमणीय कांतिसे सम्पन्न रहता हुआ, जरारहित-तगड़ा-, और शोभन पुत्र आदिसे सम्पन्न रहता हुआ और अकाल मरणसे रहित रहता हुआ पुत्र भृत्य आदि प्रजाके साथ इस घरमें प्रवेश कर ॥ इस सूक्तमें कही हुई बातको अग्निदेव कहते हैं, सोमदेव प्रतिपादन करते हैं, बृहस्पति सविता और इन्द्र भी इस सूक्तमें कही हुई बातका प्रतिपादन करते हैं । अत एव इस सूक्तकी बातोंमें कोई सन्देह नहीं है ॥८॥

तृतीय अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५६८)

"अश्रान्तस्य त्वा" इति एकर्चं सूक्तं "गान्धर्वीम् अश्वक्षये प्रयुञ्जीत" [न० क० १७.] इति विहितायां गान्धर्व्याख्यायां महाशान्तावावपेत् । उक्तं हि नक्षत्रकल्पे । "अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मीति गान्धर्व्याम् आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" इति [न० क० १८.] ॥

"अश्रान्तस्त्वा" यह एक ऋचा वाला सूक्त है । "गान्धर्वी अश्वक्षये प्रयुञ्जीत ।-गांधर्वी शान्तिका अश्वक्षयमें प्रयोग करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित गांधर्वी नाम वाली महाशान्तिमें इस सूक्तको पढ़े । इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मीति गांधर्व्यां आयुष्यः शान्तिः स्वस्तिगण ऐरावत्याम्" (नक्षत्रकल्प १८) ॥

सैषा ऋग् एवम् आम्नायते ॥

अश्रान्तस्य त्वा मनसा युनज्मि प्रथमस्य च ।

उत्कूलमुद्वहो भवोदुह्य प्रति धावतात् ॥ १ ॥

अश्रान्तस्य । त्वा । मनसा । युनज्मि । प्रथमस्य । च ।

उत्ऽकूलम् । उत्ऽवहः । भव । उत्ऽउह्य । प्रति । धावतात् ॥१॥

अत्र अश्वः संबोध्यः । हे गान्धर्वाश्व त्वा त्वाम् अश्रान्तस्य श्रमरहितस्य परसेनाभिगमनेपि शरीरायासरहितस्य तुरंगमस्य मनसा शत्रुधर्षणोत्सुकेन स्वाधिरोहसादिप्रोत्साहकेन वा मनसा मानसेन प्रथमस्य सृष्ट्यादौ उत्पन्नस्य अश्वजातेः पूर्वस्य अश्वस्य च मनसा युनज्मि योजयामि । जितश्रमस्य उच्चैःश्रवसः अश्वश्रेष्ठस्य च मनउपलक्षितां सर्वेन्द्रियशक्तिं शरीरदार्ढ्यम् आशुत्वं परसेनाभिभवनसामर्थ्यं च अस्मिन् शान्तिफलत्वेन काम्यमाने तुरंगमे योजयामीत्यर्थः । एवंसामर्थ्योपेतस्त्वम् उत्कूलमुद्वहो भव । अतिदक्षो भवेति तात्पर्यार्थः ॥ पदार्थस्तु । नदी परार्वाची तीरे प्रभूतेन जलप्रवाहेण उत्क्रम्य ऊर्ध्वं प्रवहति एवं त्वमपि युद्धाय संनद्धं परसैन्यं स्वसामर्थ्येन अतिक्रम्य विक्षोभयेति अश्वः प्रोत्साह्यते । ❀ वह प्रापणे । "उदि कूले रुजिवहोः" इति खच् प्रत्ययः । "खित्यनव्ययस्य" "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति कूलशब्दस्य मुम् आगमः । भवतेर्लोटि अडागमः । "भूसुवो- स्तिङि" इति गुणनिषेधाभावश्छान्दसः । यद्वा छान्दसे लङि अमाङ्योगेपि अडभावः ❀ । दुहीय एतादृशसामर्थ्योपेतेन अश्वेन भवता एषणीयानि शत्रुजयलक्षणानि फलानि लभेय । ❀ दुह प्रपूरणे । अस्माद् विधिलिङि कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदम् । उत्तमैकवचनम् इट् ❀ । अतः अश्व त्वं प्रतिधावतात् जेतव्यं स्थानं प्रति शीघ्रं गच्छ । ❀ प्रतिपूर्वात् सर्तेर्वेगितायां गतौ धाव् आदेशः । "तुह्योस्तातङ्०" इति मध्यमपुरुषस्य हेस्तातङ् आदेशः ❀ ।

इति तृतीयेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे गांधर्वाश्व ! मैं तुझको शत्रुसेना पर धावा करनेमें भी श्रमरहित रहने वाले अश्वके शत्रुधर्षणोत्सुक वा अपने सवारको उत्साहित करने वाले मनसे और सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुए अश्वजातिके मनसे युक्त करता हूँ, तात्पर्य यह है, कि–श्रमजित् उच्चैःश्रवा अश्वकी मन आदि सकल इन्द्रियोंकी शक्तिको शरीरकी दृढ़ताको और शत्रुसेनाको दबानेकी शक्तिको भी इस शान्तिफलरूपसे अभिलपित तुरंगममें मैं संयुक्त करता हूँ। ऐसी शक्तिसे सम्पन्न हुआ तू जैसे नदी प्रवाहरूप जलसे दोनों किनारों के ऊपर चढ़कर बहने लगती है, तिस प्रकार तू भी शत्रुसेना पर चढ़ कर उसको क्षुब्ध कर। मैं ऐसी सामर्थ वाले आप अश्वसे शत्रुजय आदि अभिलाषा करने योग्य फलोंको प्राप्त करूँ इसलिये हे अश्व ! तू जेतव्य स्थानकी ओर शीघ्रतासे दौड़ १

तृतीय अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५६९)

"अग्नेः प्रजातम्" इति सूक्तेन "आग्नेयीम् अग्निभये सर्वकामस्य च" [न० क० १७] इति विहितायाम् आग्नेय्याख्यायां महाशान्तौ हिरण्यनिर्मितं कुण्डलादिकम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यम् इति हिरण्यम् आग्नेय्याम्" इति [न०क० १९]। कर्णमध्ये छिद्रवद्धिरण्यकुण्डलम् इत्यर्थः॥

तथा अनेन सूक्तेन तुलापुरुषे शान्तिकलशे हुत्वा संपातान् आनयेत्। "अथातस्तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः" इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे। " 'अग्ने गोभिः' 'अग्नेभ्यावर्तिन्' [कौ० ६. ४] 'अग्नेः प्रजातम्' [१९. २६] इति संपातान् उदपात्र-आनीयाभिषेककलशेषु निनयेत्" इति [प० ११. १]॥

"अग्नेः प्रजातम्" सूक्तसे "आग्नेयीं अग्निभये सर्वकामस्य च। -सर्वकामकी शान्तिके लिये और अग्निभयमें आग्नेयी शान्तिको

करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित आग्नेयी नामक महाशान्ति में सुवर्णके बने कुण्डल आदिको अभिमन्त्रित करके बाँधे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-अग्नेः प्रजातम् परि यद् हिरण्यं इति हिरण्यं आग्नेय्याम्" (नक्षत्रकल्प १६) तात्पर्य यह है, कि-कानके मध्यमें छिद्र वाले सुवर्णकुण्डलको बाँधे"।

तथा इस सूक्तसे तुलापुरुषके समय शान्तिकलशमें आहुति देकर सम्पातोंका आनयन करे। "अथातः तुलापुरुषविधिं व्याख्यास्यामः।-अब तुलापुरुषविधिकी व्याख्या करते हैं" का आरंभ करके परिशिष्टमें कहा है, कि "'अग्ने गोभिः' 'अग्ने अभ्यावर्तिन्' (कौशिकसूत्र ६।४) 'अग्नेः प्रजातम्' (१६। २६) इति सम्पातान् उदपात्र आनीयाभिषेककलशेषु निनयेत्" (अथर्वपरिशिष्ट ११।१)॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्नेः प्रजातं परि यद्धिरण्यममृतं दध्रे अधि मर्त्येषु।
य एनद् वेद स इदेनमर्हति जरामृत्युर्भवति यो बिभर्ति ॥ १ ॥

अग्नेः। प्रऽजातम्। परि। यत्। हिरण्यम्। अमृतम्। दध्रे। अधि। मर्त्येषु।
यः। एनत्। वेद। सः। इत्। एनम्। अर्हति। जराऽमृत्युः। भवति। यः। बिभर्ति ॥ १ ॥

अग्नेः परि अग्नेः सकाशात्। ❀ परिशब्दः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀। प्रजातम् प्रकर्षेण उत्पन्नं यत् हिरण्यम् सुवर्णं विद्यते। आग्नेयाद् रेतसः सुवर्णम् उत्पन्नम् इति तैत्तिरीयाः समामनन्ति।

"अग्ने रेतश्चन्द्रं हिरण्यम् । अद्भ्यः संभूतम् अमृतं प्रजासु" इति [तै० ब्रा० १. २. १. ४] । यच्च हिरण्यं मर्त्येषु मरणधर्मसु मनुष्येषु अधि । ❀ अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी अधिकृत्येति वा ❀ । अमृतम् अमरणसाधनं सत् दध्रे अवतिष्ठते । ❀ धृङ् अवस्थाने । तौदादिकः । अकर्मकः । आत्मनेपदी ❀ । मरणधर्मणां मनुष्याणां मरणनिर्हरणसाधनत्वेन यत् हिरण्यं तिष्ठति । यद्वा । ❀ धृ धारणे । सकर्मकः । छान्दसो लिट् ❀ । मर्त्येषु अमरणसाधनत्वेन देवैर्दध्रे । चक्रे इति यावत् । एनत् । ❀ "इदमो नपुंसकैकवचने एनदादेशो वक्तव्यः" इति इदम एनदादेशः ❀ । एनत् उक्तं हिरण्यं यः पुमान् वेद उक्तस्वरूपं हिरण्यं जानाति स इत् । इत् अवधारणे । स एव पुमान् एनम् अन्वादिष्टं हिरण्यरूपं पदार्थम् अर्हति । धारयितुम् इति शेषः । यः पुमान् बिभर्ति धारयति स्वशरीरे मणिकुण्डलाङ्गुलीयादिरूपं स पुरुषो हिरण्यधारी जरामृत्युः जरयैव मृत्युर्मृतिर्यस्य अकालमृतिरहितो भवति ॥

अग्निसे श्रेष्ठतापूर्वक उत्पन्न होनेवाला जो सुवर्ण हैं [तैत्तिरीयक पुरुष अग्निके वीर्यसे सुवर्णकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं, कि-"अग्ने रेतश्चन्द्रं हिरण्यम् । अद्भ्यः सम्भूतं अमृतं प्रजासु ।-अग्निका वीर्य आल्हादक सुवर्ण है । प्रजाओंमें अमृत जलसे प्रकट हुआ है" तैत्तिरीयब्राह्मण १ । २ । १ । ४] और जो सुवर्ण मरणधर्मी मनुष्योंमें अमरणसाधनरूप--अमृतरूप--में स्थित रहता है, अर्थात् मरणधर्मी मनुष्योंमें मरणको दूर करनेके साधनके रूपमें स्थित रहता है । अथवा-देवताओंने सुवर्णको मनुष्योंमें अमरणसाधनरूपमें स्थापित किया है । जो पुरुष सुवर्णके इस पूर्वोक्तरूपको जानता है वह पुरुष इस सुवर्णको धारण करनेका पात्र है । जो पुरुष अपने शरीरमें मणिकुण्डल अँगूठी आदिके

रूपमें सुवर्णको धारण करता है वह सुवर्णधारी पुरुष बुढ़ापेमें ही मरने वाला होता है अर्थात् उसकी अकालमृत्यु नहीं होती है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनवः पूर्व ईषिरे। तत् त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान् भवति यो बिभर्ति ॥ २ ॥

यत् । हिरण्यम् । सूर्येण । सुऽवर्णम् । प्रजाऽवन्तः । मनवः । पूर्वे । ईषिरे ।

तत् । त्वा । चन्द्रम् । वर्चसा । सम् । सृजति । आयुष्मान् । भवति । यः । बिभर्ति ॥ २ ॥

प्रजावन्तः प्रकर्षेण जायमानाभिः पुत्रभृत्यादिभिस्तद्वन्तो मनवः । कार्ये कारणशब्दः । मनोः पुत्रा मनुष्याः पूर्वे हिरण्यधारिणो प्रथमभाविनः सन्तः । पूर्वे सृष्ट्यादावुत्पन्ना मनवो वा ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥

इति हि भगवद्वचनम् [भ० गी० १०. ६]। सुवर्णम् शोभनवर्णं यद्धिरण्यम् हितरमणीयं हेम सूर्येण सर्वस्य प्रसवित्रा स्वकारणेन आदित्येन सह ईषिरे प्राप्तवन्तः । लब्धवन्त इत्यर्थः । सूर्येण प्रेरिता वा मनवो हिरण्यम् ईषिरे । ❀ ईष गत्यादिषु । भौवादिकः । आत्मनेपदी । "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इति विहित आम् प्रत्ययोऽत्र मन्त्रत्वाद् न प्रवर्तते "०अमन्त्रे०" इति निषेधात् । इषु इच्छायाम् इत्यस्माद् वा व्यत्ययेन आत्मनेपदम् ❀ । तद्

मनुभिर्धारितं चन्द्रम् आह्लादकं हिरण्यं कर्तृ त्वा त्वां हिरण्यधारकं वर्चसा तेजसा शरीरकान्त्या सं सृजतु संयोजयतु । यः पुरुषो बिभर्ति धारयति हिरण्यं स पुमान् आयुष्मान् चिरकालजीवनवान् भवति । ॐ भूमार्थे मतुप् प्रत्ययः ॐ ॥

सूर्यसे प्रेरित (सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुए) प्रजासम्पन्न † मनुओंने जिस हितरमणीय सुवर्णको धारण किया था, वह मनुओंसे धारण किया हुआ आल्हादक सुवर्ण तुझको शरीरकी कान्तिसे संयुक्त करे, जो पुरुष ऐसे सुवर्णको धारण करता है वह आयुष्मान् अर्थात् चिरजीवी होता है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च ।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु ॥ ३ ॥

आयुषे । त्वा । वर्चसे । त्वा । ओजसे । च । बलाय । च ।
यथा । हिरण्यऽतेजसा । विऽभासासि । जनान् । अनु ॥ ३ ॥

हे हिरण्यधारक पुरुष त्वा त्वाम् आयुषे चिरकालजीवनाय । तच्चन्द्रं सं सृजतु इत्यनुषङ्गः । तथा त्वा त्वां तद्धिरण्यं वर्चसे वर्चोलाभाय सं सृजतु । ओजसे शारीरबलाय शरीरधारकोऽष्टमो धातुर्वा ओजः । तदर्थं बलाय भृत्यादिसंपत्तिरूपाय बाह्याय बलाय तदर्थं च हिरण्यं त्वां सं सृजतु । समुच्चयार्थौ चकारौ । यथा

† श्रीमद्भगवद्गीता १० । ६ में भगवान्ने कहा है, कि "महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा । मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥" पहिले सात महर्षि चार मनु-ये मेरे मानस भावसे उत्पन्न हुए थे, लोकमें जो प्रजा है यह सब उनकी ही प्रजा है" ॥

हिरण्यं सुवर्णं तेजसा शुक्लभास्वररूपेण विशेषेण भासते । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् तथेत्यध्याहारः । तथा त्वमपि च जनान् अनु लक्षीकृत्य । ❀ लक्षणादिष्वर्थेषु अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ । तेजसा वर्चसा उज्ज्वलरूपेण विभासासि विशेषेण भासेथाः । ❀ तृतीयार्थे वा अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ । जनैः सह विशेषेण भासस्व । ❀ भासृ दीप्तौ । लेटि आडागमः । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ ॥

हे हिरण्यधारक पुरुष ! यह आह्लादक सुवर्ण तुझको चिरजीवनसे संयुक्त करे, यह सुवर्ण वर्चः प्राप्तिके लिये तुझको संयुक्त करे, भृत्यादि बाह्यबलके लिये संयुक्त करे, जैसे सुवर्ण अपने तेजसे दमकता है, इसी प्रकार तू भी मनुष्योंमें दमक ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यद् वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पतिः ।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत् त आयुष्यं भुवत् तत् ते वर्चस्यं भुवत् ॥ ४ ॥

यत् । वेद । राजा । वरुणः । वेद । देवः । बृहस्पतिः ।
इन्द्रः । यत् । वृत्रऽहा । वेद । तत् । ते । आयुष्यम् । भुवत् । तत् । ते । वर्चस्यम् । भुवत् ॥ ४ ॥

यत् हिरण्यं राजा राजमानो वरुणो देवः वेद अग्नेरुत्पन्नम् इति मनुष्याणां मरणनिर्हरणोपाय इति जानाति । तथा बृहस्पतिः बृहतां महतां देवानां पतिः पालकः एतत्संज्ञको देवः यत् हिरण्यम् उक्तस्वरूपं वेद । वृत्रहा वृत्रं हतवान् इन्द्रोपि यत् हिरण्यम् उक्तलक्षणं वेद । तत् वरुणादिभिर्देवैर्ज्ञातप्रभावं धारितं ना-

हिरण्यं ते तव हिरण्यधारक पुरुष आयुष्यम् चिरकालजीवनाय हितम् आयुष्कारि भुवत् भवतु । तथा तद्धिरण्यं ते तव वर्चस्यम् वर्चसे हितं तेजस्कारि भुवत् भवतु । ❀ "तस्मै हितम्" इति उभयत्र यत् प्रत्ययः । भुवदिति । भवतेर्लेटि "भूसुवोस्तिङि" इति गुणप्रतिषेधः । अडागमः । "इतश्च लोपः०" इति तिप इकारलोपः ❀ ॥

एकोनविंशे काण्डे षष्ठं सूक्तम् ॥

तृतीयोऽनुवाकः समाप्तः ॥

जिस सुवर्णको राजा वरुणदेव जानते हैं अर्थात् यह जानते हैं, कि-यह अग्निसे उत्पन्न हुआ सुवर्ण मनुष्योंके मरणको दूर करने वाला है । बृहस्पतिदेव भी जिस सुवर्णके ऐसे स्वरूपको जानते हैं, वृत्रासुरके संहारक इन्द्र भी जिस सुवर्णके ऐसे रूपको जानते हैं । वह वरुण आदिसे परिचित वा धारित सुवर्ण, हे सुवर्णधारक पुरुष ! तेरे लिये आयुः प्रदान करने वाला हो, तेरे लिये वर्चः प्रदान करने वाला हो ॥ ४ ॥

छठा सूक्त समाप्त (५७०)

उन्नीसवें काण्डमें तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

चतुर्थेऽनुवाके सप्त सूक्तानि । तत्र "गोभिष्ट्वा पातु" इति प्रथमं सूक्तम् । अनेन "प्राजापत्यां प्रजापशुकामस्य प्रजाक्षये च" [न० क० १७.] इति विहितायां प्राजापत्याख्यायां महाशान्तौ सुवर्णरजतलोहमयमणिबन्धनं कुर्यात् । उक्तं हि नक्षत्रकल्पे । "गोभिष्ट्वा पात्वृषभः [१९. २७] इति त्रिवृतं प्राजापत्यायाम् अग्नितास्ते [६.१४२.३] इति यवमणिं सावित्र्याम्" इति [न०क० १९.] ॥

चौथे अनुवाकमें सात सूक्त हैं । इनमें "गोभिष्ट्वा पातु" यह प्रथम सूक्त है । इस सूक्तसे, "प्राजापत्यां प्रजापशुकामस्य प्रजाक्षये च ।-प्रजाक्षयमें प्रजा और पशुकामकी प्राजापत्या शान्तिको

करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित, प्राजापत्या महाशान्तिमें सुवर्ण चाँदी और लोहेसे भरीहुई मणिको बाँधे"। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"गोभिष्ट्वा पात्वृषभः (१९ । २७) इति त्रिवृतं प्राजापत्यां अक्षितास्ते (६ । १४२ । ३) इति यवमणिं सावित्र्याम्" इति (नक्षत्रकल्प १९) ॥

तत्र प्रथमा ॥

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः।
वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः ॥ १ ॥

गोभिः। त्वा। पातु। ऋषभः। वृषा। त्वा। पातु। वाजिऽभिः। वायुः। त्वा। ब्रह्मणा। पातु। इन्द्रः। त्वा। पातु। इन्द्रियैः १

हे त्रिवृन्मणिधारक पुरुष त्वा त्वां वृषभः सेक्ता प्रबलः पुंगौर्यूथपतिः गोभिः स्वयूथ्याभिः सह पातु रक्षतु। गोषु बह्वन्यपत्यानि उत्पाद्य तत्समृद्धिकरणद्वारा त्वां समृद्धं करोत्वित्यर्थः। अथ वा वृषभो वृषभदेवता स्वीयाभिर्गोभिर्देवताभिः सह स्वपम् अरिष्टेभ्यः पातु। ❀ गोभिष्ट्वेत्यत्र "युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्" इति मूर्धन्यादेशः ❀। तथा वृषा प्रजननसमर्थोऽश्वः वाजिभिः वेजनवद्भिः शीघ्रगतिभिरश्वैः सह त्वां पातु। पूर्ववद् अश्वपुष्टिद्वारेणेति मन्तव्यम्। एवं वायुः अन्तरिक्षचरो देवः ब्रह्मणा परिवृढेन कर्मणा यज्ञलक्षणेन सह त्वा त्वां पातु। "वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्" [तै० ब्रा० ३. ७. ४. १] इति श्रुतेः वायोर्यज्ञाख्यब्रह्मणा संबन्धः। यद्वा वायुः ब्रह्मणा परिवृढेन व्यासेन सूत्रात्मलक्षणेन सह पातु। अथ वा ब्रह्मशब्देन परिवृढम् अन्तरिक्षं स्वाश्रयम् उच्यते तेन सह पातु। एवम् इन्द्रो देवः इन्द्रियैः। ❀ "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम्०" इत्यादिना इन्द्रि-

हिरण्यं ते तव हिरण्यधारक पुरुष आयुष्यम् चिरकालजीवनाय हितम् आयुष्कारि भुवत् भवतु । तथा तद्धिरण्यं ते तव वर्चस्यम् वर्चसे हितं तेजस्कारि भुवत् भवतु । ❀ "तस्मै हितम्" इति उभयत्र यत् प्रत्ययः । भुवदिति । भवतेर्लेटि "भूसुवोस्तिङि" इति गुणप्रतिषेधः । अडागमः । "इतश्च लोपः०" इति तिप इकारलोपः ❀ ॥

एकोनविंशे काण्डे षष्ठं सूक्तम् ॥

तृतीयोऽनुवाकः समाप्तः ॥

जिस सुवर्णको राजा वरुणदेव जानते हैं अर्थात् यह जानते हैं, कि-यह अग्निसे उत्पन्न हुआ सुवर्ण मनुष्योंके मरणको दूर करने वाला है । बृहस्पतिदेव भी जिस सुवर्णके ऐसे स्वरूपको जानते हैं, वृत्रासुरके संहारक इन्द्र भी जिस सुवर्णके ऐसे रूपको जानते हैं । वह वरुण आदिसे परिचित वा धारित सुवर्ण, हे सुवर्णधारक पुरुष ! तेरे लिये आयुः प्रदान करने वाला हो, तेरे लिये वर्चः प्रदान करने वाला हो ॥ ४ ॥

छठा सूक्त समाप्त (५७०)

उन्नीसवें काण्डमें तृतीय अनुवाक समाप्त ॥

चतुर्थेऽनुवाके सप्त सूक्तानि । तत्र "गोभिष्ट्वा पातु" इति प्रथमं सूक्तम् । अनेन "प्राजापत्यां प्रजापशुकामस्य प्रजाक्षये च" [न० क० १७.] इति विहितायां प्राजापत्याख्यायां महाशान्तौ सुवर्णरजतलोहमयमणिबन्धनं कुर्यात् । उक्तं हि नक्षत्रकल्पे । "गोभिष्ट्वा पात्वृषभः [१६. २७] इति त्रिवृतं प्राजापत्यायाम् अग्नितास्ते [६.१४२.३] इति यवमणिं सावित्र्याम्" इति [न०क० १६.] ॥

चौथे अनुवाकमें सात सूक्त हैं । इनमें "गोभिष्ट्वा पातु" यह प्रथम सूक्त है । इस सूक्तसे, "प्राजापत्यां प्रजापशुकामस्य प्रजाक्षये च ।-प्रजाक्षयमें प्रजा और पशुकामकी प्राजापत्या शान्तिको

करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित, प्राजापत्या महाशान्तिमें सुवर्ण चाँदी और लोहेसे भरीहुई मणिको बाँधे"। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"गोभिष्ट्वा पात्वृषभः (१९ । २७) इति त्रिवृतं प्राजापत्यां अदितास्ते (६ । १४२ । ३) इति यव-मणिं सावित्र्याम्" इति (नक्षत्रकल्प १९) ॥

तत्र प्रथमा ॥

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः ।

वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः ॥ १ ॥

गोभिः । त्वा । पातु । ऋषभः । वृषा । त्वा । पातु । वाजिऽभिः ।

वायुः । त्वा । ब्रह्मणा । पातु । इन्द्रः । त्वा । पातु । इन्द्रियैः १

हे त्रिवृन्मणिधारक पुरुष त्वा त्वां वृषभः सेक्ता प्रबलः पुंगौ-र्यूथपतिः गोभिः स्वयूथ्याभिः सह पातु रक्षतु । गोषु बहून्यप-त्यानि उत्पाद्य तत्समृद्धिकरणद्वारा त्वां समृद्धं करोत्वित्यर्थः । अथ वा वृषभो वृषभदेवता स्वीयाभिर्गोभिर्देवताभिः सह स्वयम् अरिष्टेभ्यः पातु । ❀ गोभिष्ट्वेत्यत्र "युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम्" इति मूर्धन्यादेशः ❀ । तथा वृषा प्रजननसमर्थोऽश्वः वाजिभिः वेजनवद्भिः शीघ्रगतिभिरश्वैः सह त्वां पातु । पूर्ववद् अश्वपुष्टि-द्वारेणेति मन्तव्यम् । एवं वायुः अन्तरिक्षचरो देवः ब्रह्मणा परि-वृढेन कर्मणा यज्ञलक्षणेन सह त्वा त्वां पातु । "वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्" [तै० ब्रा० ३. ७. ४. १] इति श्रुतेः वायोर्यज्ञा-ख्यब्रह्मणा संबन्धः । यद्वा वायुः ब्रह्मणा परिवृढेन व्याप्तेन सूत्रा-त्मलक्षणेन सह पातु । अथ वा ब्रह्मशब्देन परिवृढम् अन्तरिक्षं स्वाश्रयम् उच्यते तेन सह पातु । एवम् इन्द्रो देवः इन्द्रियैः । ❀ "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम्०" इत्यादिना इन्द्रि-

यशब्दो निपातितः ❀। अतः इन्द्रियाण्यत्र इन्द्रसृष्टानि इन्द्रजुष्टानि वा परिगृह्यन्ते तैः सह पातु। यद्वा "तद्द यद् एनं प्राणैः समैन्धंस्तद् इन्द्रस्येन्द्रत्वम्" इत्यादिश्रुतेः [नि० १०. ८] इन्द्र आत्मा। स च इन्द्रियैः इतरैर्वागादिभिः सह पातु॥

हे त्रिवृत् मणिको धारण करने वाले पुरुष! प्रबल सेचक यूथपति वृषभ, अपने झुण्डकी गौओंके साथ तेरी रक्षा करें, तात्पर्य यह है, कि–गौओंमें बहुतसी सन्तानोंको उत्पन्न करके उस समृद्धिके द्वारा तेरी रक्षा करे। तथा प्रजननसमर्थ अश्व वेग वाले घोड़ोंके साथ तेरी रक्षा करें। अन्तरिक्षचारी वायुदेव यज्ञात्मक ब्रह्मसे आपकी रक्षा करें [तैत्तिरीयब्राह्मण ३।७।४।१ में कहा है, कि–"वाताद् यज्ञः प्रयुज्यताम्" यहाँ वायुका यज्ञात्मक ब्रह्मसे सम्बंध है] अथवा–वायु सूत्रात्मारूप व्याप्त ब्रह्मसे तेरी रक्षा करें। इन्द्रदेव इन्द्रकी रची हुई इन्द्रियोंके द्वारा तेरी रक्षा करें, अथवा–["तद् यद् एनं प्राणैः समैन्धंस्तद् इन्द्रस्येन्द्रत्वम्।–जो इसको प्राणोंसे प्रदीप्त किया यही इन्द्रका इन्द्रत्व है" नि० १०। ८ इत्यादि श्रुतिके अनुसार] आत्मारूपी इन्द्र वाणी आदि इन्द्रियोंके साथ तेरी रक्षा करे॥ १॥

द्वितीया॥

सोमस्त्वा पात्वोषधीभिर्नक्षत्रैः पातु सूर्यः।

माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वातः प्राणेन रक्षतु॥२॥

सोमः। त्वा। पातु। ओषधीभिः। नक्षत्रैः। पातु। सूर्यः।

मात्ऽभ्यः। त्वा। चन्द्रः। वृत्रऽहा। वातः। प्राणेन। रक्षतु॥२॥

सोमो वल्ल्यात्मक ओषधीनां राजा देवः ओषधीभिः इतराभिर्व्रीह्यादिभिः सह त्वा त्वां पातु रक्षतु। एवं सूर्यो देवो नक्षत्रैः।

नक्षान्नाशात् पतनात् त्रायन्त इति नक्षत्राणीति अत्र नक्षत्र-शब्देन ग्रहाः परिगृह्यन्ते । तैः सह त्वां पातु । एवं चन्द्रः सर्व-पदार्थप्राणाह्लादकारी देवः माद्भिः मासैः सह पातु । ❀"पद्दन्०" इत्यादिना मासशब्दस्य मास्भावः । "झलां जशोन्ते" इति जश्त्वेन दकारः । मस्यन्ते परिमीयन्ते सकला वृद्धिह्रासैरिति मासा इति तद्व्युत्पत्तिः ❀ । स विशेष्यते वृत्रहेति । वृत्रः आवर-कोन्धकारः तस्य हन्तेति वृत्रहा । एवं वातो वायुः प्राणेन स्वकी-येन शरीरगतेन पञ्चवृत्त्यात्मकेन वायुना सहितः सन् त्वां रक्षति रक्षतु ॥

लतारूप ओषधियोंका राजा सोम व्रीहि आदि अन्य औष-धियोंके साथ तेरी रक्षा करे, सूर्यदेव नक्षत्रों (ग्रहों) के साथ तेरी रक्षा करें, सब पदार्थ और प्राणियोंको प्रसन्न करने वाले चन्द्रदेव मासोंके साथ तेरी रक्षा करें, यह चन्द्रदेव आवरक अंधकाररूप वृत्रका संहार करने वाले हैं । वायुदेव शरीरगत पञ्चवृत्त्यात्मक वायुके साथ रह कर आपकी रक्षा करें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान् ।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥ ३ ॥

तिस्रः । दिवः । तिस्रः । पृथिवीः । त्रीणि । अन्तरिक्षाणि । चतुरः । समुद्रान् ।

त्रिऽवृतम् । स्तोमम् । त्रिऽवृतः । आपः । आहुः । ताः । त्वा ।
रक्षन्तु । त्रिऽवृता । त्रिवृत्ऽभिः ॥ ३ ॥

दिवः द्युलोकान् तिस्रः त्रीन् त्रिगुणान् । आहुरिति सर्वत्र संबन्धः । अभिज्ञाः कथयन्ति । दिवस्त्रित्वं चन्द्रार्कनक्षत्राणाम् आश्रयस्थानभेदाद् अवगन्तव्यम् । यद्वा तज्जिगमिषूणाम् उत्तममध्यमाधमभेदेन गन्तव्यस्यापि द्युलोकस्य त्रैविध्यम् अवगन्तव्यम् । एवं पृथिव्या अन्तरिक्षस्य च गन्तृभेदेन त्रैविध्यं द्रष्टव्यम् । तथा तिस्रः पृथिवीः पृथिवीरपि तिस्र आहुः । निकृष्टप्राणिभोगाश्रया पृथिव्येका । मध्यमप्राणिभोगाश्रया पृथिव्यपरा । उत्तमप्राणिभोगाश्रया पृथिव्यन्या । इति तिस्र पृथिवीरित्युच्यते । तृणौषधिवनस्पतिभिर्वा त्रिवृत्त्वं पृथिव्याः । अन्तरिक्षाण्यपि त्रीणि आहुः । अत्रापि सुकृतिनां त्रैविध्याद् गन्तव्यस्यापि अन्तरिक्षस्य त्रैविध्यम् । अथ वा "यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितम् अन्तरिक्षम्" [नृ० पू० ता० १] इति वचनात् तेषाम् आवासभेदेन त्रैविध्यम् । चतुरः समुद्रान् आहुः । यद्यप्यत्र त्रिवृन्मणिस्तुतिसाधनत्वेन त्रित्वं अपेक्षितं तथापि चतुर्षु त्रयाणां संभवात् चत्वारः समुद्रा इति प्रसिद्ध्यनतिलङ्घनाय चतुरः समुद्रान् इत्युक्तम् । एवं स्तोमं त्रिवृतम् आहुः । त्रिवृदाख्ये स्तोमे त्रयाणां तृचानां संभवाद् ऋचां गानस्य च त्रिरावृत्तेश्च स्तोमम् स्तोत्रं त्रिवृतम् आहुः । तथा आपः अपः त्रिवृत आहुः दिव्यान्तरिक्षभौमभेदेन । तास्त्रिवृतः । द्युपृथिव्यादिकाः त्रिवृत्त्वधर्मवत्यः त्रिवृन्मणिना सह अभेदम् आपन्नाः सत्यः त्रिवृद्भिः प्रकारैः मणिगतहिरण्यरजतलोहलक्षणेन त्रिवृता सह अभेदम् आपन्नैः त्वा त्वां रक्षन्तु ॥

अभिज्ञ पुरुष तीन द्युलोकों (स्वर्गों) का वर्णन करते हैं (स्वर्गका त्रिवृत्त्व चन्द्रसूर्य और नक्षत्रोंके आश्रयस्थानके भेदसे

है अथवा उसमें जाने वालोंके उत्तम मध्यम और अधमके भेदसे मन्तव्य स्थानका भी त्रैविध्य है। इसीप्रकार पृथिवी और अन्तरिक्षका भी गन्तृभेदसे त्रैविध्य है) तथा जानकार पुरुष पृथिवी को भी तीन प्रकारकी कहते हैं [निकृष्ट प्राणियोंके भोगकी आश्रय पृथिवी एक होती है, मध्यम प्राणियोंके भोगकी आश्रय पृथिवी दूसरी होती है, उत्तम प्राणियोंके भोगकी आश्रय पृथिवी और ही होती है । अथवा—तृण औषधि और वनस्पतियोंसे पृथिवीका त्रिवृत्त्व है] विद्वान् पुरुष अन्तरिक्षके भी त्रिवृत्त्वका वर्णन करते हैं [यहाँ पर भी पुण्यात्माओंके तीन प्रकारके होने से गन्तव्य अन्तरिक्षका भी त्रैविध्य है, अथवा--"यक्षगंधर्वाप्सरोगणसेवितम् अन्तरिक्षम् ।--अन्तरिक्ष यक्ष गंधर्व और अप्सराओंसे सेवित है" इस नृसिंहपूर्वतापनी उपनिषत् १ के वचनसे उनके आवासभेदसे अंतरिक्षका भी त्रैविध्य है] और विद्वान् पुरुष चार समुद्रोंका वर्णन करते हैं [यद्यपि यहाँ त्रिवृन्मणिस्तुतिसाधनत्वसे त्रित्व अपेक्षित है तथापि चारमें तीन संभव हो सकते हैं, अतः "चार समुद्र हैं" इस प्रसिद्धिका उल्लंघन न करनेके लिये चार समुद्रोंका वर्णन किया है] विद्वान् पुरुष इसी प्रकार स्तोमको भी त्रिवृत् कहते हैं, तात्पर्य यह है, कि–त्रिवृत् नामक स्तोममें तीन ऋचाएँ होती हैं वा ऋचाओंके गानकी तीन वार आवृत्ति होती है अत एव स्तोम (स्तोत्र) को त्रिवृत् कहते हैं। तथा जलोंको भी दिव्य आन्तरिक्ष और भौम भेदसे तीन प्रकारका कहते हैं। ये त्रिवृत् द्यौ पृथिवी आदि त्रिवृत्–मणिके साथ अभेदको प्राप्त हो अपने तीन भेदों सहित मणिगत हिरण्य-रजत लोहरूप त्रिवृत्के द्वारा तेरी रक्षा करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

त्रीन्नाकांस्त्रीन् समुद्रांस्त्रीन् ब्रध्नांस्त्रीन् वैष्टपान् ।

त्रीन् मा॑तरि॒श्वन॒स्त्रीन्त्सूर्या॑न् गो॒प्तॄन् क॒ल्पया॑मि ते४

त्रीन् । नाकान् । त्रीन् । स॒मु॒द्रान् । त्रीन् । ब्र॒ध्नान् । त्रीन् । वै॒ष्टपान् ।

त्रीन् । मा॒त॒रि॒श्वनः । त्रीन् । सूर्यान् । गो॒प्तॄन् । क॒ल्प॒या॒मि । ते४

हे हिरण्यरजतलोहात्मकत्रिवृन्मणिधारक पुरुष त्रीन् नाकान्। उक्तप्रकारेण गन्तृत्रैविध्याद् गन्तव्यस्य नाकस्य स्वर्गस्यापि त्रैविध्यम् । नास्मिन् अकं दुःखम् अस्तीति तद्व्युत्पत्तिः । "पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति" इति वचनात् । तान् ते गोप्तॄन् कल्पयामि त्रिवृन्मणिद्वारा रक्षकान् करोमि । एवम् उत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । त्रीन् समुद्रान् समुद्द्रवन्ति अस्माद् आप इति समुद्राः अन्तरिक्षविशेषाः । तान् त्रीन् । अथ वा प्रसिद्धा एव समुद्राः परिगृह्यन्ते । उत्तरसमुद्रस्य दुरन्तत्वात् त्रीन् इत्यभिहितम् । तान् ते गोप्तॄन् कल्पयामि । त्रीन् बध्नान् बध्नः सर्वस्य बन्धः आधारभूत आदित्यः। तस्य त्रैविध्यं प्रकाश्यस्थानत्रैविध्याद् द्रष्टव्यम् । त्रीन् वैष्टपान् । विष्टपान् इत्यर्थः । बध्नस्य त्रित्वाभिधानात् तदाश्रयविष्टपानामपि त्रैविध्यम् । यद्वा विष्टपशब्दो भुवनसामान्यवचनः "विष्टपं भुवनं जगत्" इत्यभिधानात् । विष्टपानां त्रैविध्यात् तत्रत्याः प्राणिनोपि देवमनुष्यपित्रात्मकत्वेन त्रिविधास्तान् । त्रीन् मातरिश्वनः ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गतिभेदेन वा संचाराश्रयभूतलोकानां त्रित्वेन वा मातरिश्वापि त्रिविधः तान् । मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति चेष्टते इति मातरिश्वा इति तच्छब्दव्युत्पत्तिः । त्रीन् सूर्यान् प्रकाश्यानां लोकानां त्रित्वात् सूर्या अपि त्रय इत्युच्यन्ते । यद्वा रश्मिमण्डलतदधिष्ठातृदेवताभेदेन सूर्यस्य त्रित्वम् । त्रिवृन्मणिं योजयन् अहं ये ये त्रैविध्योपपन्ना नाकाद्याः सन्ति तान् सर्वान् ते तव गोप्तॄन् कल्पयामि ॥

हे हिरण्यरजतलोहात्मकत्रिवृत् मणिको धारण करने वाले पुरुष ! मैं तीन प्रकारके स्वर्गोंको त्रिवृन्मणिके द्वारा तेरे रक्षक बनाता हूँ, तीन समुद्रों (अन्तरिक्षोंको वा उत्तरसमुद्रके दुरन्त होनेसे तीन प्रसिद्ध समुद्रों) को तेरा रक्षक बनाता हूँ, सबके आधारभूत तीन ब्रध्न अर्थात् आदित्योंको तेरा रक्षक बनाता हूँ (प्रकाश्य द्युस्थान आदिके तीन होनेसे यहाँ सूर्यका त्रित्व कहा है) देव मनुष्य पितर इन तीनोंके भुवनोंको तेरा रक्षक नियुक्त करता हूँ, ऊर्ध्व अधः और तिर्यक् भेदसे तीन प्रकारके वायुको भी तेरा रक्षक बनाता हूँ, रश्मिमण्डल, तदधिष्ठातृदेवता भेदसे तीन सूर्योंको मैं तेरा रक्षक बनाता हूँ। त्रिवृन्मणिको बाँधता हुआ मैं त्रैविध्यको प्राप्त हुए स्वर्ग आदिको तेरा रक्षक बनाता हूँ ॥४॥

हे अग्ने ! होमके साधन घृतसे आपको बढ़ाना चाहता हुआ

पञ्चमी ॥

घृतेन॑ त्वा॒ समु॑क्षाम्यग्न॒ आज्ये॑न व॒र्धय॑न् ।
अ॒ग्नेश्च॒न्द्रस्य॒ सूर्य॑स्य॒ मा प्रा॒णं मा॒यिनो॑ दभन् ॥५॥

घृतेन॑ । त्वा॒ । सम् । उ॒क्षा॒मि॒ । अग्ने॑ । आज्ये॑न । व॒र्धय॑न् ।
अ॒ग्नेः । च॒न्द्रस्य॑ । सूर्य॑स्य । मा । प्रा॒णम् । मा॒यिनः॑ । द॒भन् ॥ ५ ॥

हे अग्ने त्वा त्वाम् आज्येन होमसाधनेन वर्धयन् अभिवृद्धं कुर्वन् कर्तुम् इच्छन् अहम् घृतेन सम् उक्षामि सम्यक् सिञ्चामि। बह्वीभिर्घृतधाराभिरक्तं करोमि। अग्नेर्घृतेन समुक्षितस्य चन्द्रस्य ओषधिवनस्पत्याद्याह्लादकारणस्य सूर्यस्य देवस्य च अनुग्रहात् हे मणिं बिभ्रत् पुरुष तव प्राणं मायिनः मायावन्तोऽसुरा मा दभन्

दम्भनं मा कुर्वन्तु। मापहरन्तु इत्यर्थः। ❀ दन्भु दम्भे। अस्य लुङि अङि रूपम् ❀॥

मैं आपको घृतसे भली प्रकार सींचता हूँ, घृतसे समुक्षित अग्निके, औषधि वनस्पति आदिको आन्हादिक करने वाले चन्द्रमाके और सूर्यदेवके भी अनुग्रहसे भी हे मणिधारक पुरुष ! तेरे प्राण को मायावी असुर नष्ट न कर सकें॥ ५॥

षष्ठी॥

मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन्।
भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत॥ ६॥

मा। वः। प्राणम्। मा। वः। अपानम्। मा। हरः। मायिनः। दभन्।
भ्राजन्तः। विश्वऽवेदसः। देवाः। दैव्येन। धावत॥ ६॥

अत्र राज्ञो मणिबन्धने विनियोगाद् राजनि पूजार्थं बहुवचनस्य युक्तत्वाद् अत्र व इति बहुवचननिर्देशः। यद्वा राज्ञः पुत्रभृत्यादिकं अपेक्ष्य बहुवचनम्। हे राजादयः वः युष्माकं प्राणं मायिनो मायावन्तोऽसुरा मा दभन् हिंसां मा कुर्वन्तु। तथा वः अपानमपि मा दभन्। एवं हरः शत्रुबलापहारकं तेजो मा दभन्। तदर्थम् हे देवाः अग्निचन्द्रसूर्याः भ्राजन्तः दीप्यमाना विश्ववेदसः विश्वस्य सर्वस्य वेत्तारो विश्वधना वा। वेद इति धननाम। यूयं दैव्येन देवसम्बन्धिना रथादिना साधनेन वेगेन वा धावत। प्राणरक्षार्थम् इति शेषः। ❀ दैव्येनेति। "देवाद् यञञौ" इति यञ् ❀।

हे राजाके पुत्र आदि ! मायावी असुर तुम्हारे प्राणकी हिंसा न कर सकें, तथा तुम्हारे अपानकी भी हिंसा न कर सकें, तथा तुम्हारे तेजको भी क्षीण न कर सकें। हे अग्नि चन्द्र सूर्य आदि देवताओं ! इस कारण दमकते हुए सर्वज्ञ तुम भी दिव्यरथमें बैठ कर वेगसे दौड़ो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः ।

प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन् ॥ ७ ॥

प्राणेन । अग्निम् । सम् । सृजति । वातः । प्राणेन । सम्ऽहितः ।

प्राणेन । विश्वतःऽमुखम् । सूर्यम् । देवाः । अजनयन् ॥ ७ ॥

प्राणरक्षाम् आशास्य इदानीं तस्य माहात्म्यं वर्णयति । प्राणेन मुखस्थेन वायुना अग्निं सं सृजति संयोजयति समिन्धनकर्ता पुरुषः । यत एवम् अतः प्राणो रक्षितव्यः । किं च वातः बाह्यो वायुः प्राणेन मुखस्थेन सह संहितो भवति । अनेन तयोरेकत्वम् उक्तं भवति । अपि च प्राणेन सूत्रात्मरूपेण ब्रह्मणा विश्वतोमुखम् । सर्वत्र प्रकाशकत्वात् सूर्यो विश्वतोमुख इत्युच्यते । यद्वा मां प्रत्युदगात् इति प्रतिपुरुषम् अभिमुख्यबुद्धिसंभवाद् विश्वतोमुखत्वव्यवहारः । तादृशं सूर्यं देवा इन्द्राद्या अजनयन् पुरा उदपादयन् । स्वस्वप्रयोजनाय लब्धवन्त इत्यर्थः । एवं महानुभावः प्राण इति प्राणस्य अवश्यरक्षणं युक्तम् इत्यभिप्रायः॥

[प्राणरक्षाकी प्रार्थना करके अब प्राणके माहात्म्यका वर्णन करते हैं, कि—] समिधनकर्ता पुरुष मुखकी वायु—प्राण-से अग्नि को संयुक्त करता है (अत एव प्राणकी रक्षा करनी चाहिये) और बाहरी वायु मुखमें स्थित प्राणके साथ संयुक्त होता है

(इससे इन दोनोंका एकत्व है) और प्राणसे अर्थात् सूत्रात्मा-रूप ब्रह्मसे इन्द्र आदि देवताओंने सर्वत्र प्रकाशक होनेसे विश्वतो-मुख सूर्यको प्रकट किया था अर्थात् अपने २ प्रयोजनके लिये प्राप्त किया था। तात्पर्य यह है, कि–प्राण ऐसा महानुभाव है। अत एव उसकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

आयुर्षायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः ।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम् ॥८॥

आयुषा । आयुःकृताम् । जीव । आयुष्मान् । जीव । मा । मृथाः । प्राणेन । आत्मन्ऽवताम् । जीव । मा । मृत्योः । उत् । अगाः । वशम् ॥ ८ ॥

हे राजन् मणिधारक त्वम् आयुष्कृताम् । परेषाम् आयुरभि-वृद्धिकर्तार आयुष्कृतः यद्वा तपआदिना दीर्घम् आयुः कुर्वन्ति संपा-दयन्तीति आयुष्कृतः चिरकालजीविनः पूर्वे महर्षयः आयुष्कृतः । तेषाम् आयुषा । तेषां यादृग् आयुस्तादृशेनायुषेत्यर्थः । अथ वा तैर्दत्तेन आयुषा त्वं जीव। तस्माद् आयुष्मान्। ❀ भूमार्थे मतुप् ❀। दीर्घायुष्यः । भवेति शेषः । उक्तवैपरीत्यं निराकरोति । जीव मा मृथाः मृतिं मा प्राप्नुहि। ❀ मृङ् प्राणत्यागे। "माङि लुङ्"। "हस्वाद् अङ्गात्" इति सिचो लोपः ❀ । आत्मन्वताम् स्थिरेण आत्मना तद्वन्तः तेषाम् आत्मन्वताम् । ❀ "अनो नुट्" इति मतुपो नुडागमः ❀ । तेषां प्राणेन त्वं जीव । किं च मृत्योः मारकस्य देवस्य वशं मा उद् अगाः मोद्गच्छ मा प्राप्नुहि ॥

हे मणिको धारण करने वाले राजन्! तू दूसरोंकी आयु बढ़ा सकने वाले और तप आदिसे अपनी आयुको लंबी करने

वाले प्राचीन महर्षियोंकी दी हुई उनकी आयुसे तू जीवित रह, तू आयुष्मान् होकर जीवित रह मर मत । तू उन स्थिर आयु वालोंके प्राणसे जीवित रह और मारक देव मृत्युके वशमें न पड़ ॥ ८ ॥

नवमी ॥

देवानां निहितं निधिं यमिंद्रोन्वविन्दत् पथिभिर्देवयानैः आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः ॥ ९ ॥

देवानाम् । निऽहितम् । निऽधिम् । यम् । इन्द्रः । अनुऽअविन्दत् । पथिऽभिः । देवऽयानैः ।

आपः । हिरण्यम् । जुगुपुः । त्रिवृत्ऽभिः । ताः । त्वा । रक्षन्तु । त्रिऽवृता । त्रिवृत्ऽभिः ॥ ९ ॥

यं प्रसिद्धं निहितम् निक्षेपत्वेन संगोप्य स्थापितं हिरण्याख्यं देवानां निधिम् इन्द्रो देवः देवयानैः देवमार्गैः देवा यैर्मार्गैर्गत्वा निधिं निहितवन्तस्तैः पथिभिर्मार्गैः स्वयमपि गत्वा अन्वविन्दत् अन्विष्य लब्धवान् । यद्देवनिधिरूपं हिरण्यं त्रिवृतः उक्तप्रकारेण त्रिविधा आपः त्रिवृद्भिः साधनैर्जुगुपुः अरक्षन् तास्त्रिवृत आपः त्रिवृद्भिः हिरण्यरजतलोहरूपेण त्रिविधैः स्वरूपैस्त्वा त्वां रक्षन्तु पालयन्तु ॥

जिस देवताओंकी थातीरूप होनेसे छिपा कर रखी हुई हिरण्य नामक निधिको इन्द्रने देवमार्गोंसे जा खोज कर पा लिया था और जिस देवनिधिरूप हिरण्यकी पूर्वोक्त रीतिसे त्रिवृत् जलोंने

रक्षा की है, वे त्रिवृत् जल हिरण्य रजत लोहरूप तीन प्रकारके शरीरोंसे आपकी रक्षा करें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

त्रयस्त्रिंशद् देवतास्त्रीणि च वीर्याणि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्व१न्तः ।
अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि

त्रयःऽत्रिंशत् । देवताः । त्रीणि । च । वीर्याणि । प्रियऽयमाणा । जुगुपुः । अप्ऽसु । अन्तः ।
अस्मिन् । चन्द्रे । अधि । यत् । हिरण्यम् । तेन । अयम् । कृणवत् । वीर्याणि ॥ १० ॥

त्रयस्त्रिंशद् देवताः "अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च" इति ऐतरेयब्राह्मणे [ऐ० ब्रा० १.१०] समाम्नाताः । बृहदारण्यके तु "अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः" इत्यभिधाय "इन्द्रश्च प्रजापतिश्च" [बृ० आ० ३. ९. ३] इति वषट्कारस्थाने इन्द्र आम्नातः । ता अत्र त्रयस्त्रिंशद् देवता इत्यनेन परिगृह्यन्ते । ता देवताः त्रीणि च वीर्याणि । अत्र चशब्दः पूर्वमन्त्रोक्तम् "आपो हिरण्यं जुगुपुः" इत्युक्तं हिरण्यं समुच्चिनोति । त्रीणि वीर्याणि च कायिकवाचिकमानसभेदेन त्रिविधानि च सामर्थ्यानि प्रियायमाणाः प्रियमिव आचरन्त्यः । तेषु अत्यर्थं प्रियं कुर्वाणा इत्यर्थः । अप्स्वन्तर्जुगुपुः उदकेषु मध्ये यथा अन्ये नापहरेयुस्तथा उदकेषु मध्ये गोपनम् अकुर्वन् । अस्मिन् परिदृश्यमाने चन्द्रे अधि आन्हादक उदके यत् हिरण्यम् अस्ति । अप्सु हिरण्यावस्थानं पूर्वमन्त्रे "आपो हिरण्यं जुगुपुः"

इत्याम्नानात् सिद्धम् । तेन अवस्थितेन हिरण्येन स्वमुख्यांशभूतेन अयं मणिः वीर्याणि स्वेन सह अवस्थितानि वीर्याणि त्रयस्त्रिंशद्देवतानां त्रिविधानि सामर्थ्यानि कृणवत् मणिधारके पुरुषे करोतु ॥ यद्वा हिरण्यरजतलोहानां त्रयाणां यानि आयुर्वर्धनैश्वर्यकरत्वशत्रुजयाख्यानि अनन्यसाधारणानि त्रीणि वीर्याणि सन्ति तानि अन्येषां मा भूवन्निति बुद्ध्या प्रियायमाणाः अप्सु अन्तः गोपनम् अकुर्वन् । तानि अस्मिंश्चन्द्रे प्रसिद्धे चन्द्रमसि चन्द्रस्य अम्मयत्वात् तत्र यद्धिरण्यं निहितं तेन हिरण्येन अयं मणिः उक्तविधानि त्रीणि वीर्याणि कृणवत् इति । ❀ प्रियायमाणा इति । "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ् । "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः ❀ ॥

आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और वषट्कार (वा इन्द्र) इन तैंतीस देवताओंने कायिक वाचिक और मानसिक इन तीन प्रकारकी शक्तियोंको और सुवर्णको प्रिय समझ कर जलके भीतर स्थापित कर दिया है (जिससे, कि-दूसरे इनका अपहरण न कर सकें । इस दीखते हुए आह्लादक चन्द्रमामें—जलमें-जो सुवर्ण है, उस मुख्य अंश सुवर्णके द्वारा यह मणि अपने साथ स्थित तैंतीस देवताओंकी अनेक प्रकारकी शक्तियों को इस मणिधारक पुरुषमें करे ॥ १० ॥

ये देवा दिव्येकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ११

ये । देवाः । दिवि । एकादश । स्थ । ते । देवासः । हविः । इदम् । जुषध्वम् ॥ ११ ॥

ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम् ॥ १२ ॥

ये । देवाः । अन्तरिक्षे । एकादश । स्थ । ते । देवासः । हविः । इदम् । जुषध्वम् ॥ १२ ॥

ये देवा पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्

ये । देवाः । पृथिव्याम् । एकादश । स्थ । ते । देवासः । हविः। इदम् । जुषध्वम् ॥ १३ ॥

एकादशी ॥ ये देवा दिव्याः दिवि भवाः । ॐ "भवे छन्दसि" इति यः ॐ । दिवि द्युलोके आदित्याख्या गणा एकादश स्थ भवथ । यद्यपि ते द्वादश तथापि एकादशत्वाभिधानं न विरुध्यते॥ अधिकसंख्यायां न्यूनसंख्यायाः संभवात् । ते देवासः देवाः इदं हविः हूयमानम् आज्यं जुषध्वम् सेवध्वम् । एवं ये देवा अंतरिक्षे एकादश स्थ रुद्राभिधानाः ते देवा इदं हविर्जुषध्वम् ॥ तथा ये देवाः पृथिव्याम् एकादश स्थ भवथ । अत्रापि त्रयाणां न्यूनताम् अनादृत्य एवं उक्तम् । गतम् अन्यत् ॥

जो द्युलोकमें तुम एकादश आदित्य नामक देवता हो (यद्यपि आदित्य बारह हैं तथापि अधिक संख्याका न्यूनसंख्यामें अन्तर्भाव होजाता है अत एव एकादश कहनेमें कोई विरोध नहीं है) वे देवता इस होमी हुई घृतात्मक हविका सेवन करो । अन्तरिक्ष में जो तुम ग्यारह रुद्र नामक देवता हो, वे देवता इस हूयमान हविका सेवन करो, पृथिवीमें जो तुम ग्यारह देवता हो वे इस हविका सेवन करो ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

द्वादशी ॥

असपत्नं पुरस्तात् पश्चान्नो अभयंकृतम् ।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः ॥ १४ ॥

असपत्नम् । पुरस्तात् । पश्चात् । नः । अभयम् । कृतम् ।

सविता । मा । दक्षिणतः । उत्तरात् । मा । शचीऽपतिः ॥ १४ ॥

अत्र यद्यपि पुरस्तात् पश्चाच्च रक्षाविषये देवते न निर्दिष्टे तथापि कृतम् इति द्विवचनसामर्थ्याद् उत्तरार्धे वक्ष्यमाणौ सवितृशचीपती परिगृह्येते। हे उक्ते देवते युवां मे मह्यं पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि पश्चात् प्रतीच्यां च अभयम् भयराहित्यम् असपत्नं यथा भवति तथा कृतम् कृणुतम् । अथ वा पुरस्ताद् असपत्नम् सपत्नाभावं कृतं पश्चाद् अभयं च कृतम् । जिगीषोः पुरतः शत्रूणां अभाव आशास्यः पश्चाच्च पार्ष्णिग्राहाद् भयाभावाय अभयम् आशास्यम् । अतः पुरस्ताद् असपत्नं कृणुतं पश्चाद् अभयं कृणुतम् इति विभागः । तथा सविता मा मां दक्षिणतः दक्षिणदिक्शकाशाद् दक्षिणदिग्गताद् भयात् सविता रक्षतु इत्यध्याहर्तव्यम् । उत्तरमन्त्रे भूम्या रक्षत्वग्नय इति रक्षणक्रियासम्बन्धात् । एवम् उत्तरात् उत्तरदिग्गताद् भयात् । ❀ "उत्तराधरदक्षिणाद् आतिः" इति आतिप्रत्ययः ❀ । मा मां शचीपती रक्षतु ॥

हे सविता और शचीपति देवताओं ! पहिले पूर्वदिशामें फिर पश्चिम दिशामें जिस प्रकार मुझको भयरहित असपत्नता प्राप्त हो तैसा करो, अथवा—सामनेसे शत्रुके अभावको और पीछेसे अभयको करो । विजयकी इच्छा रखने वालेके सामनेसे शत्रुओं के अभावकी आशा करनी चाहिये और पीछेसे पार्ष्णिग्राहसे भयके अभावकी प्रार्थना करनी चाहिये अत एव पहिले शत्रुके अभावको करिये और पीछेसे अभयको करिये यह विभाग किया है । तथा सविता देवता दक्षिण दिशाके ओरके भयसे मेरी रक्षा करें, उत्तरदिशाके भयसे शचीपति इन्द्र मेरी रक्षा करें ॥ १४ ॥

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः ।

इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः
सन्तु वर्म ॥ १५ ॥

दिवः । मा । आदित्याः । रक्षन्तु । भूम्याः । रक्षन्तु । अग्नयः ।
इन्द्राग्नी इति । रक्षताम् । मा । पुरस्तात् । अश्विनौ । अभितः ।
शर्म । यच्छताम् ।
तिरश्चीन् । अघ्न्या । रक्षतु । जातऽवेदाः । भूतऽकृतः । मे । सर्वतः ।
सन्तु । वर्म ॥ १५ ॥

त्रयोदशी ॥ आदित्यानां द्युस्थानत्वाद् दिवः सकाशाद् रक्षणम् उचितम् । अग्नीनां च पृथिव्यायतनत्वात् तस्याः सकाशाद् रक्षणप्रार्थना । अथ वा "असपत्नम्" इत्यारभ्य "रक्षन्त्वग्नयः" इत्यन्त एको मन्त्रः । तथा सति रक्षन्त्विति पदम् अर्थानुसारेण रक्षत्विति विपरिणमयितुं सुशकम् । उत्तरत्र छन्दोन्तरत्वाद् नायम् अर्धर्चस्तत्र संबध्यते ॥

चतुर्दशी ॥ इन्द्राग्नी मा मां पुरस्ताद् रक्षताम् पालयताम् । तथा अश्विनौ देवौ अभितः सर्वतः सर्वासु दिक्षु शर्म सुखं यच्छताम् । एवं तिरश्चीन् तिर्यगञ्चनान् अस्मान् । ❀ तिरः-पूर्वाद् अञ्चतेः क्विन् । "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप् । "अचः" इति अकारलोपः ❀ । यद्वा तिरश्चीः तिर्यग्दिशो जातवेदाः जातप्रज्ञो रक्षाविषयप्रज्ञावान् अग्निः रक्षतु । तिर्यक्प्रदेशेभ्यो रक्षत्वित्यर्थः । ❀ अघ्नी रक्षतु इत्यत्र "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" इति सांहितिको दीर्घः ❀ । एवं भूतकृतः भूतानां पृथिव्यादीनां

कर्तारः पञ्चभूताभिमानिदेवा अग्न्यादयो मे सर्वतः वर्म वारकं कवचं सन्तु भवन्तु ॥

इत्येकोनत्रिंशे काण्डे चतुर्थेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

द्युस्थान आदित्यदेवता द्युलोकके भयसे मेरी रक्षा करें, पृथिवी-स्थान अग्नि भूमिके उपद्रवोंसे मेरी रक्षा करें। इन्द्र और अग्नि-देवता सामनेसे मेरी रक्षा करें, तथा अश्विनीकुमार सब दिशाओं में मुझे सुख प्रदान करें, तिरछे स्थानोंसे जातवेदा अग्नि मेरी रक्षा करें। इस प्रकार पञ्चभूतोंके अभिमानी अग्नि आदि देवता मुझको चारों ओरसे रक्षक कवच प्रदान करें ॥ १५ ॥

उन्नीसवें काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५७१)

"इमं बध्नामि ते मणिम्" इति सूक्तत्रयम् "ऐन्द्रीं जयबलवृष्टि-पशुकामस्य परचक्रागमे च" इति [न० क० १७] विहितायाम् ऐन्द्र्याख्यायां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियुक्तम्। सूत्रितं हि नक्षत्रकल्पे। "इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे [१९. २८] इति दर्भमणिम् ऐन्द्र्याम् अभीवर्तेन [१. २९] इति रथनेमिमणिं माहेन्द्र्याम्" इति [न० क० १९] ॥

"इमं बध्नामि ते मणिम्" आदि तीनों सूक्तोंका "ऐन्द्रीं जयबलवृष्टिपशुकामस्य परचक्रागमे च।–जय बल वृष्टि और पशुकामकी ऐन्द्री शान्तिको शत्रुचक्रके आगममें भी करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित ऐन्द्री नामक महाशान्तिके दर्भमणि-बन्धनमें विनियोग होता है। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे (१९ । २८) इति दर्भमणिं ऐन्द्र्यां अभीवर्त्तेन (१ । २९) इति रथनेमिमणिं माहेन्द्र्याम्" (नक्षत्रकल्प १९) ॥

तत्र प्रथमा ॥

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे ।

दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः ॥ १ ॥

इमम् । बध्नामि । ते । मणिम् । दीर्घायुऽत्वाय । तेजसे ।

दर्भम् । सपत्नऽदम्भनम् । द्विषतः । तपनम् । हृदः ॥ १ ॥

हे विजयबलादिकाम ते तव इमं मणिं दर्भमयं बध्नामि । किमर्थम् । दीर्घायुष्ट्वाय यथा त्वं दीर्घायुर्भवसि तथाभावाय तेजसे अतिशयिततेजोलाभाय । मणिं विशिनष्टि । दर्भम् । विकारे प्रकृतिशब्दः । दर्भनिर्मितं मणिं सपत्नदम्भनम् शत्रूणां हिंसकं सपत्नीवत् सपत्नः । * "त्यन्त्सपत्ने" इति निपातनात् साधुः । दम्भनम् इति । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् * । द्विषतः द्वेषं कुर्वतः शत्रोः हृदः हृदयस्य तपनं तापकम् ॥

हे विजय और बल आदिको चाहने वाले पुरुष ! मैं शत्रुओं को क्षीण करने वाली और शत्रु के हृदयको सन्तप्त करने वाली दर्भमय मणिको दीर्घायुकी प्राप्ति और तेजके लिये बाँधता हूं १

द्वितीया ॥

द्विषतस्तापयन् हृदः शत्रूणां तापयन् मनः ।

दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्म इवाभीन्त्संतापयन् ॥२॥

द्विषतः । तापयन् । हृदः । शत्रूणाम् । तापयन् । मनः ।

दुःऽहार्दः । सर्वान् । त्वम् । दर्भ । घर्मःऽइव । अभीन् । सम्ऽतापयन् ॥ २ ॥

हे दर्भमणे त्वं द्विषतः द्वेषं कुर्वतः शत्रोः हृदः हृदयं तापयन् संतप्तं कुर्वन् तथा शत्रूणां मनश्च तापयन् एवं दुर्हार्दः दुष्टहृदयस्य । * हृद इदं हार्दम् । "तस्येदम्" इति अण् । हार्दं

करोति । "तत् करोति०" इति णिच् । हार्दयतेः क्विप्यपि "णेर-निटि" इति णिलोपः ❀ । तस्य सर्वम् गृहक्षेत्रपश्वादिकं घर्म इव आदित्य इव । यद्वा "यद् घ्रा ३ इत्यपतत् तद् घर्मस्य घर्म-त्वम्" इति [तै० आ० ५. १. ५] श्रुतेः घर्मः प्रवर्ग्यः । स इव अभीन् अभयान् संतापयन् भिन्द्धीति संबन्धः ॥

हे दर्भमणे! तू द्वेष करने वाले शत्रुके हृदयको तप्त करता हुआ और शत्रुओंके मनको तप्त करता हुआ दुष्ट हृदय वाले शत्रुके गृह क्षेत्र पशु आदि सबको सूर्यकी समान तप्त करके नष्ट कर २

तृतीया ॥

घर्म इवाभितपन् दर्भ द्विषतो नितपन् मणे ।
हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्र इव विरुजं बलम् ॥ ३ ॥

घर्मःऽइव । अभिऽतपन् । दर्भ । द्विषतः । निऽतपन् । मणे ।
हृदः । सऽपत्नानाम् । भिन्द्धि । इन्द्रःऽइव । विऽरुजन् । बलम् ३

हे दर्भ । दर्भविकारे दर्भशब्दः । हे दर्भनिर्मित मणे त्वं घर्म इव । उक्तो घर्मशब्दार्थः निदाघकालो वा । स इव द्विषतः द्वेषं कुर्वतः शत्रोर्हृदयम् । यद्वा । ❀ कर्मणि षष्ठी ❀ । द्विषन्तम् शत्रुम् अभितपन् अभितः संतापं कुर्वन् तथा नितपन् नितरां संतापयन् भिन्द्धि भेदं कुरु । दार्ढ्याय उक्तमेवार्थम् पुनराह । सपत्नानाम् राष्ट्रादिविषये समानः पतिर्येषां ते सपत्नाः । राष्ट्र-विषये स्वेषामपि पतित्वं कामयमाना इत्यर्थः । ❀ सपत्नीव सपत्नः । "व्यन्तसपत्ने" इति निपातनात् साधुः ❀ । तेषां बलम् शारीरं बाह्यं च इन्द्र इव विरुजन् स यथा शत्रूणां बलं विरुजति एवं विरुजन् नाशयन् तेषां हृदः हृदयानि भिन्द्धि विदा-रय । भिदिर् विदारणे ❀ ।

हे दर्भमणे ! तू सूर्य वा ग्रीष्म ऋतुकी समान द्वेष करनेवाले शत्रुओंको सन्तप्त करता हुआ भेद डाल, तू शत्रुओंके हृदयको और उनके भीतरी और बाहरी बलको इन्द्रकी समान नष्ट कर डाल ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

भिन्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे ।
उद्यन् त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय ॥४॥

भिन्धि । दर्भ । सऽपत्नानाम् । हृदयम् । द्विषताम् । मणे ।
उत्ऽयन् । त्वचम्ऽइव । भूम्याः । शिरः । एषाम् । वि । पातय ४

हे दर्भ मणे द्विषताम् द्वेषं कुर्वतां सपत्नानां हृदयं भिन्धि । हृदयभेदनमात्रेण अपरितुष्यन्नाह । उद्यन् ऊर्ध्वं गच्छन् भुजादिप्रदेशम् अधितिष्ठन् त्वं भूम्यास्त्वचम् इव तृणगुल्मौषध्याद्याधिष्ठानभूतां यथा तत्क्षणेन निपातयति गृहादिनिर्माणार्थं लोके एवम् एषां सपत्नानां शिरः । जात्येकवचनम् । शिरांसि वि पातय अधःपतितानि कुरु ॥

हे दर्भमय मणे ! तू द्वेष करने वाले शत्रुओंके हृदयको वेध डाल, (हृदयभेदनसे ही सन्तुष्ट न होते हुए कहते हैं, कि—) इसके भुजा आदिके ऊपर खड़ा होता हुआ तू, जैसे भूमिकी त्वचा तृण आदिको घर आदि बनानेके लिये मनुष्य काट कर गिरा देते हैं, इसी प्रकार तू शत्रुओंके शिरोंको काटकर गिरादे ४

पञ्चमी ॥

भिन्धि दर्भ सपत्नान् मे भिन्धि मे पृतनायतः ।
भिन्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो भिन्धि मे द्विषतो मणे ५

भिन्द्धि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । भिन्द्धि । मे । पृतनाऽयतः ।

भिन्द्धि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । भिन्द्धि । मे । द्विषतः । मणे ५

पृतनायतः पृतना सेना । ताम् आत्मन इच्छन्तः । पृतनायतः तान् भिन्द्धि । ❀ "सुप आत्मनः क्यच्" इति क्यच् । सर्वविधीनां छन्दसि विकल्पितत्वाद् आकारलोपाभावः ❀ । तान् भिन्द्धि । ❀ भिदिर् विदारणे ❀ । दुर्हार्दः दुष्टहृदयान् । ❀ हृद् इदं हार्दम् । "तस्येदम्" इति अण् । हार्दं करोति । "तत् करोति०" इति णिच् । हार्दयतेः क्विपि "णेरनिटि" इति णिलोपः ❀ । स्पष्टम् अन्यत् ।

हे दर्भमय मणे ! तू, मेरे लिये सेनाको एकत्रित करना चाहने वाले मेरे शत्रुओंको भेद डाल ! भेद डाल !! मुझसे द्वेष करने वालोंको भेद ! मेरे दुर्हार्दोंको भेद ! ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

छिन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे छिन्द्धि मे पृतनायतः ।

छिन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दान् छिन्द्धि मे द्विषतो मणे ६

छिन्द्धि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । छिन्द्धि । मे । पृतनाऽयतः ।

छिन्द्धि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दान् । छिन्द्धि । मे । द्विषतः । मणे

छिन्द्धि । ❀ छिदिर् द्वैधीकरणे ❀ । शिष्टं समानम् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको छेद, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको छेद ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको छेद ! मुझसे द्वेष रखने वालोंके दो टुकड़े कर ६

सप्तमी ॥

वृश्च दर्भ सपत्नान् मे वृश्च मे पृतनायतः ।
वृश्च मे सर्वान् दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे ॥ ७ ॥

वृश्च । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । वृश्च । मे । पृतनाऽयतः ।
वृश्च । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । वृश्च । मे । द्विषतः । मणे ।७।

वृश्च । ❀ ओव्रश्चू छेदने इति धातुः ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको काट, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको काट ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको काट ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको काट ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

कृन्त दर्भ सपत्नान् मे कृन्त मे पृतनायतः ।
कृन्त मे सर्वान् दुर्हार्दो कृन्त मे द्विषतो मणे ॥ ८ ॥

कृन्त । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । कृन्त । मे । पृतनाऽयतः ।
कृन्त । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दान् । कृन्त । मे । द्विषतः । मणे ८

कृन्त । ❀ कृती छेदने । "शे मुचादीनाम्" इति नुम् आगमः ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको छिन्न कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको छिन्न कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको छिन्न कर मुझसे द्वेष रखने वालोंको छिन्न कर ॥ ८ ॥

नवमी ॥

पिंश दर्भ सपत्नान् मे पिंश मे पृतनायतः ।

पिंश मे सर्वान् दुर्हार्दः पिंश मे द्विषतो मणे ॥९॥

पिंश । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । पिंश । मे । पृतनाऽयतः ।

पिंश । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । पिंश । मे । द्विषतः । मणे ९

पिंश । ❀ पिश अवयवे । मुचादित्वाद् नुम् ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको पीस, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको पीस ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको पीस ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको पीस ॥ ९ ॥

दशमी ॥

विध्य दर्भ सपत्नान् मे विध्य मे पृतनायतः ।

विध्य मे सर्वान् दुर्हार्दो विध्य मे द्विषतो मणे १०

विध्य । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । विध्य । मे । पृतनाऽयतः ।

विध्य । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । विध्य । मे । द्विषतः । मणे १०

विध्य । ❀ व्यध ताडने । दैवादिकः । "ग्रहिज्या०" इत्यादिना संप्रसारणम् ❀ ॥

इत्येकोनविंशे काण्डे चतुर्थेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको ताड़ित कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको ताड़ित कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको ताड़ित कर ! मुझसे द्वेष रखने वालों को ताड़ित कर ॥ १० ॥

उन्नीसवें काण्डके चतुर्थ अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५७६)

"निक्ष दर्भ" इत्यादिकं तृतीयं सूक्तम् । अस्य ऐन्द्र्यां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"निक्ष दर्भ" आदि तीसरा सूक्त है। इसका ऐन्द्री महाशान्तिके दर्भमणिबन्धनमें विनियोग किया जाता है। इस बातको पूर्वसूक्तमें कह चुके हैं।

तत्र प्रथमा ॥

निक्ष दर्भ सपत्नान् मे निक्ष मे पृतनायतः ।
निक्ष मे सर्वान् दुर्हार्दो निक्ष मे द्विषतो मणे ॥१॥

निक्ष । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । निक्ष । मे । पृतनाऽयतः ।
निक्ष । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । निक्ष । मे । द्विषतः । मणे १

निक्ष चुम्ब । ❀ निक्ष चुम्बने इति धातुः ❀ । शिष्टं पूर्ववत् ॥

हे दर्भमणे ! मेरे शत्रुओंको चूम, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको चूम ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको चूम मुझसे द्वेष रखने वालोंको चूम ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

तृन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे तृन्द्धि मे पृतनायतः ।
तृन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे ॥२॥

तृन्द्धि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । तृन्द्धि । मे । पृतनाऽयतः ।
तृन्द्धि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । तृन्द्धि । मे । द्विषतः । मणे २

तृन्द्धि नाशय । ❀ उतृदिर् हिंसानादरयोः । "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपः ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको नष्ट कर मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको नष्ट कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको नष्ट कर ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको नष्टकर २

तृतीया ॥

रुन्द्धि दर्भ सपत्नान् मे रुन्द्धि मे पृतनायतः ।
रुन्द्धि मे सर्वान् दुर्हार्दो रुन्द्धि मे द्विषतो मणे ३

रुन्द्धि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । रुन्द्धि । मे । पृतनाऽयतः ।
रुन्द्धि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । रुन्द्धि । मे । द्विषतः । मणे ३.

रुन्द्धि आवृणु निरोधं कुरु । ❀ रुधिर् आवरणे ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंका निरोध कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंका निरोध कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंका निरोध कर मुझसे द्वेष रखने वालोंका निरोध कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

मृण दर्भ सपत्नान् मे मृण मे पृतनायतः ।
मृण मे सर्वान् दुर्हार्दो मृण मे द्विषतो मणे ॥ ४ ॥

मृण । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । मृण । मे । पृतनाऽयतः ।
मृण । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । मृण । मे । द्विषतः । मणे ।४।

❀ मृण हिंसायाम् ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको हनन कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको हनन कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको हनन कर ! मुझसे द्वेष रखने वालों का हनन कर ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

मन्थ दर्भ सपत्नान् मे मन्थ मे पृतनायतः ।

मन्थ मे सर्वान् दुर्हार्दो मन्थ में द्विपतो मणे ॥५॥

मन्थ । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । मन्थ । मे । पृतनाऽयतः ।

मन्थ । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दान् । मन्थ । मे । द्विपतः । मणे ५

❀ मन्थ लोडने ❀ । गतम् अन्यत् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको मथ, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको मथ ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको मथ ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको मथ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

पिण्ड्ढ दर्भ सपत्नान् मे पिण्ड्ढ में पृतनायतः ।
पिण्ड्ढ मे सर्वान् दुर्हार्दः पिण्ड्ढ में द्विपतो मणे ६

पिण्ड्ढ । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । पिण्ड्ढ । मे । पृतनाऽयतः ।

पिण्ड्ढ । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दान् । पिण्ड्ढ । मे । द्विपतः । मणे ६

पिण्ड्ढ । ❀ पिष चूर्णने । रौधादिकः । "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति धिः । ष्टुत्वं जश्त्वं च ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको चूर्ण कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको चूर्ण कर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको चूर्ण कर ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको चूर्ण कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

ओषं दर्भ सपत्नान् मे ओषं मे पृतनायतः ।
ओषं मे सर्वान् दुर्हार्द ओषं मे द्विपतो मणे ॥७॥

ओष । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । ओष । मे । पृतनाऽयतः ।

ओष । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । ओष । मे । द्विषतः । मणे ७

ओष । ❀ उष प्लुष दाहे । भौवादिकः । लघूपधगुणः ❀ ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको भस्म कर मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको भस्म कर ! दूषित हृदयवाले मेरे सब शत्रुओंको भस्म कर ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको भस्म कर ७

अष्टमी ॥

दह दर्भ सपत्नान् मे दह मे पृतनायतः ।
दह मे सर्वान् दुर्हार्दो दह मे द्विषतो मणे ॥ ८ ॥

दह । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । दह । मे । पृतनाऽयतः ।

दह । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । दह । मे । द्विषतः । मणे ॥८॥

स्पष्टम् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको दग्ध कर, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको दग्धकर ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको दग्ध कर ! मुझसे द्वेष रखने वालोंको दग्धकर॥८॥

नवमी ॥

जहि दर्भ सपत्नान् मे जहि मे पृतनायतः ।
जहि मे सर्वान् दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे ॥ ६ ॥

जहि । दर्भ । सऽपत्नान् । मे । जहि । मे । पृतनाऽयतः ।

जहि । मे । सर्वान् । दुःऽहार्दः । जहि । मे । द्विषतः । मणे ६

जहि । ❀ हन हिंसागत्योः । लोटि "हन्तेर्जः" इति जादेशः ।

आभाच्छास्त्रीयस्य असिद्धत्वाद् "अतो हेः" इति हेलुक् न भवति ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे दर्भमय मणे ! मेरे शत्रुओंको मार, मेरे लिये सेना एकत्रित करना चाहने वाले शत्रुओंको मार ! दूषित हृदय वाले मेरे सब शत्रुओंको मार मुझसे द्वेष रखने वालोंको मार ॥ ६ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५७२)

"यत् ते दर्भ" इति चतुर्थं सूक्तम् । तस्य ऐन्द्र्याख्यायां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"यत् ते दर्भ" यह चतुर्थ सूक्त है। इसका ऐन्द्री नाम वाली महाशान्तिके दर्भमणिबन्धनमें पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

यत् ते॑ दर्भ जरामृत्युः श॒तं वर्म॑सु वर्म॑ ते ।
तेने॒मं व॒र्मिणं॑ कृ॒त्वा स॒पत्नां॑ ज॒हि वी॒र्यैः ॥ १ ॥

यत् । ते॒ । द॒र्भ॒ । ज॒रा॒ऽमृ॒त्युः । श॒तम् । वर्म॑ऽसु । वर्म॑ । ते॒ ।
तेन॑ । इ॒मम् । व॒र्मिण॑म् । कृ॒त्वा । स॒ऽपत्ना॑न् । ज॒हि॒ । वी॒र्यैः॑ ।

हे दर्भ ते तव मर्मसु ग्रन्थिषु यत् जरामृत्युशतम् जरसां मृत्यूनां च शतम् । वर्तत इति शेषः । शतशब्दः अपरिमितवचनः । परुषाम् अपरिमितत्वात् । प्रतिपर्वच्छेदस्य सुकरत्वात् जरामृत्युशतास्पदत्वं दर्भस्य । यच्च ते तव वर्म जरामृत्युपरिहारकं कवचम् अस्ति तेन मम गतजरामृत्युशतपरिहारकेण वर्मणा इमं तव धारकं रक्षाजयादिकामं पुरुषं वर्मिणम् आमुक्तवर्माणं कृत्वा वीर्यैः परकृतोपद्रवपरिहारशत्रुविजयकरणादिलक्षणैः सामर्थ्यैः सपत्नान् अमुष्य राज्ञः शत्रून् जहि पराभव नाशय ॥

हे दर्भ ! तेरी ग्रन्थियोंमें जो सैंकड़ों जरा और मृत्यु रहती हैं (प्रत्येक गाँठके विच्छेदके सुकर होनेसे दर्भका जरामृत्युशतास्पदत्व है, सैंकड़ा शब्द यहाँ अपरिमितका वाचक है) और हे दर्भ ! तेरा जो जरा और मृत्युको हटाने वाला कवच है उस वर्मगत जरा और मृत्युके अनन्त भेदोंको हटाने वाले कवचसे इस रक्षा और विजय आदिकी अभिलाषाको सन्नद्ध करके दूसरेके किये हुए उपद्रवको दूर करना आदि बलोंसे इस राजाके शत्रुओंका संहार कर ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्याणि ते ।

तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः ॥ २ ॥

शतम् । ते । दर्भ । वर्माणि । सहस्रम् । वीर्याणि । ते ।

तम् । अस्मै । विश्वे । त्वाम् । देवाः । जरसे । भर्तवै । अदुः २

हे दर्भ मणिरूप ते तव मर्माणि पर्वाणि परकृतपीडाविषय-शतं सन्ति । तत्परिहाराय ते तव वीर्याणि सामर्थ्यान्यपि सहस्रम् सहस्रसंख्याकानि सन्ति । तं तादृशं मर्मशताच्छादन-साधनवीर्योपेतं त्वाम् अस्मै रक्षादिकामाय राज्ञे विश्वे सर्वे देवाः जरसे जरानिमित्तम् अस्य जरापरिहाराय भर्तवै भरणाय पोषणाय प्रयोजनाय अदुः दत्तवन्तः । अतः अमुष्य जरां परिहृत्य भरणं कुर्वित्यर्थः । ❀ भर्तवै । तवैप्रत्ययः ❀ ॥

हे मणिरूप दर्भ ! तुझमें दूसरेको पीड़ा पहुँचा सकने वाले सैंकड़ों पर्व हैं और उनका परिहार करनेके लिये भी तुझमें सहस्रों पराक्रम हैं । सब देवताओंने ऐसे तुझ सैंकड़ों मर्मोंके कवचरूपको इस रक्षाके इच्छुक राजाके लिये बुढ़ापेको दूर करने

के लिये धारण करनेको दिया है । अतः तू इसके बुढ़ापेको हटा कर इसका भरण कर ॥ २ ॥

तृतीया ॥

त्वामा॑हुर्देव॒वर्म॒ त्वां द॑र्भ॒ ब्रह्म॑ण॒स्पति॑म् ।

त्वामिन्द्र॑स्याहु॒र्वर्म॒ त्वं रा॒ष्ट्राणि॑ रक्षसि ॥ ३ ॥

त्वाम् । आ॒हुः॒ । दे॒व॒ऽवर्म॑ । त्वाम् । द॒र्भ॒ । ब्रह्म॑णः । पति॑म् ।

त्वाम् । इन्द्र॑स्य । आ॒हुः॒ । वर्म॑ । त्वम् । रा॒ष्ट्राणि॑ । र॒क्ष॒सि॒ ॥३॥

हे दर्भ मणे त्वां देववर्म आहुः देवानां रक्षणार्थं कवचम् आहुः । तथा त्वां ब्रह्मणस्पतिम् वेदस्य पालयितारम् एतन्नामानं देवम् आहुः वेदविदितस्यापि रक्षाकारित्वात् । किं च त्वाम् इन्द्रस्य देवाधिपतेरपि वर्म कवचम् आहुः । देवा बृहस्पतिरिन्द्रश्च त्वां स्वस्वरक्षार्थं धारयन्ति इत्यभिप्रायः । यत एवम् अतस्त्वं त्वां धारयतो राज्ञो राज्यानि रक्षसि पालयसि पालय ॥

हे दर्भमणे ! तुझको देवताओंकी रक्षा करने वाला कवच कहते हैं, तथा तुझको वेदका पालक ब्रह्मणस्पति नामक देवता कहते हैं, क्योंकि-वेदविदितका भी रक्षा करने वाली है । अधिक क्या तुझको देवाधिपति इन्द्रका भी कवच कहते हैं, तात्पर्य यह है, कि-बृहस्पति और इन्द्रदेव भी अपनी २ रक्षाके लिये तुझको धारण करते हैं, ऐसी बात है अत एव तू राष्ट्रोंको धारण करने वाले राजाके राज्योंका पालन कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

स॒प॒त्न॒क्षय॑णं दर्भ द्वि॒ष॒तस्तप॑नं हृ॒दः ।

म॒णिं क्ष॒त्रस्य॒ वर्ध॑नं त॒नू॒पानं॑ कृणोमि ते ॥ ४ ॥

सपत्नऽक्षयणम् । दर्भ । द्विषतः । तपनम् । हृदः ।

मणिम् । क्षत्रस्य । वर्धनम् । तनूऽपानम् । कृणोमि । ते ॥ ४ ॥

हे दर्भ ते त्वा त्वां सपत्नक्षयणम् शत्रूणां नाशकम् । ❀ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀ । तथा द्विषतः द्वेष्टुः हृदः हृदयस्य तपनम् संतापकं क्षत्रस्य बलस्य वर्धनम् वर्धकम् । तथा तनूपानम् तन्वाः शरीरस्य पातारं रक्षितारम् एवंमहानुभावं मणिं कृणोमि करोमि ॥ अथ वा रक्षाकामः पुरुषः संबोध्यते । हे राजन् दर्भमणिं सपत्नक्षयणादिसामर्थ्योपेतं ते तुभ्यं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं च कृणोमीति संबन्धनीयम् ॥

हे दर्भ ! मैं तुझको शत्रुओंका नाशक, द्वेष करने वालेके हृदयको तप्त करने वाला और बलका बढ़ाने वाला तथा शरीर का रक्षक मणि बनाता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत् समुद्रो अभ्यक्रन्दत् पर्जन्यो विद्युता सह ।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत ॥ ५ ॥

यत् । समुद्रः । अभिऽअक्रन्दत् । पर्जन्यः । विऽद्युता । सह ।

ततः । हिरण्ययः । बिन्दुः । ततः । दर्भः । अजायत ॥ ५ ॥

यत् यस्मिन् स्थाने समुद्रः समुद्द्रवन्ति अस्माद् आप इति समुद्रः । तादृशः पर्जन्यः मेघो विद्युता सह अभ्यक्रन्दत् अभिक्रन्दनं स्तननम् अकार्षीद् वृष्ट्युत्पादनाय ततः अभिक्रन्दतो मेघात् हिरण्ययो हिरण्मयो बिन्दुः उदभूत् । ततः तस्माद् उत्पन्नात् हिरण्यबिन्दोः सकाशाद् दर्भो अजायत प्रादुर्बभूव । अनेन दर्भोत्पत्तिवर्णनेन दर्भमयस्य मणेरतिशयितवीर्यत्वम् उक्तं भवति ।

❀ हिरण्य इति। "ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्व०" इत्यादिना हिरण्मय-शब्दस्य मयटो मकारलोपो निपातितः ❀ ॥

[इति] चतुर्थेऽनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

जिस स्थानमें जिससे जल उद्द्रवित होता है वह समुद्र अर्थात् मेघ वृष्टिको उत्पन्न करने के लिये बिजली के साथ गड़गड़ाया गड़गड़ानेसे हिरण्मय विन्दु प्रकट हुआ और उस हिरण्यविन्दुसे दर्भ प्रकट हुआ है। (इस दर्भोत्पत्तिका प्रकरण कहनेका अभिप्राय यह है, कि-दर्भकी बनी हुई मणि परम वीर्यवती होगी)५

चतुर्थ अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५७८)

"औदुम्बरेण" इत्यादिकं पञ्चमं सूक्तम्। अस्य "कौबेरीं धनकामस्य धनक्षये च" [न० क० १७] इति विहितायां कौबेर्याख्यायां महाशान्तौ औदुम्बरमणिबन्धने विनियोगः। उक्तं नक्षत्रकल्पे। "औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा इत्यौदुम्बरं कौबेर्याम्" इति [न० क० १८]॥

"औदुम्बरेण" आदि पञ्चम सूक्त है। इसका, "कौबेरी धनकामस्य धनक्षये च।-धनकी अभिलाषा वालेकी कौबेरी शान्ति को धनक्षयमें भी करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित, कौबेरी महाशान्तिके औदुम्बरमणिबन्धनमें विनियोग है। इसी बातको नक्षत्रकल्प १८ में कहा है, कि-"औदुम्बरेण मणिना-पुष्टिकामाय वेधसा इत्यौदुम्बरं कौबेर्याम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥ १ ॥

औदुम्बरेण । मणिना । पुष्टिऽकामाय । वेधसा ।

पशूनाम् । सर्वेषाम् । स्फातिम् । गोऽस्थे । मे । सविता । करत् १

औदुम्बरेण उदुम्बरनिर्मितेन मणिना । ❀ "तस्य विकारः" इति अण् प्रत्ययः ❀ । पुष्टिकामाय पशुपुत्रधनशरीरादिविषयं पोषं कामयमानाय पुरुषाय तदर्थं वेधसा विधात्रा पुरा प्रयोगः कृतः । यद्वा वेधसा पुष्ट्यादिविधात्रा कर्त्रा मणिना पुष्टिकामाय तव रक्षां करोमीति व्याख्येयम् । अतः सर्वेषां गोमहिषाश्वाजगजादिरूपाणां पशूनाम् । चतुष्पादाः पशवः । तेषाम् । अथ वा द्विपादश्चतुष्पादश्च पशवः । उभयविधानां परिग्रहाय सर्वेषाम् इत्युक्तम् । तेषां स्फातिम् । ❀ स्फायी वृद्धौ । क्तिनि यलोपः ❀ । अभिवृद्धिं मे मम गोष्ठे गवां निवासस्थाने । ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति अधिकरणे कप्रत्ययः । "अम्बाम्बगोभूमि०" इत्यादिना मूर्धन्यादेशः ❀ । सविता प्रसविता सर्वस्य अनुज्ञाता प्रेरकः एतन्नामको देवः करत् कुर्यात् । ❀ करोतेः पञ्चमलकारः ❀ । "सविता वै प्रसवानाम् ईशे" इत्यादि श्रुतेः [ऐ० ब्रा० १.१६] सवितुः सर्वस्य प्रेरकत्वाद् "देवो वः सविता प्रार्पयतु" इति [तै० सं० १. १. १. १] गवां व्याघ्रतस्करादिकृतनाशपरिहाराय प्रार्पणप्रार्थनश्रुतेश्च सवितुः सर्वपशुस्फातिप्रार्थना युक्ता ॥

पहिले समयमें ब्रह्माजीने उदुम्बर (गूलड़) की मणिके द्वारा पशु पुत्र धन शरीर आदिकी पुष्टिके अभिलाषीके लिये प्रयोग किया था । अथवा मैं पुष्टि आदि करने वाली मणिसे तुझ पुष्टि चाहने वालेकी रक्षा करता हूँ । अत एव सविता देवता मेरी गोठमें दो पैर वा चार पैर वाले सब पशुओंकी वृद्धि करें ॥१॥

द्वितीया ॥

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।

औदुम्बरो वृषा मणिः स मां सृजतु पुष्ट्या ॥ २ ॥

यः । नः । अग्निः । गार्हऽपत्यः । पशूनाम् । अधिऽपाः । असत् । औदुम्बरः । वृषा । मणिः । सः । मा । सृजतु । पुष्ट्या ॥ २ ॥

यो गार्हपत्योग्निः । गृहपतिना यजमानेन सह संयुक्तोग्निर्गार्हपत्यः । यस्तत्संज्ञकोग्निरस्ति । ❀ "गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः" इति ञ्यः ❀ । स नः अस्माकं पशूनाम् गवाश्वादीनाम् अधिपाः अधिष्ठाय पाता असत् भवेत् । ❀ अस्तेर्लेटि अडागमः ❀ । "इह पशवो विश्वरूपा रमन्ताम् अग्निं गृहपतिम् अभिसंवसानाः" [तै० ब्रा० ३. ७. ४. ५] इति मन्त्रवर्णाद् अग्निहोत्रे "पशून् मे यच्छ" इति [आश्व० २. ३] गार्हपत्यप्रार्थनाविधानाच्च पशूनाम् आधिपत्यं तस्य सिद्धम् । अतः गार्हपत्योग्निः पशून् पालयतु चोरादिभयेभ्यः। औदुम्बरः उदुम्बरविकारो वृषा अभिमतफलवर्षको मणिः पुष्ट्या पोषेण शरीराभिवृद्ध्या आ सर्वतः सं सृजतु । पशूनां पुष्टिं करोत्वित्यर्थः । "ऊर्ग् वा उदुम्बरः" इति श्रुतेः [तै० सं० २. १. १. ६] अन्नरूपत्वात् पोषकत्वं तस्य युक्तम् ॥

जो गृहपति यजमानसे संयुक्त गार्हपत्य नामक अग्नि है वह हमारे गौ अश्व आदि पशुओंका अधिष्ठाता बनकर रक्षक होवे । ["इह पशवो विश्वरूपा रमन्ताम् अग्निं गृहपतिं अभिसंवसानाः।-गृहपति अग्निके पास वसते हुये यहाँ सब प्रकारके पशु रमण करें" (तैत्तिरीयब्राह्मण ३ । ७ । ४ । ५) इस मन्त्रवर्णसे और अग्निहोत्रमें "पशून् मे यच्छ ।—हे अग्ने ! मुझे पशु प्रदान करिये" (आश्वलायन २ । ३) गार्हपत्यकी प्रार्थनाका विधान होनेसे पशुओंका आधिपत्य सिद्ध है । अत एव कहा है, कि-गार्हपत्य अग्नि चोर भय आदिसे पशुओंका पालन करें] अभीष्ट

फलकी वर्षा करने वाली गूलड़की मणि शरीरकी अभिवृद्धिसे पशुओंको पुष्ट करे ["ऊर्ग् वा उदुम्बरः" तैत्तिरीयसंहिता २। १। १। ६ की श्रुतिसे उदुम्बरके अन्नरूप होनेसे पोषकत्व ठीक ही है।] ॥ २ ॥

तृतीया ॥

करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे।
औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे ॥ ३ ॥

करीषिणीम्। फलऽवतीम्। स्वधाम्। इराम्। च। नः। गृहे।
औदुम्बरस्य। तेजसा। धाता। पुष्टिम्। दधातु। मे। ॥ ३ ॥

करीषिणीम् करीषो गवां शकृत्। प्रभूतेन करीषेण तद्वतीम्। अनेन गवां समृद्धिरुक्ता भवति तदभावे करीषाभावात्। तादृशीं स्वधाम्। अन्ननामैतत्। स्वस्मिन् धीयत इति व्युत्पत्तेः। व्रीहियवादिलक्षणम् अन्नं फलवतीम् प्रकृष्टेन फलेन उपेताम् इरां च भूमिमपि। अथ वा इरा इला गौः। जात्येकवचनम्। गावः। अत्र करीषिणीं फलवतीम् इति विशेषणद्वयं स्वधाम् इरां च उभयमपि विशिनष्टि। उभयत्रापि संबन्धयोग्यतासंभवात्। नः अस्माकं गृहे। करत् इति संबन्धः। औदुम्बरस्य उदुम्बरविकारस्य मणेस्तेजसा सामर्थ्येन धाता सर्वस्य विधाता एवंनामको देवः पुष्टिम् शरीरादिपोषं मे मम दधातु स्थापयतु। करोत्वित्यर्थः॥

धाता देवता औदुम्बरमणिके तेजसे मुझमें शरीरपुष्टिको स्थापित करें। और हमारे घरमें अन्नको तथा बहुतसे गोवर वाली भूमिको देवें (बहुतसा गोवर कहनेसे गोसमृद्धिको सूचित किया है, क्योंकि—बहुतसी गौओंके विना बहुतसा गोवर नहीं होसकता)

चतुर्थी ॥

यद् द्विपाच्च चतुंष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः ।
गृह्णे३हं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥ ४ ॥

यत् । द्विऽपात् । च । चतुःऽपात् । च । यानि । अन्नानि । ये । रसाः ।
गृह्णे । अहम् । तु । एषाम् । भूमानम् । बिभ्रत् । औदुम्बरम् ।
मणिम् ॥ ४ ॥

द्विपात् पादद्वयोपेतं पुरुषादिकं यत् पशुजातम् अस्ति । यच्च चतुष्पात् पादचतुष्टयोपेतं गवादिकम् अस्ति । ❀ उभयत्र "संख्यासुपूर्वस्य" इति पादस्य लोपः समासान्तः । "द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ" इति द्विपाच्छब्दस्य अन्तोदात्तत्वम् । चतुष्पाद् इति । बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् ❀ । यानि च अन्नानि तिलमाषव्रीहियवप्रियङ्ग्वादीनि ग्राम्याणि अन्नानि । यानि च अरण्यजानि अन्नानि ये च रसाः दधिक्षीरमधुगुडादिरूपाः सन्ति एषाम् उक्तानां सर्वेषां भूमानम् बहुभावम् । ❀ बहुशब्दाद् इमनिचि "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति इमनिच आदिलोपो बहोर्भूभावश्च ❀ । औदुम्बरं मणिं बिभ्रद् अहं गृह्णे स्वीकरोमि भजामि ॥

जो दो पैर वाले पुरुष आदि हैं, और जो चार पैर वाले गौ आदि ढोर हैं, जो तिल उड़द जौं कँगनी आदि ग्राम्य अन्न हैं, जो जंगली अन्न हैं, और जो दधि क्षीर मधु गुड़ आदि रस हैं इन सबके बहुभावको, औदुम्बरमणिको धारण करने वाला मैं सेवन करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

पुष्टिं पशूनां परिं जग्रभाहं चतुंष्पदां द्विपदां यच्चं

धान्य॑म् ।

पय॑: पशूनां रस॒मोष॑धीनां बृह॒स्पति॑: सवि॒ता मे॒ नि यं॑च्छात् ॥ ५ ॥

पुष्टिम् । प॒शूनाम् । परि॑ । जग्रभ । अहम् । चतुः॑ऽपदाम् । द्विऽप॑दाम् । यत् । च । धान्य॑म् ।

पय॑: । प॒शूनाम् । रस॑म् । ओष॑धीनाम् । बृह॒स्पति॑: । सवि॒ता । मे॒ । नि । य॒च्छात् ॥ ५ ॥

अहं पशूनां द्विपदां चतुष्पदां च यच्च धान्यम् व्रीहियवादिरूपं तस्यापि पुष्टिम् पोषं परि जग्रभ परिग्रहं करोमि । ॐ ग्रहेश्छान्दसे लिटि उत्तमैकवचने णलि "णलुत्तमो वा" इति णित्त्वस्य विकल्पितत्वाद् वृद्ध्यभावः ॐ । किं च सविता सर्वस्य अनुज्ञाता बृहस्पतिर्देवः पशूनाम् गोमहिष्यादीनां पयः तथा ओषधीनाम् व्रीह्यादीनां रसम् सारभूतम् अंशं मे मह्यं नि यच्छात् । औदुम्बरस्य तेजसा इति शेषः । प्रयच्छतु । ॐ यम उपरमे । लेटि "इषुगमियमां छः" इति छादेशः । आडागमः ॐ ॥

मैं दो पैर और चार पैर वालोंकी तथा व्रीहि यव आदि धान्यकी भी पुष्टिको ग्रहण करता हूँ, सविता देवता और बृहस्पति देवता औदुम्बर मणिके तेजसे गौ भैंस आदि पशुओंके दूधको और व्रीहि आदिके सारभूत रसको मुझे प्रदान करें ।५।

षष्ठी ॥

अ॒हं प॑शूनाम॑धि॒पा अ॑सानि॒ मयि॑ पु॒ष्टं पु॑ष्ट॒पति॑र्दधातु ।
म॒हाम॑ौदु॑म्बरो म॒णिर्द्रवि॑णानि॒ नि य॑च्छतु ॥ ६ ॥

अहम् । पशूनाम् । अधिऽपाः । असानि । मयि । पुष्टम् । पुष्टऽपतिः । दधातु ।

मह्यम् । औदुम्बरः । मणिः । द्रविणानि । नि । यच्छतु ॥ ६ ॥

"मह्यमौदुम्बरः" इति अर्धर्चः उत्तरमन्त्रे वा द्रष्टव्यः । अहं पुष्टिकामः पशूनाम् द्विपदां चतुष्पदां च अधिपाः अधिष्ठाय पालकः स्वामी असानि भवानि । ❀ अधिपूर्वात् पातेर्विच् । असानीति । अस्तेर्लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः ❀ । तदर्थं मयि पुष्टिकामे पुष्टम् पोषं पश्वादेः समृद्धिम् । ❀ "नपुंसके भावे क्तः" इति क्तः ❀ । तत् पुष्टपतिः पश्वादिपोषस्वामी औदुम्बरो मणिः दधातु प्रयच्छतु । एवं मह्यम् औदुम्बरो मणिः द्रविणानि हिरण्यानि नि यच्छतु नियमयतु प्रयच्छतु ॥

पुष्टिको चाहने वाला मैं दो पैर और चार पैर वाले पशुओंका स्वामी होऊँ, मुझ पुष्टिको चाहने वालेमें, पशु आदिकी पुष्टिका स्वामी औदुम्बर मणि, पशु आदिकी समृद्धिको करे । इसी प्रकार औदुम्बरमणि मुझको सुवर्ण प्रदान करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च ।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा ॥ ७ ॥

उप । मा । औदुम्बरः । मणिः । प्रऽजया । च । धनेन । च ।
इन्द्रेण । जिन्वितः । मणिः । आ । मा । अगन् । सह । वर्चसा ७

मा माम् औदुम्बरो मणिः प्रजया पुत्रपौत्रादिरूपया च धनेन हिरण्यादिलक्षणेन गवादिरूपेण च सह उप । ❀ उपसर्गश्रुतेः

सामर्थ्याद् आगन्निति आकृष्यते ❀ । आगमत् । एवं स मणिः इन्द्रेण जिन्वितः प्रीणितः प्रेरितः वर्चसा अस्मदभिमतेन तेजोविशेषेण सह मा माम् आगन् आगमत् । ❀ जिन्वित इति । इवि जिवि धिवि प्रीणनार्थाः । धातूपदेशावस्थायामेव नुमागमः । कर्मणि निष्ठायाम् इडागमः । इदित्वाद् नकारलोपाभावः । अगन्निति । गमेर्लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् । "मो नो धातोः" इति नत्वम् ❀ ॥

औदुम्बर मणि पुत्र पौत्र आदिरूप प्रजाके साथ और सुवर्ण गौ आदिरूप धनके साथ मुझको प्राप्त होगया है । यह मणि इन्द्रके प्रेरणा करने पर मेरे अभिलषित तेजके साथ मुझको प्राप्त हुआ है ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये ।

पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥८॥

देवः । मणिः । सपत्नऽहा । धनऽसाः । धनऽसातये ।

पशोः । अन्नस्य । भूमानम् । गवाम् । स्फातिम् । नि । यच्छतु ८

देवः द्योतमानो मणिः औदुम्बरः पुष्ट्यर्थं देवैर्निर्मितत्वाद् देव इत्युच्यते । तादृशो मणिः सपत्नहा सपत्नानां हन्ता तथा धनसाः धनानाम् अस्मदभिलषितानां साता दाता । ❀ वन षण संभक्तौ । "जनसनखनक्रमगमो विट्" । "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" इति आत्वम् ❀ । एवंरूपो मणिः धनसातये धनानां लाभाय भवतु । ❀ "जनसनखनां सञ्झलोः" इति आत्वम् ❀ । किं च पशोः अन्नस्य च भूमानम् बहुभावं समृद्धिं नि यच्छतु । तथा गवां स्फातिम् अभिवृद्धिं च नि यच्छतु । यद्यपि पशुभूम्नैव गोस्फा-

तिरप्युक्ता तथापि गवाम् अतिशयेनोपयोगात् प्राधान्याय पुनरभिधानम् । "देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त । तत उदुम्बर उदतिष्ठत्" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. १. ३, १०] ऊर्क्संबन्धाद् अन्नसमृद्धिकारकत्वम् ॥

यह द्योतमान औदुम्बरमणि पुष्ट्यर्थ बना होनेके कारण देव कहलाती है । यह मणि शत्रुओंका संहार करने वाली है तथा हमारे अभिलषित धनोंको देनेवाली है, ऐसी यह मणि धनलाभ के लिये उपयुक्त हो । और यह मणि पशुओंकी अधिकताको भी प्रदान करे और गौओंकी वृद्धिको भी प्रदान करे ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे ।

एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥ ९ ॥

यथा । अग्रे । त्वम् । वनस्पते । पुष्ट्या । सह । जज्ञिषे ।

एव । धनस्य । मे । स्फातिम् । आ । दधातु । सरस्वती ॥ ९ ॥

हे वनस्पते वनस्य पालक औदुम्बरमणे । विकारे प्रकृतिशब्दः । त्वं यथा अग्रे ओषधिवनस्पतिसृष्टिसमये पुष्ट्या पोषेण सह उत्पत्तिसमय एव जज्ञिषे उत्पन्नोसि एव एवं मे धनस्य स्फातिम् अभिवृद्धिं त्वया साधनभूतेन सह सरस्वती सरणवती वाग्देवी आ दधातु करोतु । ❀ आङ्पूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते । एवा धनस्येत्यत्र "निपातस्य च" इति सांहितिको दीर्घः ❀ ॥

हे वनकी पालक औदुम्बरमणे ! तू जैसे औषधि वनस्पतियों की सृष्टिके समय उत्पत्तिके समय ही पुष्टिके साथ प्रकट हुई है, इसी प्रकार मेरे धनकी वृद्धिको भी तुझ साधनसे सरस्वतीदेवी पुष्ट करें ॥ ९ ॥

दशमी ॥

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥

आ । मे । धनम् । सरस्वती । पयःऽस्फातिम् । च । धान्यम् ।
सिनीवाली । उप । वहात् । अयम् । च । औदुम्बरः । मणिः ॥ १० ॥

सरस्वती देवी मे मम धनम् हिरण्यादिलक्षणं पयस्फातिम् पयसोऽभिवृद्धिं च । अनेन पयसोऽभिवृद्धिप्रार्थनेन गोसमृद्धिः प्रार्थिता भवति । तथा धान्यं च । व्रीहियवादीनाम् ओषधीनां फलानि धान्यानि । अत्र जातावेकवचनम् । ❀ आ इति उपसर्गश्रुतेः वहत्विति योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । एवं सिनीवाली देवता च । "दृष्टचन्द्रा सिनीवाली नष्टचन्द्रा कुहूर्मता" इति श्रुतेः दृष्टचन्द्रामावास्याभिमानिदेवता सिनीवाली । सा च धनादिकम् उपा वहात् । अयं धार्यमाण औदुम्बरो मणिश्च उप वहात् उपावहतु प्रापयतु । ❀ वह प्रापणे । लेटि आडागमः ❀ ॥ अथ वा सरस्वती मे धनम् हिरण्यरजतमणिमुक्तादिलक्षणं हस्तेन धारणयोग्यम् आ गमयतु । पयस्फातिं धान्यं च सिनीवाली औदुम्बरो मणिश्च उपा वहात् समीपदेशं प्रापयतु इति व्यवस्था ॥

सरस्वती देवी सुवर्ण आदिरूप धनकी और दुग्धकी पुष्टिको, व्रीहि यव आदि औषधियोंके फलको प्राप्त करावें, सिनीवाली तथा यह औदुम्बरमणि भी इन सब वस्तुओंको मुझको प्राप्त करावें ॥ १० ॥

एकादशी ॥

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।

त्वयी॒मे वाजा॑ द्रवि॒णानि॒ सर्वौ॑दुम्बरः॒ स त्वम॒स्मत्
सह॒स्वारा॒दरा॑ति॒मम॑तिं॒ क्षुधं॑ च ॥ ११ ॥

त्वम् । म॒णीना॑म् । अ॒धि॒ऽपाः । वृषा॑ । अ॒सि॒ । त्वयि॑ । पु॒ष्टम् ।
पु॒ष्टऽप॑तिः । ज॒जा॒न॒ ।

त्वयि॑ । इ॒मे इति॑ । वाजाः॑ । द्र॒विणानि । सर्वा॑। औदु॑म्बरः। सः ।
त्वम् । अ॒स्मत् । स॒ह॒स्व॒ । आ॒रात् । अरा॑तिम् । अम॑तिम् ।
क्षुध॑म् । च॒ ॥ ११ ॥

हे औदुम्बर मणे त्वं मणीनाम् इतरेषां रक्षासमृद्धिजयादिसाधनानां दर्भादिनिर्मितानाम् अधिपः स्वामी वृषा अभिमतफलवर्षिता च असि । अधिपत्वे कारणम् आह । यतः त्वयि पुष्टम् गवाश्वादीनां सर्वेषां पोषं पुष्टपतिः सर्वपदार्थपोषकर्ता प्रजापतिः जजान उदपादयद् अकरोत् । अतः मणीनाम् अधिपो वृषा चासि । अस्तु किं तत इत्यत आह । त्वया सर्वसमृद्ध्यास्पदभूतेन मे मह्यं वाजाः "अन्नं वै वाजः" इति [तै० सं० ५, ४. ६. ६] अतः वहुविधानि अन्नानि सर्वा सर्वाणि द्रविणानि द्रावयितव्यानि हिरण्यरजतादीनि । सर्वशब्देन मणिमुक्ताप्रवालादिलक्षणानि परिगृह्यन्ते । संभवन्तु इति शेषः । हे औदुम्बर स तादृशः वाजद्रविणादिसाधकस्त्वम् अस्मत् अस्मत्तः सहस्व अभिभव अपगमय । अभिभाव्यानि कानीत्याकाङ्क्षायाम् उच्यते आराद् अरातिम् इति । आरात् अत्यन्तं दूर एव अरातिम् अदानम् अलाभम् अमतिम् दारिद्र्यं मत्यभावं बुद्धिभ्रंशं वा क्षुधम् अशनाभावम् एतत् सर्वम् अस्मत् आरादेव सहस्व ॥

हे औदुम्बर मणे ! तू रक्षा समृद्धि जय आदिकी साधन दर्भ आदिकी वनी हुई अन्य मणियोंकी अधिप है और अभीष्ट फल की वर्षा करने वाली है। इसका कारण यह है, कि—"सब पदार्थोंको पुष्ट करने वाले पुष्टिपति प्रजापतिने तुझमें गौ आदि सब पदार्थोंकी पुष्टिको भर दिया है।" इससे क्या हुआ तो कहते हैं, कि-तुझ सब समृद्धियोंकी प्रतिष्ठासे मुझमें अनेक प्रकारके अन्न और सुवर्ण चाँदी आदि धन होवें। हे औदुम्बर मणे ! ऐसी तू अपने प्रभावसे शत्रु कुमति और भोजनके अभाव को हमसे दूर ही रख ॥ ११ ॥

द्वादशी ॥

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोभि मां सिञ्च वर्चसा ।
तेजोसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि १२

ग्रामऽनीः । असि । ग्रामऽनीः । उत्थाय । अभिऽसिक्तः । अभि । मा । सिञ्च । वर्चसा ।
तेजः । असि । तेजः । मयि । धारय । अधि । रयिः । असि । रयिम् । मे । धेहि ॥ १२ ॥

हे औदुम्बर त्वं ग्रामणीरसि । ग्रामं नयतीति ग्रामणीः ग्राम स्वामी । स यथा प्रधानभूतः एवं त्वं सर्वेषां मणीनां प्रधान-भूतोसि । अतः अस्माकमपि ग्रामणीर्भव । अभिमतफलप्रापको भवेत्यर्थः । अथ वा मामपि श्रेष्ठं कुरु। त्वं वर्चसा अभिषिक्तोसि अभित आच्छन्नोसि । मा मामपि वर्चसा अभि षिञ्च अभिषिक्तं

कुरु । हे मणे त्वं तेजोसि साक्षात् तेजोरूपोसि अतः मयि तेजो धारय । किं च त्वम् अधिरयिः अधिगतरयिः प्राप्तधनः असि । रयिं मे धेहि स्थापय प्रयच्छ । रयिर्धनम् । ❁ रातेर्दानकर्मणः [नि० ४. १७] ❁ ॥

हे औदुम्बर मणे ! तू ग्रामणी है अर्थात् ग्रामका नेता जैसे ग्राममें प्रधान होता है, इसी प्रकार तू सब मणियोंमें प्रधान है । अत एव हमारी भी ग्रामणी बन अभीष्ट फलको प्राप्त कराने वाली हो । तू वर्चसे अभिषिक्त है अतः मुझको वर्चसे अभिषिक्त कर, हे मणे ! तू साक्षात् तेजोरूप है अतः मुझमें तेजको पुष्ट कर और तू प्राप्तधन है अतः मुझको धन दे ॥ १२ ॥

[त्रयोदशीचतुर्दश्यौ]

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु ।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् १३

पुष्टिः । असि । पुष्ट्या । मा । सम् । अङ्ग्धि । गृहऽमेधी । गृहऽपतिम् । मा । कृणु ।
औदुम्बरः । सः । त्वम् । अस्मासु । धेहि । रयिम् । च । नः । सर्वऽवीरम् । नि । यच्छ । रायः । पोषाय । प्रति । मुञ्चे । अहम् । त्वाम् ॥ १३ ॥

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।

स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥ १४ ॥

अयम् । औदुम्बरः । मणिः । वीरः । वीराय । बध्यते ।

सः । नः । सनिम् । मधुऽमतीम् । कृणोतु । रयिम् । च । नः । सर्वऽवीरम् । नि । यच्छात् ॥ १४ ॥

त्रयोदशी ॥ हे मणे त्वं साक्षात् पुष्टिः पुष्टिरूपोसि । अतः पुष्ट्या पोषेण मा मां समङ्ग्धि सम्यग् अक्तं कुरु । समृद्धं कुरु । तथा गृहमेधी त्वम् असि । मा मां गृहपतिम् धनकनकादिसमृद्धस्य गृहस्य स्वामिनं सोमयागादिकर्मानुष्ठातारं वा कृणु कुरु । हे औदुम्बर मणे स तादृशः उक्तविधनानाधर्मोपेतस्त्वम् त्वयि विद्यमाना ये ग्रामणीत्ववर्चस्वित्वतेजोरूपत्वाधिरयित्वादयो धर्माः सन्ति तान् सर्वान् अस्मासु धेहि स्थापय । किं च नः अस्माकं सर्ववीरम् सर्वे वीराः पुत्रभृत्यादयो यस्यां रय्यां तुष्यन्ति तादृशं रयिम् धनं च नि यच्छ प्रयच्छ । यद्वा सर्ववीरं यथा भवति तथा रयिं प्रयच्छेत्यर्थः ॥

चतुर्दशी ॥ हे मणे अहं धनादिपुष्टिकामस्त्वां रायस्पोषाय धनानां पुष्ट्यै । ❀ "षष्ठ्याः पतिपुत्र०" इत्यादिना सत्वम् ❀। प्रति मुञ्चे बध्नामि । प्रतिमोको बन्धनम् । "रुक्मम् अन्तरं प्रति मुञ्चते" इत्यादिश्रुतेः [तै० सं० ५. १. १०. ३]। एतदेव परोक्षेण पुनरभिधीयते फलान्तरसंबन्धाय । अयं वीरः विविधम् ईरयति अमित्रान् इति वीरः । तादृश औदुम्बरो मणिः वीराय वीरत्वाय यथा स्वयं वीरो भवति तथाभावाय बध्यते । स तादृशो मणिः नः अस्माकं मधुमतीम् । मधुवद् उपयुज्यमानत्वं मधुशब्देन

उच्यते । तद्वर्ती सनिम् धनादिलब्धिं कृणोतु करोतु । तथा नः अस्माकं रयिं च सर्ववीरं यथा भवति तथा । अतिप्रभूतम् इत्यर्थः । यद्वा पुत्रादयो वीराः । तैः सहितं यथा भवति तथा रयिं नि यच्छात् पुत्रादीन् रयिं च नियच्छत्वित्यर्थः ॥

[इति] चतुर्थेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे मणे ! तू साक्षात् पुष्टिरूप है । अतः पुष्टिसे मुझको समृद्ध कर । तू गृहमेधी है, अतः तू मुझको धन कनक आदिसे समृद्ध घरका स्वामी बना, वा सोमयाग आदि कर्मोंका अनुष्ठाता बना। हे औदुम्बर—मणे ! तुझमें जो ग्रामणीत्व, वर्चस्वित्व तेजोरूपत्व आदि धर्म हैं उन सबको हममें स्थापित कर । और जिस धनसे पुत्र भृत्य आदि सब प्रसन्न होसकें उस धनको हममें स्थापित कर ॥ हे मणे ! धन आदिकी पुष्टिको चाहने वाला मैं तुझको धन आदिकी पुष्टिके लिये बाँधता हूँ । यह शत्रुओंको अनेक प्रकारसे खदेड़ने वाला औदुम्बरमणि जिस प्रकार अपने आप वीर होजाय तिस लिये बाँधा जाता है । यह ऐसी मणि हमारे लिये मधुमती धनादिप्राप्तिको करे । और पुत्रादि सहित धनको भी हमें प्रदान करे ॥ १३ ॥ १४ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५७१)

"शतकाण्डो दुश्च्यवनः" इत्यादिकं षष्ठं सूक्तम् । तस्य "याम्यां यमभये" [न० क० १७] इति विहितायां याम्याख्यायां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धनं कुर्यात् । सूत्रितं हि नक्षत्रकल्पे । "नेच्छत्रुरिति [२. २७] पाठामूलम् अपराजितायाम् शतकाण्डो दुश्च्यवनः [१६. ३२] इति दर्भमणिं याम्याम्" इति [न० क० १६]॥

"शतकाण्डो दुश्च्यवनः" यह छठा सूक्त है । इससे "याम्यां यमभये ।-याम्या शान्तिका यमभयमें प्रयोग करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित याम्या महाशान्तिके दर्भमणिबन्धनको करे ।

इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि–"नेच्छत्रुरिति (२।२७) पाठामूलं अपराजितायां शतकाण्डो दुश्च्यवनः (१६।३२) इति दर्भमणिं याम्याम्" (नक्षत्रकल्प १६)

तत्र प्रथमा ॥

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः ।
दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे ॥ १ ॥

शतऽकाण्डः । दुःऽच्यवनः । सहस्रऽपर्णः । उत्ऽतिरः ।

दर्भः । यः । उग्रः । ओषधिः । तम् । ते । बध्नामि । आयुषे १

अनेन दर्भस्य मणिसाधनभूतस्य स्वरूपाधानपूर्वकं मृत्युभयपरिहाराय मणिरूपेण बन्धनम् अभिधीयते । शतकाण्डः । शतशब्दः अपरिमितवचनः । अनेकैः काण्डैः पर्वभिर्युक्तः । ❀ दश दशतः परिमाणम् अस्येति दशानां शभावः तश्च प्रत्ययो निपातितः ❀ । दुश्च्यवनः । ❀ च्युङ् प्रुङ् गतौ । "छन्दसि गत्यर्थेभ्यः" इति युच् ❀ । दुःखेन च्यावनीयः न केनापि च्याव्यः सहस्रपर्णः अनेकैः पत्रैर्युक्तः। उत्तरमन्त्रे अच्छिन्नपर्णेन दर्भेणेति पर्णानाम् आवश्यकत्वाभिधानाद् अत्र सहस्रपर्ण इति विशेषितः । उत्तरः । उत्कृष्टतरः सर्वेषामप्योषधीनां मध्ये अतिशयितवीर्यः । ❀ उदः सुबन्तत्वात् तरप् ❀ । अस्य तथात्वम् उत्तरत्र दर्शयिष्यते । एवंलक्षण उग्रः उद्गूर्णबलः ओषधिः ओषधिविशेष इति विशेषितरूपो यो दर्भः तेन दर्भेण हे मृत्युभयार्दित पुरुष त्वां बध्नामि बन्धनं करोमि । किमर्थम् । आयुषे शतसंवत्सरलक्षणायुरर्थम् ॥

(इस मन्त्रमें मणिके साधन दर्भका स्वरूप बता कर मृत्युभयको दूर करनेके लिये उसका मणिरूपमें बाँधना बताया है)

हे मृत्युके भयसे डरे हुए पुरुष ! जो अपरिमित पत्रों वाली, कठिनतासे गिराने योग्य, अनेक पत्रोंसे सम्पन्न सब औषधियों से उत्कृष्ट प्रचंडवीर्य दर्भरूप औषधि है उसको मैं तेरी आयुके लिये बाँधता हूँ ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

नास्य केशान् प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते ।

यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण शर्म यच्छति ॥ २ ॥

न । अस्य । केशान् । प्र । वपन्ति । न । उरसि । ताडम् । आ । घ्नते ।

यस्मै । अच्छिन्नऽपर्णेन । दर्भेण । शर्म । यच्छति ॥ २ ॥

अस्य केशान् शिरोरुहान् न प्रवपन्ति न आकर्षन्ति मृत्युदूताः रक्षःपिशाचाद्या वा । तथा अमुम् उरसिताडम् उरस्ताडयित्वा न आ घ्नते न हिंसन्ति मृत्युदूताद्याः । ❀ हिंसार्थानां च समानकर्मकाणाम्" इति तृतीयान्त उपपदे विहितो णमुल् सप्तम्युपपदेति व्यत्ययेन निष्पन्नः । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति अलुक् । आ घ्नते इति । "आङो यमहनः" इति अस्वाङ्गकर्मकेऽपि आत्मनेपदम् ❀ । अस्येति उक्तं कस्य इत्यत आह । यस्मै मृत्युभयार्दिताय पुरुषाय अच्छिन्नपर्णेन दर्भेण दर्भमणिबन्धनं कृत्वा शर्म सुखं यच्छति प्रयोक्ता । अस्येति पूर्वत्र संबन्धः ॥

प्रयोक्ता पुरुष मृत्युके भयसे पीड़ित जिस पुरुषके लिये अच्छिन्नपर्ण दर्भमणिबन्धन करके सुख देता है उसके केशोंको यमके दूत नहीं उखाड़ते हैं और उसकी छातीमें ताड़ना देकर उसको मारते भी नहीं हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः ।
त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे ॥ ३ ॥

दिवि । ते । तूलम् । ओषधे । पृथिव्याम् । असि । निऽस्थितः ।
त्वया । सहस्रऽकाण्डेन । आयुः । प्र । वर्धयामहे ॥ ३ ॥

हे ओषधे शतकाण्डाख्य ते तव तूलम् अग्रं दिवि द्युलोके । तावत्पर्यन्तं तवोर्ध्वाभिवृद्धिरित्यर्थः । पृथिव्याम् भूम्यां कृत्स्नेनात्मना निष्ठितः विविधम् अवस्थितः असि । सर्वां पृथिवीम् आक्रम्य अवस्थित इत्यर्थः । एवं द्यावापृथिवीव्यापिना त्वया सहस्रकाण्डेन अनेककाण्डोपेतेन अस्य मृत्युभीतस्य आयुः प्रवर्धयामहे प्रकर्षेण अभिवृद्धिं कुर्मः ॥

हे शतकाण्ड नामक ओषधे ! तेरा अग्रभाग द्युलोकमें है अर्थात् तू तहाँ तक बढ़ जाता है और पृथिवीमें तू पूर्णरूपसे व्याप्त है, ऐसे द्यावापृथिवीव्यापक तुझ सहस्रकाण्डसे हम इस मृत्युभीत की आयुको बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तिस्रो दिवो अत्यतृणत् तिस्र इमाः पृथिवीरुत ।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि ॥ ४ ॥

तिस्रः । दिवः । अति । अतृणत् । तिस्रः । इमाः । पृथिवीः । उत ।
त्वया । अहम् । दुःऽहार्दः । जिह्वाम् । नि । तृणद्मि । वचांसि ४

हे शतकाण्डाख्यौषधे त्वं तिस्रो दिवः त्रिविधान् द्युलोकान् ।

भोक्तॄणाम् उत्तममध्यमाधमभेदेन त्रैविध्यात् तद्भोगस्थानस्य द्युलोकस्यापि त्रित्वम् । एवं वक्ष्यमाणायाः पृथिव्या अपि द्रष्टव्यम् । अत्यतृणः अतिक्रम्य गतवान् असि । वेष्टितवान् असीत्यर्थः । उत अपि च इमाः परिदृश्यमानास्तिस्रः पृथिवीरपि अत्यतृणः । एवं महानुभावेन त्वया दुर्हार्दः दुर्हृदयस्य शत्रोर्जिह्वां नि तृणद्मि वेष्टयामि । तस्य वचांसि च वेष्टयामि बन्धयामि । यस्त्वं कृत्स्नां द्यावापृथिवीम् आक्रान्तोसि तादृशेन अतिदीर्घेण त्वया शत्रोर्जिह्वां वाचश्च बध्नामि । ❀ उतृदिर् हिंसानादरयोः । रौधादिकः । "हल्ङ्या०" इत्यादिना सिपो लोपः ❀ ॥

हे शतकाण्ड नामक औषधे ! तू द्युलोककी तीन भूमिकाओं को और पृथिवीलोककी तीन भूमिकाओंको व्याप्त कर रहा है। ऐसे प्रभाव वाले तुझसे मैं दुर्हृदय वाले शत्रुकी जिह्वाको बाँधता हूँ और तुझ पूर्णद्यावापृथिवीमें व्याप्त होने वालेसे शत्रुकी वाणियों को भी बाँधता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

त्वमसि सहमानोहमस्मि सहस्वान् ।

उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा सपत्नान् सहिषीमहि ॥ ५ ॥

त्वम् । असि । सहमानः । अहम् । अस्मि । सहस्वान् ।

उभौ । सहस्वन्तौ । भूत्वा । सऽपत्नान् । सहिषीमहि ॥ ५ ॥

हे शतकाण्डाख्यौषधे त्वं सहमानासि शत्रूणां सहनशीला भवसि । अहं च सहस्वान् शत्रुहिंसाधनबलोपेतः अस्मि । सह इति बलनामसु पाठात् । अतिशयेन शत्रूणां सोढास्मीत्यर्थः । उभौ सहस्वन्तौ सहनधर्मकौ भूत्वा सपत्नान् अस्मदीयान् शत्रून् सहिषीमहि अभिभवेम । ❀ षह मर्षणे । आशीर्लिङि रूपम् ❀ ॥

हे शतकाण्ड नामक ओषधे ! तू शत्रुओंको दवा देती है, और मैं शत्रुकी हिंसा करनेके बलको रखता हूँ, हम दोनों शत्रुको दवाने के स्वभावको रख कर अपने शत्रुओंका तिरस्कार करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

सहस्व नो अभिमातिं सहस्व पृतनायतः ।
सहस्व सर्वान् दुर्हार्दः सुहार्दो मे बहून् कृधि ॥६॥

सहस्व । नः । अभिऽमातिम् । सहस्व । पृतनाऽयतः ।
सहस्व । सर्वान् । दुःहार्दः । सुऽहार्दः । मे । बहून् । कृधि ।

हे शतकाण्डौषधे नः अस्माकम् अभिमातिम् अभिहिंसकं शत्रुं पापं वा । "पाप्मा वा अभिमातिः" इति श्रुतेः [तै० सं० २. १. ३. ५.] । सहस्व अभिभव । तथा पृतनायतः पृतन्यतः पृतना सेना ताम् आत्मन इच्छतः । मया सह योद्धुम् इति शेषः । तांश्च सहस्व अभिभव । किं बहुना सर्वान् दुर्हार्दः दुर्हृदयान् सहस्व । एवं कृत्वा मे सुहार्दः सुहृदयान् बहून् कृधि कृणु । सर्वान् मयि अनुकूलान् कुर्वीत्यर्थः ॥

हे शतकाण्ड नामक ओषधे ! हमारे शत्रु वा पापको क्षीण कर, तथा सेना लेकर मुझसे युद्ध करना चाहने वाले मेरे सब शत्रुओंको दवा और मेरे मित्रोंको बहुतसे कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

दर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित् ।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च ॥ ७ ॥

दर्भेण । देवऽजातेन । दिवि । स्तम्भेन । शश्वत् । इत् ।

तेन । अहम् । शश्वतः । जनान् । असनम् । सनवानि । च ७

देवजातेन देवेभ्यः सकाशाद् उत्पन्नेन दिविष्टम्भेन द्युलोकस्य अधःपाताभावाय स्तम्भकेन द्युलोकस्य स्तम्भभूतेन वा एवंविधेन तेन दर्भेण शश्वदिति सर्वदा अहं शश्वतः नित्यान् दीर्घजीविनो जनान् असनम् अलभे अपि च सनवानि लभे । ❀ षणु दाने । तानादिकः । लोटि "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः❀॥

देवताओंके समीप उत्पन्न हुए द्युलोकके स्तम्भरूप दर्भके द्वारा मैं दीर्घजीवी मनुष्योंको प्राप्त करूँ ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च ।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते ॥ ८ ॥

प्रियम् । मा । दर्भ । कृणु । ब्रह्मऽराजन्याभ्याम् । शूद्राय । च । आर्याय । च ।

यस्मै । च । कामयामहे । सर्वस्मै । च । विऽपश्यते ॥ ८ ॥

हे दर्भ मा मां त्वां धारयमाणं ब्रह्मराजन्याभ्यां ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां वर्णाभ्यां प्रियं कृणु कुरु । ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां च यथाहं प्रियो भवामि तथा मां कुर्वित्यर्थः । अनेन तेषां वशीकरणं प्रार्थितं भवति । तथा शूद्राय च आर्याय च । जात्यभिप्रायम् इदम् । शूद्राणाम् आर्याणां च मां प्रियभूतं कुरु । किं च अहं यस्मैयस्मै अनुलोमेषु प्रतिलोमेषु च जातीयेषु मध्ये यस्मैयस्मै प्रियभावं कामयामहे तस्मै सर्वस्मै विपश्यते पापम् अन्विष्यते पुरुषाय मां प्रियं कुरु

हे दर्भ ! मुझ धारण करने वालेको ब्राह्मण क्षत्रिय वर्णोंके लिये प्रिय करिये अर्थात् मैं जिस प्रकार ब्राह्मण और क्षत्रियों

का प्रिय होऊँ तैसा करिये। तथा शूद्र और आर्यपुरुषोंके लिये भी मुझको प्रिय बनाइये। और हम अनुलोम वा प्रतिलोम जिस किसीके प्रियभावको चाहें उन सबके लिये आप मुझको प्रिय करियें ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद् यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च ।
यं बिभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोयं दर्भो वरुणो दिवा कः ॥ ९ ॥

यः । जायमानः । पृथिवीम् । अदृंहत् । यः । अस्तभ्नात् । अन्तरिक्षम् । दिवम् । च ।
यम् । बिभ्रतम् । ननु । पाप्मा । विवेद । सः । नः । अयम् । दर्भः । वरुणः । दिवा । कः ॥ ९ ॥

यो दर्भः शतकाण्डाख्यो जायमानः प्रादुर्भवन्नेव पृथिवीं सर्वाम् अदृंहत् दृढां कृतवान्। ❀ दृह दृहि वृद्धौ ❀। यथा अप्सु विलीना न भवति तथा स्वमूलेन भुवं दृढां चकारेत्यर्थः। यश्च जातमात्रः सन् स्वकाण्डैः अन्तरिक्षम् अन्तरा क्षान्तं भवतीति अन्तरिक्षम्। तच्च दिवम् द्योतमानं द्युलोकं च अस्तभ्नात् स्तम्भितवान्। यथा ते न निपतेतां तथा तस्तम्भ। यम् उक्तलक्षणं शतकाण्डदर्भमणिं बिभ्रतम् धारयन्तं पाप्मा ननु विवेद न जानाति। न स्पृशतीत्यर्थः। स तादृशोयं वरुणः अन्धकारनिवारको दर्भो

नः अस्माकं दिवा प्रकाशम् अकः करोतु । ❀ लुङि "मन्त्रे घस०" इति च्लेर्लुक् ❀ ।

जिस शतकाण्ड नामक दर्भने प्रादुर्भूत होते ही सब पृथिवीको दृढ़ कर दिया है । अर्थात् जिस प्रकार जलमें विलीन न हो तिस प्रकार अपनी जड़से दृढ़ कर दिया है । और जिसने प्रकट होते ही अन्तरिक्षको और द्युलोकको स्तम्भित कर दिया है अर्थात् वह जिस प्रकार पतित न हों तिस प्रकार स्तम्भित कर दिया है, और जिस शतकाण्डदर्भमणि धारण करने वालेको पाप नहीं जानता है, ऐसा यह अंधकारनिवारक-वरुण हमारा प्रकाशक होवे ॥ ९ ॥

दशमी ॥

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वानोषधीनां प्रथमः सं बभूव स नोयं दर्भः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः ॥ १० ॥

सपत्नऽहा । शतऽकाण्डः । सहस्वान् । ओषधीनाम् । प्रथमः । सम् । बभूव ।

सः । नः । अयम् । दर्भः । परि । पातु । विश्वतः । तेन । साक्षीय । पृतनाः । पृतन्यतः ॥ १० ॥

सपत्नहा सपत्नानाम् । सपत्नीवत् । सपत्नः । एकस्मिन् विषये समानपतित्वम् इच्छतां शत्रूणां हन्ता । शतकाण्डः शतसंख्याकैर-नेकैः काण्डैरुपेतः सहस्वान् सहो बलं तद्वान् एवंमहानुभावः ओष-धीनाम् इतरासां प्रथमः मुख्यः प्रथमभावी वा । अतिशयितवीर्य-

त्वात् । ❀ प्रथम इति मुख्यनाम प्रथमो भवतीति निरुक्तम् [नि० २. २२] ❀ । एवंभूतः सन् सं बभूव । स तादृशः संभूतः अयं दर्भो नः अस्मान् विश्वतः सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यस्तज्जन्येभ्यो भयेभ्यः परि पातु परिरक्षतु । तेन दर्भमणिना पृतन्यतः पृतनां सेनाम् इच्छतः शत्रोः पृतनाः सेनाः साक्षीय अभिभवानि । ❀ पृतन्यत इति । पृतनाशब्दात् क्यचि "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः" इति आकारलोपः। साक्षीयेति । षह अभिभवे । अस्मात् लिङि "सिब्बहुलं छन्दसि णित्" इति सिप् । णित्त्वात्त्वाद् उपधावृद्धिः❀॥

इति चतुर्थेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

एक ही विषयमें एकसा स्वामित्व चाहने वाले सपत्नोंका अर्थात् शत्रुओंका संहारक शतकाण्ड बली है और दूसरी ओषधियोंमें मुख्य बनता हुआ प्रकट हुआ है, ऐसा यह दर्भ हम को चारों दिशाओंसे प्राप्त होने वाले भयसे बचावे । इस दर्भमणिके प्रभावसे मैं सेना चाहने वाले शत्रुओंका तिरस्कार करूँ १०

चतुर्थ अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (७१)

"सहस्रार्घः शतकाण्डः" इति सप्तमं सूक्तम् । अस्य याम्यां महाशान्तौ दर्भमणिबन्धने विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"सहस्रार्घः शतकाण्डः" यह सप्तम सूक्त है । इसका याम्या महाशान्तिके दर्भमणिबन्धनमें विनियोग है, यह बात पहिले सूक्त के साथ कह दी है ।

तत्र प्रथमा ॥

सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम् ।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः ॥ १ ॥

सहस्रऽअर्घः । शतऽकाण्डः । पयस्वान् । अपाम् । अग्निः । वीरुधाम् । राजऽसूयम् ।

सः । नः । अयम् । दर्भः । परि । पातु । विश्वतः । देवः । मणिः । आयुषा । सम् । सृजाति । नः ॥ १ ॥

सहस्रार्घः बहुमूल्यः शतकाण्डः अनेककाण्डोपेतः । ❀ शतम् इति । दश दशतः परिमाणम् अस्येति दशानां शभावः तश्च प्रत्ययो निपातितः ❀ । सहस्वान् बलवान् अपाम् उदकानाम् अग्निः अग्निस्थानीयः । "अग्नेरापः" इति श्रुतेः [तै० आ० ८. १] । अपां स्रष्टेत्यर्थः । यद्वा अपां शोषको वा । वीरुधाम् लतादीनां राजसूयम् । राजसूयकर्मवत्प्रशस्त इत्यर्थः । यथा राजसूययागः सर्वेषां राज्ञां स्वामिनः सार्वभौमस्य विषयः । यद्वा इतरेषां यागानां मध्ये श्रेष्ठत्वात् प्रशस्तः तथायं वीरुधां मध्ये प्रशस्तभूत इति राजसूयस्थानीयत्वम् । ❀ "राजसूयसूर्य०" इत्यादिना क्यबन्तो राजसूयशब्दो निपातितः ❀ । स तादृशः अयं दर्भः नः अस्मान् विश्वतः परि पातु परितो रक्षतु । स देवः देवसृष्टो मणिः नः अस्मान् आयुषा स सृजाति संसृजेत् ॥

बहुमूल्य, अनेककाण्डोंसे सम्पन्न, बलवान्, जलोंका अग्नि अर्थात् जलोंका स्रष्टा-वा जलोंका शोषक, लताओंमें राजसूय आदि कर्मोंकी समान प्रशस्त, यह दर्भमणि हमको चारों ओरसे रक्षित रखे । यह देवताओंसे आविष्कृत मणि हमको आयुसे सम्पन्न करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान् भूमिदृंहोच्युतश्च्यावयिष्णुः ।

नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन् दर्भा रोह महतामिन्द्रियेण ॥ २ ॥

घृतात् । उत्ऽलुप्तः । मधुऽमान् । पयस्वान् । भूमिऽदृंहः । अच्युतः । च्यावयिष्णुः ।

नुदन् । सऽपत्नान् । अधरान् । च । कृण्वन् । दर्भ । आ । रोह । महताम् । इन्द्रियेण ॥ २ ॥

घृतात् आज्यात् हुतशिष्टाद् उल्लुप्तः उल्लिप्तः संपातावनयनेन सर्वतोऽक्तः । "आशयबन्ध्यासवनयानभक्ष्याणि संपातवन्ति" इति [कौ० १. ७] परिभाषितत्वाद् घृताक्तत्वम् । मधुमान् माधुर्योपेतः पयस्वान् प्रभूतक्षीरो भूमिदृंहः भूम्या स्वमूलैर्दृढीकर्ता अच्युतः च्युतिर्नाशस्तद्रहितः बहुधा छिन्नस्यापि पुनःप्ररोहदर्शनात् । च्यावयिष्णुः दृढस्यापि शत्र्वादेश्च्यावनशीलः एवंगुणोपेत हे दर्भमणे त्वं सपत्नान् शत्रून् नुदन् सुदूरं प्रेरयन् तानेव अधरान् निकृष्टान् बलहीनांश्च कृण्वन् कुर्वन् महताम् महत्त्वोपेतानाम् अतिशयितवीर्याणाम् अन्येषाम् ओषधीनाम् इन्द्रियेण इन्द्रसृष्टेन सामर्थ्येन संहितः सन् आ रोह भुजादिप्रदेशम् अधितिष्ठ ॥

होमनेसे बचे हुए घृतसे प्लुत अर्थात् सम्पातावनयनके कारण सर्वतः प्लुत ['आशयबन्ध्याप्लवनयानभक्ष्याणि सम्पातवन्ति' इस कौशिकसूत्रके अनुसार घृताक्तत्व है] मधुरतासम्पन्न प्रभूत क्षीर वाला, अपनी जड़ोंसे भूमिको दृढ़ करने वाला, च्युति अर्थात् नाशसे रहित, क्योंकि—कटा हुआ भी फिर उगा हुआ दीखता है, और दृढ़ शत्रु आदिको भी च्युत करने वाला है, ऐसे हे दर्भमणे ! तू शत्रुओंको दूर खदेड़ता हुआ और उनको निकृष्ट तथा

बलहीन करता हुआ परम वीर्यवती अन्य ओषधियोंकी इन्द्रकी रची हुई शक्तिसे सम्पन्न होकर भुजा आदि प्रदेश पर आरूढ़ हो

तृतीया ॥

त्वं भूमिमत्येष्योजसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे ।
त्वां पवित्रमृषयोभरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत् ३

त्वम् । भूमिम् । अति । एषि । ओजसा । त्वम् । वेद्याम् । सीदसि । चारुः । अध्वरे ।

त्वाम् । पवित्रम् । ऋषयः । अभरन्त । त्वम् । पुनीहि । दुःऽइतानि । अस्मत् ॥ ३ ॥

हे मणिभूत दर्भ त्वम् ओजसा बलेन भूमिम् अत्येषि अतिगच्छसि । तथा चारुस्त्वम् अध्वरे ध्वरो हिंसा तद्रहितः अध्वरो यागः । न हि यागं कुर्वन् विनश्यति स्वर्गादिफलसाधनत्वात् । तस्मिन् वेद्यां सीदसि निषण्णो भवसि हविरासादनार्थम् । किं च पवित्रम् शोधकं त्वाम् । "पवित्रं वै दर्भाः । पुनात्येवैनम्" इति श्रुतेः [तै० ब्रा० १. ३. ७. १] । ऋषयः अतीन्द्रियद्रष्टारः स्वपावनार्थम् अभरन्त आहृतवन्तः । यस्माद् एवं तस्मात् त्वं दुरितानि दुष्कृतानि अस्मत् अस्मत्तः सकाशात् पुनीहि पावय च्यावय॥

हे मणिरूपको प्राप्त हुए दर्भ ! तू बलसे भूमिमें जाता है, तू रमणीय है और हिंसारहित अध्वर (याग) की वेदीमें हविका आसादन करनेके लिये बैठता है [यागको करता हुआ नष्ट नहीं होता है, क्योंकि-वह स्वर्ग आदि फलोंका साधन है अत एव यागको अध्वर कहा है] और तू शोधक है, [तैत्तिरीयब्राह्मण १ । ३ । ७ । १ की श्रुतिमें भी कहा है, कि-"पवित्रं वै दर्भाः ।

पुनात्येवैनम्"] अतीन्द्रियद्रष्टा ऋषि अपनेको पवित्र करनेके लिये इसको धारण करते रहे हैं, ऐसी बात है इस कारण तू पापोंको हमसे पवित्र कर अर्थात् च्युत कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः ।
ओजो देवानां बलमुग्रमेतत तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये ॥ ४ ॥

तीक्ष्णः । राजा । विऽससहिः । रक्षःऽहा । विश्वऽचर्षणिः ।
ओजः । देवानाम् । बलम् । उग्रम् । एतत् । तम् । ते । बध्नामि । जरसे । स्वस्तये ॥ ४ ॥

तीक्ष्णः अतिनिशितशक्तिः । यस्मै प्रयोजनाय प्रयुज्यते तस्य आशुकारीत्यर्थः । राजा सर्वासाम् ओषधीनां सर्वेषां मणीनां वा राजवच्छ्रेष्ठः विषासहिः विशेषेण सोढा शत्रुमर्षकः रक्षोहा राक्षसानां हन्ता विश्वचर्षणिः विश्वद्रष्टा तथा देवानाम् इन्द्रादीनाम् ओजः ओजःस्थानीयः । तेषाम् असुरसंग्रामे जयप्रदत्वात् । उग्रम् परैरसह्यं बलम् बलस्वरूपम् एतत् रक्षासाधनं दर्भाख्यं वस्तु । अथ वा एतत् इदानीम् । अत्र बलसाधने मणौ बलत्वव्यवहारः । तं तादृशं मणिं ते हे रक्षाकाम पुरुष तव बध्नामि । किमर्थम् । जरसे जरापरिहारार्थं स्वस्तये क्षेमाय च बध्नामि ॥

परम तीक्ष्ण शक्ति वाला अर्थात् जिस प्रयोजनके लिये प्रयोग किया जाय उसको शीघ्रतासे करने वाला, अन्य औषधि वा मणियोंमें राजाकी समान श्रेष्ठ शत्रुओंको विशेषरूपसे दबाने वाला राक्षसोंका संहारक, सबका द्रष्टा, इन्द्र आदि देवताओंका

बलरूप क्योंकि असुरसंग्राममें उनको विजय प्रदान करता है, और यह दर्भ नामक वस्तु शत्रुओंके लिये असह्य बलरूप और प्रयोक्ताकी रक्षा करनेवाला है। हे रक्षाकाम पुरुष! ऐसी मणि को जरापरिहार और क्षेमके लिये बाँधता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

दर्भेण त्वं कृणवद् वीर्याणि दर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः ।
अतिष्ठाया वर्चसाधान्यान्त्सूर्य इवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥

दर्भेण । त्वम् । कृणवत् । वीर्याणि । दर्भम् । बिभ्रत् आत्मना । मा । व्यथिष्ठाः ।
अतिऽस्थाय । वर्चसा । अध । अन्यान् । सूर्यःऽइव । आ । भाहि । प्रऽदिशः । चतस्रः ॥ ५ ॥

हे पुरुष त्वं दर्भेण मणिना साधनेन वीर्याणि वीरस्य कर्माणि वीर्याणि शत्रुजयादीनि कृणवत् कुर्याः । अतः दर्भं वीर्यसाधनं बिभ्रत् धारयंस्त्वम् आत्मना निश्चलेन युक्तः सन् । अथ वा आत्मना आत्मनि बिभ्रत् मा व्यथिष्ठाः व्यथां मा कुरु । शत्रवः पराभविष्यन्तीत्येवं मनसि व्यथां मा कार्षीरित्यर्थः । अध अपि च वर्चसा शरीरबलेन अन्यान् अधिष्ठाय सूर्य इव स यथा लोकान् स्वतेजसा आलोकेन प्रकाशयति तद्वत् प्रदिशः प्रकृष्टाः प्रागादि- चतस्रो दिशः आ भाहि प्रकाशय ॥

चतुर्थेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

चतुर्थोऽनुवाकः समाप्तः ॥

हे पुरुष ! तू दर्भमणिरूप साधनसे वीरके कर्म शत्रुजय आदि कार्योंको कर, इस दर्भमणिको धारण करता हुआ तू अपने मन में यह व्यथा न मान कि-शत्रु मुझको पराजित कर डालेंगे। और अपने शारीरिक बलसे दूसरों पर अधिष्ठित होकर, सूर्य जैसे अपने प्रकाशसे लोकोंको प्रकाशित करता है तिस प्रकार पूर्व आदि चारों दिशाओंको प्रकाशित कर ॥ ५ ॥

चतुर्थ अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५७७)

चतुर्थ अनुवाक समाप्त।

पञ्चमेनुवाके द्वादश सूक्तानि । तत्र "जङ्गिडोसि" इति प्रथम-द्वितीयाभ्यां सूक्ताभ्यां "वायव्यां वातवात्यायाम्" इति [न० क० १७.] विहितायां वायव्याख्यायां महाशान्तौ जङ्गिडवृक्षनिर्मितं मणिं बध्नीयात् । तथा नक्षत्रकल्पे सूत्रितम् । "वाताज्जातः [४. १०] इति शङ्खं वारुण्याम् । जङ्गिडोसि जङ्गिडो रक्षितासि [१६. ३४] इति जङ्गिडं वायव्यायाम्" इति [न०क०१६.]॥

पञ्चम अनुवाकमें बारह सूक्त हैं। इनमेंसे "जङ्गिडोसीति" आदि प्रथम द्वितीय सूक्तोंसे "वायव्यां वातवात्यायाम्" इस नक्षत्र कल्प १७ से विहित वायव्या महाशान्तिमें जङ्गिड वृक्षकी बनी हुई मणिको बाँधे। इसी बातको नक्षत्रकल्प १६ में कहा है, कि "वाताज्जातः (४ । १०) इति शङ्खं वारुण्याम् । जङ्गिडोसि जंगिडो रक्षितासि (१६ । ३४) इति जंगिडं वायव्यायाम्"

तत्र प्रथमा ॥

जङ्गिडोऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः ।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः ॥ १ ॥

जङ्गिडः । असि । जङ्गिडः । रक्षिता । असि । जङ्गिडः ।
द्विऽपात् । चतुःऽपात् । अस्माकम् । सर्वम् । रक्षतु । जङ्गिडः १

जङ्गिडो नाम कश्चिद् ओषधिविशेषः। स च उत्तरदेशे प्रसिद्धः। हे जङ्गिड मणे जङ्गिडोसि यतो जातानां कृत्यानां कृत्याकृतां च निगरणकर्तासि अतो जङ्गिड इत्युच्यते। तस्मात् जङ्गिडस्त्वं रक्षितासि सर्वेभ्यो भयेभ्यः पालयिता भवसि। ❀ पिच्छादित्वाद् इलच्। यद्वा जङ्गम्यते शत्रून् बाधितुम् इति जङ्गिडः। गमेर्यङ्लुगन्ताद् रूपसिद्धिः। अथ वा जनेर्जयतेर्वा डप्रत्यये ज इति भवति। जं गिरतीति जङ्गिरः। कपिलकादित्वाद् लत्वम्। पूर्वपदस्थस्य सुपो लुगभावश्छान्दसः। खच् प्रत्ययो वा द्रष्टव्यः ❀॥ अथ परोक्षम् अभिधीयते। अस्माकं यद् द्विपात् यत् पादद्वयोपेतं मनुष्यादिलक्षणम् अस्ति तथा चतुष्पात् पादचतुष्टयोपेतं गोमहिषादिलक्षणम् अस्ति। ❀ उभयत्र "संख्यासुपूर्वस्य" इति लोपः समासान्तः ❀। तत् सर्वं जङ्गिडः जङ्गिडाख्यो मणी रक्षतु पालयतु॥

जंगिड नामक एक औषधि होती है, वह उत्तरदेशमें प्रसिद्ध है, ऐसी हे जंगिड मणे! तू प्रकट हुई कृत्याओंकी और कृत्याओं के किये हुए कृत्योंकी भी निगलने वाली है, अत एव जंगिड कहलाती है। इस कारण हे जंगिड! तू सब भयोंसे पालन करने वाला है। हमारा जो दो पैर वाला मनुष्य आदिक समूह है और चार पैर वाला जो गौ भैंस आदिक समूह है, उस सबकी जंगिड मणि रक्षा करे॥ १॥

द्वितीया॥

या गृत्स्यस्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये।
सर्वान् विनक्तु तेजसोरसां जङ्गिडस्करत्॥ २॥

याः। गृत्स्यः। त्रिऽपञ्चाशीः। शतम्। कृत्याऽकृतः। च। ये।

सर्वान् । विनक्तु । तेजसः । अरसान् । जङ्गिडः । करत् ॥ २ ॥

या गृत्स्यः गर्धनशीला यास्त्रिपञ्चाशीः त्र्यधिकपञ्चाशत्संख्याकाः कृत्याः सन्ति । ❀ पूरणार्थे डट् । डित्वात् टिलोपः । "टिड्ढाणञ्" इति ङीप् ❀ । तथा ये शतम् शतसंख्याकाः कृत्याकृतः । कृत्या नाम मृदादारुदिना निर्मितपुत्तल्यादि । तासां कृत्यानां कर्तारः सन्ति तान् सर्वान् जङ्गिडः जङ्गिडाख्यौषधिनिर्मितो मणिः विनष्टतेजसः हतवीर्यान् स्वव्यापारे कुण्ठितशक्तीन् । तदेवोच्यते अरसान् इति । अरसान् रसरहितान् ऋजीषमायान् करत् कुर्यात् । ❀ करोतेर्लेटि अडागमः ❀ ॥

जो तरेपन ग्राहिका कृत्याएँ हैं, और जो मट्टी दारु आदिकी पुतलियोंके सौ निर्माता हैं उन सबको जंगिड नामक औषधिसे निर्मित मणि हतवीर्य अर्थात् अपने २ व्यापारमें कुण्ठित शक्तिवाले और रसरहित करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अरसं कृत्रिमं नादमरसाः सप्त विस्रसः ।
अपेतो जङ्गिडामतिमिषुमस्तेव शातय ॥ ३ ॥

अरसन् । कृत्रिमम् । नादम् । अरसाः । सप्त । विऽस्रसः ।

अप । इतः । जङ्गिड । अमतिम् । इषुम् । अस्ताऽइव । शातय ३

कृत्रिमम् क्रियया निर्वृत्तम् । ❀ "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति मप् प्रत्ययः ❀ । अभिचरता उत्पादितं नादम् ध्वनिं शिरःकर्णाद्यङ्गेषु स्थितम् अयं जङ्गिडो मणिः अरसम् गतसारम् । करत् इति अनुवर्तते । करोतु । एवं सप्त विस्रसः सप्तसंख्याका विस्रंसनाः । ❀ स्रंसेः क्विप् ❀ । मूर्धनिष्ठेषु नासारन्ध्रद्वयचक्षुर्गोलकद्वयश्रो-

त्रच्छिद्रद्वयमुखकुहररूपेषु सप्तसु च्छिद्रेषु अभिचरता उत्पादिताः सप्त निष्यन्दा अपि अरसाः सन्तु । जङ्गिडमणिमाहात्म्याद् इति शेषः ॥ अथ प्रत्यक्षेणाह । हे जङ्गिड त्वम् अमतिम् दारिद्र्यं दुर्बुद्धिं वा इतः अस्माद् मणिधारकसकाशाद् अपसार्य इषुम् अस्तेव । अस्ता इषुक्षेप्ता । ❀ असु क्षेपणे । "रधादिभ्यश्च" इति इड्विकल्पः ❀ । शत्रुषु प्रयोक्ता यथा शातयति तनूकरोति एवं शातय तनूकुरु । ❀ "शदेरगतौ तः" इति णिचि शदेस्तकारादेशः ❀ ॥

अभिचारके द्वारा उत्पादित शिर कर्ण आदि अंगोंमें स्थित कृत्रिम ध्वनिको यह जंगिड मणि निःसार करे और जंगिड मणिके माहात्म्यसे नासारंध्रद्वय, चक्षुओंके दो गोलक, कानोंके दो छिद्र और मुखच्छिद्र ये सातों छिद्र भी अरस होवें । हे जंगिड ! तू दरिद्रताको और दुर्बुद्धिको इस मणिधारक पुरुषके पाससे हटा कर, जैसे वाण फेंकने वाला शत्रुओंको काटता है तैसे दुर्मति और दारिद्र्यका नाश कर ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

कृत्यादूषण एवायमथो अरातिदूषणः ।

अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥४॥

कृत्याऽदूषणः । एव । अयम् । अथो इति । अरातिऽदूषणः ।

अथो इति । सहस्वान् । जङ्गिडः । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ४

अयं जङ्गिडो मणिः कृत्यादूषणः कृत्यायाः परोत्पादितायाः दूषणः निराकर्तैव । ❀ दुष वैकृत्ये । अस्मात् णिचि कर्तरि करणे वा ल्युट् । "दोषो णौ" इति ऊकारादेशः ❀ । अवधारणार्थ एवशब्दः । अथो अपि च अरातिदूषणः शत्रुच्यावनसाधनः अथो

अपि च अयं जङ्गिडः सहस्वान् उक्तव्यापारोचितबलोपेतः । स तादृशो मणिः कृत्यादूषणादिकं कृत्वा न आयूंषि प्र तारिषत् । ❀ प्रपूर्वस्तरतिर्वर्धनार्थः ❀ । वर्धयतु ॥

यह जंगिडमणि दूसरोंकी उत्पन्न की हुई कृत्याओंको दूर करने वाली है, और शत्रुओंको च्युत करनेका साधन है और यह जंगिडमणि पूर्वोक्तव्यापारके योग्य बलसे सम्पन्न है । ऐसी यह मणि कृत्यादूषण आदिको करके हमारी आयुको बढ़ावे ४

पञ्चमी ॥

स जङ्गिडस्यं महिमा परिं णः पातु विश्वतः ।
विष्कन्धं येन सासह संस्कन्धमोज ओजसा ॥५॥

सः । जङ्गिडस्य । महिमा । परि । नः । पातु । विश्वतः ।
विऽस्कन्धम् । येन । ससह । सम्ऽस्कन्धम् । ओजः । ओजसा ५

स तादृशः उत्तरार्धेऽभिधीयमानलक्षणो जङ्गिडस्य महिमा तन्महत्त्वं नः अस्मान् विश्वतः सर्वस्माद्द भयजातात् परि पातु परितो रक्षतु । कोसौ महिमेति तमाह । यो महिमा विष्कन्धम् विश्लिष्टस्कन्धम् एवंनामानं वातविशेषं महारोगम् ओजसा सह तस्य यद् विष्कन्धीकरणसामर्थ्यम् अस्ति तेन सह अपुनरुद्भवं नाशयति । यश्च महिमा संस्कन्धम् । येन रोगेण स्कन्धः संततः संलग्नो भवति स रोगः संस्कन्धः । तं महारोगं वातलक्षणम् ओजः महिमा ओजसा सह रोगस्य सामर्थ्येन सह नाशयति । स महिमेति पूर्वत्र संबन्धः ॥

इस मणिका आगे कहा जाने वाला महत्त्व चारों ओरके भयों से हमारी रक्षा करे । इस मणिकी महिमा विश्लिष्टस्कंध नामवाले वातमहारोगको उसकी शक्तिके साथ अपुनरुद्भव रूपमें नष्ट कर

डालती है और इसकी महिमा जिस-रोगसे स्कंध सन्नत होजाता है उस सस्कंध रोगको उसकी शक्तिके साथ नष्ट कर डालती है जिससे वह फिर प्रादुर्भूत नहीं होता है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

त्रिष्ट्वा देवा अजनयन् निष्ठितं भूम्यामधि ।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥ ६ ॥

त्रिः । त्वा । देवाः । अजनयन् । निऽस्थितम् । भूम्याम् । अधि । तम् । ऊं इति । त्वा । अङ्गिराः । इति । ब्राह्मणाः । पूर्व्याः । विदुः ॥ ६ ॥

इदानीं भूम्याम् अधि । ❀ अधिः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । भूम्यां तिष्ठन्तं त्वा त्वां देवाः इन्द्राद्याः त्रिः त्रिवारम् अजनयन् उदपादयन् । त्रिषु लोकेषु अवस्थानायेति भावः । अथ वा एकद्विवारप्रयत्नेन अनुत्पद्यमानं त्वां त्रिवारम् अजनयन् । अनेन अत्यन्तप्रयोजकत्वेन अवश्यम् उत्पादनीयत्वम् उक्तं भवति । तं तादृशं प्रयत्नेन उत्पादितं त्वा त्वाम् अङ्गिरा इति । ब्रह्मणोऽङ्गसंभूतो रसः अङ्गिर आख्यो महर्षिः । यद्वा अङ्गिरा अङ्गाराः । "येऽङ्गारा आसंस्तेऽङ्गिरसोभवन्" इति ब्राह्मणम् [ऐ० ब्रा० ३. ३४] । एवंनामा महर्षिरिति पूर्व्याः पूर्वे भवा ब्राह्मणा महर्षयो विदुः ब्रुवते ॥

भूमि पर स्थित हुए तुझको इन्द्र आदि देवताओंने तीन बार के प्रयत्नसे प्रकट किया है । इस बातको ब्रह्माके अंगरससे प्रकट हुए अंगिरा नामक महर्षि और प्राचीन कालके ब्राह्मण महर्षि जानते हैं ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः ।

विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥

न । त्वा । पूर्वाः । ओषधयः । न । त्वा । तरन्ति । याः नवाः ।

विऽबाधः । उग्रः । जङ्गिडः । परिऽपानः । सुऽमङ्गलः ॥ ७ ॥

हे जङ्गिड त्वा त्वां पूर्वाः पूर्वं सृष्ट्यादावुत्पन्ना ओषधयो न तरन्ति नातिक्रामन्ति । सर्वेष्वपि प्रयोगेषु अतिशयितवीर्यत्वाद् इति भावः । एवं या ओषधयो नवाः नूतनाः सन्ति ता अपि त्वा त्वां न तरन्ति अतिशयितुं न प्रभवन्ति । कुत एतद् इति तत्राह । हे जङ्गिड यतस्त्वं विबाधः बाधयतीति बाधः विशेषेण शत्रुरोगादेर्बाधकः उग्रः उद्गूर्णबलः परिपाणः परितः पाता सुमङ्गलः सुष्ठु मङ्गलकारी । अनेन शत्र्वादिजयभयरक्षणलक्ष्मीकरत्वलक्षणगुणा अस्योक्ता भवन्ति ॥

हे जंगिड ! सृष्टिकी आदिमें उत्पन्न हुई औषधियें तेरे प्रभाव को नहीं पहुँचतीं, क्योंकि-तू सब प्रयोगोंमें परम वीर्यशाली है। और जो नवीन औषधियें हैं वे भी वीर्यमें तुझसे नहीं बढ़ सकतीं, क्योंकि-हे जंगिड ! तू शत्रुभूत रोग आदिका विशेषरूपसे बाधक है, प्रचण्ड बली है, चारों ओरसे रक्षा करने वाला है और सुन्दर मंगल करने वाला है। [इस प्रकार इसके शत्रु आदिका विजय भयरक्षण और लक्ष्मीकरणत्व आदि गुणोंको सूचित किया है]

अष्टमी ॥

अथोपदान भगवो जाङ्गिडामितवीर्य ।

पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ ॥ ८ ॥

अथ । उपऽदान । भगऽवः । जङ्गिड । अमितऽवीर्य ।

पुरा । ते । उग्राः । ग्रसते । उप । इन्द्रः । वीर्यम् । ददौ ॥ ८ ॥

अथशब्दः अभिमुखीकरणार्थः । हे उपदान उपादीयते स्वीक्रियते कृत्यानिर्हरणादिव्यापारेष्विति उपदानः । तस्य संबोधनम् । हे उपदान हे भगवः भगवन् अतिशयितमाहात्म्य हे अमितवीर्य अपरिच्छिन्नसामर्थ्य हे जङ्गिड ते त्वाम् उग्राः उद्गूर्णबलाः प्राणिनः पुरा ग्रसते भक्षयिष्यन्तीति विज्ञाय इन्द्रः यथा त्वाम् उग्रा न भक्षयन्ति तथा वीर्यम् परैरनभिभाव्यं सामर्थ्यम् उप ददौ प्रादात् । तस्माद् इन्द्रेण दत्तवीर्यत्वाद् अतिशयितवीर्यस्त्वमसीति स्तुतिः ॥

हे कृत्यानिर्हरण आदि व्यापारोंमें स्वीकृत किये जाने वाले उपदान ! हे अतिशयित माहात्म्य वाले भगवन् ! हे अपरिमित सामर्थ्य जङ्गिड ! इन्द्रने यह जानकर, कि–प्रचण्ड बली प्राणी तुझको खा जा सकते हैं पहिलेसे ही तुझको प्रचण्ड बल देदिया है [इस प्रकार इन्द्रप्रदत्त वीर्यके कारण तू परमवीर्यवान् है, यह स्तुति है] ॥ ८ ॥

नवमी ॥

उग्र इत् ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ ।

अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे ॥ ९ ॥

उग्रः । इत् । ते । वनस्पते । इन्द्रः । ओज्मानम् । आ । दधौ ।

अमीवाः । सर्वाः । चातयन् । जहि । रक्षांसि । ओषधे ॥ ९ ॥

हे वनस्पते जङ्गिड त्वम् उग्र इत् उग्र एव अतिशयितवीर्य एव नात्र विचारणा । यतः ते त्वयि इन्द्रो देवः ओज्मानम् ओजो बलम् आ दधौ स्थापितवान् । अतस्त्वम् हे ओषधे वनस्पते सर्वा अमीवाः साध्यासाध्यविभागम् अकृत्वा सर्वानपि रोगांश्चातयन्-

नाशयन् रक्षांसि । रक्षितव्यम् अस्माद् इति रक्षः । भयोपादान-भूतान् राक्षसान् जहि घातय ॥

हे जङ्गिड ! तू परमवीर्यवान् है, इसमें कुछ विचारकी बात नहीं है, क्योंकि—इन्द्रने तुझमें बलको स्थापित किया है। अतः हे औषधे ! तू साध्य असाध्य विभागोंको छोड़ कर सब रोगोंको नष्ट करता हुआ भयके उपादानभूत राक्षसोंका भी संहार कर ६

दशमी ॥

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम् ।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥ १० ॥

आऽशरीकम् । विऽशरीकम् । बलासम् । पृष्टिऽआमयम् ।
तक्मानम् । विश्वऽशारदम् । अरसान् । जङ्गिडः । करत् १०

आशरीकम् सर्वतो हिंसकम् एतन्नामानं रोगं तथा विशरीकम् विशेषेण हिंसकम् एतन्नामानं च बलासम् बलस्य असनं कर्तारं बलक्षयकारकम् एतन्नामानं पृष्ट्यामयम् सर्वाङ्गव्यापिनम् एतन्नामानं च रोगं तक्मानम् कृच्छ्रजीवनकर्तारं यस्मिंन् सति कृच्छ्रेण जीवनं भवति तादृशं विश्वशारदम् सर्वस्य सर्वदा वा विशरणकर्तारम् एवम् अन्यानपि रोगान् जङ्गिडो मणिः अरसान् पीडनासमर्थान् करत् करोतु ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

सर्वतोहिंसक आशरीक नामक रोगको, विशेषरूपसे हिंसक विशरीक नामक रोगको बलका क्षय करने वाले बलास नामक रोगको, सर्वांगव्यापी पृष्ट्य नामक रोगको, जीवनको कष्टमय करने वाले तक्मा नामक रोगको, सबका विशरण करने वाले

विश्वशारद रोगको तथा अन्य रोगोंको भी यह जंगिड मणि अरस करे अर्थात् पीड़ा देनेमें असमर्थ करे ॥ १० ॥

पञ्चम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५७८)

'इन्द्रस्य नाम" इति द्वितीयं सूक्तम्। तस्य जङ्गिडमणिबन्धने पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"इन्द्रस्य नाम" यह दूसरा सूक्त है। इसका जंगिडमणिबन्धन में विनियोग होता है, यह बात पहिले सूक्तके साथ कहदी है।

तत्र प्रथमा ॥

इन्द्र॑स्य॒ नाम॑ गृ॒ह्णन्त॒ ऋष॑यो ज॒ङ्गि॒डं द॑दुः ।
दे॒वा यं च॒क्रुर्भे॑ष॒जमग्रे॑ विष्कन्ध॒दूष॑णम् ॥ १ ॥

इन्द्र॑स्य । नाम॑ । गृ॒ह्णन्तः॑ । ऋष॑यः । ज॒ङ्गि॒डम् । द॒दुः॒ ।
दे॒वाः । यम् । च॒क्रुः । भे॒ष॒जम् । अग्रे॑ । वि॒स्क॒न्ध॒ऽदूष॑णम् ॥१॥

पूर्वं ऋषयः अतीन्द्रियद्रष्टारोऽङ्गिरआद्या इन्द्रस्य देवस्य नाम गृह्णन्तः उच्चारयन्तो जङ्गिडम् जङ्गिडाख्यं मणिम् अतिशयितवीर्यत्वाय रक्षाकामेभ्यः पुरुषेभ्यो ददुः दत्तवन्तः। तस्माद् इदानींतनैरपि रक्षाबन्धनसमये इन्द्रस्य नाम ब्रुवाणैरेव जङ्गिडमणिर्धार्य इत्यभिप्रायः। किं च अग्रे सृष्ट्यादौ देवाः इन्द्राद्या यं जङ्गिडं जङ्गिडाख्यौषधिं विष्कन्धभेषजम् विष्कन्धाख्यस्य महारोगस्य औषधं चक्रुः कृतवन्तः। अतस्तं विष्कन्धभेषजार्थं प्रयुञ्ज्याद् इत्यर्थः। स नो रक्षत्विति उत्तरत्र संबन्धः ॥

अतीन्द्रियद्रष्टा अंगिरा आदि पूर्वकालके ऋषियोंने इन्द्रदेवका नाम उच्चारण करके जंगिड नामक मणिको परमवीर्यकी कामना वाले ऋषियोंके लिये दिया था। [इस लिये आज कलके मनुष्यों को भी रक्षाबन्धनके समय इन्द्रका नाम लेकर ही जंगिडमणिको

धारण करना चाहिये । यह अभिप्राय है] और सृष्टिकी आदि में इन्द्र आदि देवताओंने जिस जंगिड नामक रोगकी महौषधि को विष्कन्ध नामक रोगकी महौषधि बनाया है [अतः विष्कंध की चिकित्साके लिये इसका प्रयोग करना चाहिये] ऐसी यह औषधि हमारी रक्षा करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

स नो॑ रक्षतु ज॒ङ्गिडो॑ धन॒पालो॒ धने॑व ।
दे॒वा यं च॒क्रुर्ब्रा॑ह्म॒णाः प॑रि॒पाण॑मराति॒हम् ॥ २ ॥

सः । नः । र॒क्षतु । ज॒ङ्गिडः । धन॒ऽपा॒लः । धना॑ऽइव ।
दे॒वाः । यम् । च॒क्रुः । ब्रा॒ह्म॒णाः । प॒रि॒ऽपान॑म् । अ॒रा॒ति॒ऽहम् ॥ २ ॥

स उक्तविशेषणविशिष्टो जङ्गिडो मणिः नः अस्मान् रक्षतु । तत्र दृष्टान्तः । धनपालः लोके कस्यचिद् राज्ञो धनाध्यक्षो धनेव धनानि यथा महता प्रयत्नेन रक्षति तद्वत् । यं जङ्गिडं देवा ब्राह्मणाश्च । ब्राह्मणा महर्षयः । यद्वा देवाः श्रुताध्ययनादिना द्योतमाना ब्राह्मणा भृग्वङ्गिरःप्रभृतयः परिपाणम् परितो रक्षकम् अरातिहम् अरातेः शत्रोर्हन्तारं चक्रुः । स नो रक्षत्विति सम्बन्धः ॥

जैसे किसी राजाका धनाध्यक्ष महान् प्रयत्नसे धनकी रक्षा करता है, इस प्रकार जंगिड मणि हमारी रक्षा करे । देवता और ब्राह्मणोंने जिसको सर्वतोरक्षक और शत्रुहन्ता बना दिया है वह जंगिड मणि हमारी रक्षा करे ॥ २ ॥

तृतीया ॥

दु॒र्हार्दः॑ सं॒घोरं॒ चक्षुः॑ पाप॒कृत्वा॑न॒माग॑मम् ।

तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतिबोधेन नाशय परिपाणोऽसि जङ्गिडः ॥ ३ ॥

दुःऽहार्दः । सम्ऽघोरम् । चक्षुः । पापऽकृत्वानम् । आ । अगमम् । तान् । त्वम् । सहस्रचक्षो इति सहस्रऽचक्षो । प्रतिऽबोधेन । नाशय । परिऽपानः । असि । जङ्गिडः ॥ ३ ॥

हे जङ्गिमणे त्वं दुर्हार्दः दुष्टहृदयस्य शत्रोः संघोरम् अत्यन्तक्रूरं चक्षुः । नाशयेति उत्तरत्र सम्बन्धः । एवं पापकृत्वानम् हिंसादिलक्षणस्य पापस्य कर्तारम् । ❀ "राजनि युधिकृञः" इति राजोपपदात् करोतेर्विहितः क्वनिप् पापोपपदादपि अत्र व्यत्ययेन निष्पन्नः ❀ । एवंलक्षणम् आगतम् हन्तुं प्राप्तं च नाशय । तान् उक्तलक्षणान् सर्वान् हे सहस्रचक्षो बहुधा द्रष्टः । ❀ चक्षेरौणादिक उसप्रत्ययः ❀ । अनेन बाधकहननविषयपरिज्ञानम् अस्योक्तं भवति । तादृशस्त्वं प्रतिबोधेन प्रतिकूलया तव बुद्ध्या । यद्वा तत्कृतापराधोद्घाटनेन नाशय ॥ एवंविधप्रार्थनाया विषयभावस्तस्य कुत इति तत्राह । जङ्गिडस्त्वं परिपाणोसि परितो रक्षकोसि यतः अतो नाशयेत्यर्थः ॥

हे जंगिडमणे ! तू दूषित हृदय वाले शत्रुके भयङ्कर नेत्रको, हिंसा आदिक पाप करने वालेको और विनाश करनेके लिये समीप में आए हुएको भी हे सहस्र प्रकारसे देखने वाली मणे ! अपनी ज्ञानशक्तिसे नष्ट कर, क्योंकि—तू सर्वतोरक्षक है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् परि मा वीरुद्भ्यः ।

परि मा भूतात् परि मोत भव्याद् दिशोदिशो जङ्गिडः पात्वस्मान् ॥ ४ ॥

परि । मा । दिवः । परि । मा । पृथिव्याः । परि । अन्तरिक्षात् । परि । मा । वीरुत्ऽभ्यः ।

परि । मा । भूतात् । परि । मा । उत । भव्यात् । दिशःऽदिशः । जङ्गिडः । पातु । अस्मान् ॥ ४ ॥

अयं जङ्गिडो मणिः मा मां दिवः द्युलोकात् । ततः संभूताद् भयाद् इत्यर्थः । एवं पृथिव्यादिष्वपि द्रष्टव्यम् । परि पात्विति उत्तरत्र संबन्धः । तथा पृथिव्याः सकाशात् पृथिव्यां संभूतेभ्यो बाधकेभ्यः पातु । एवम् अन्तरिक्षात् तत्रत्याद् रक्षःप्रभृतेः पातु । वीरुद्भ्यः विविधं रोहन्तीति वीरुधः । तेभ्यः पातु । उपलक्षणम् एतत् । तरुगुल्मादिभ्य इत्यर्थः । तेष्वपि विषादिदोषसंभवात् तद्रक्षाप्रार्थना युक्ता । एवं भूतात् अतीतात् कालात् । भूतसंबन्धिनः प्राणिजाताद् इत्यर्थः । एवं भव्यात् भविष्यतोपि परि पातु । एवं दिशोदिशः प्रागादेः । वीप्सया सर्वा अपि दिशः परिगृह्यन्ते । सर्वाभ्यो दिग्भ्यो तत्रत्येभ्यो भयेभ्यः अस्मान् जङ्गिडो मणिः पातु ॥

यह जंगिड मणि द्युलोकसे होसकने वाले भयोंसे मेरी रक्षा करे, पृथिवीके बाधकोंसे मुझे भली प्रकार बचावे, अन्तरिक्षके बाधक राक्षस आदिकसे मेरी रक्षा करे, तरु गुल्म आदिके विषसे मेरी रक्षा करे, भूतकालके प्राणियोंसे प्राप्त होसकने वाले भयोंसे और दिशा प्रदिशासे होसकने वाले भयोंसे मेरी रक्षा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेन्यः ।
सर्वांस्तान् विश्वभेषजोरसां जङ्गिडस्करत् ॥ ५ ॥

ये । ऋष्णवः । देवऽकृताः । यः । उतो इति । ववृते । अन्यः ।
सर्वान् । तान् । विश्वऽभेषजः । अरसान् । जङ्गिडः । करत् ॥५॥

देवकृताः देवैर्निष्पादिता ये ऋष्णवः गन्तारो हिंसकाः पुरुषाः सन्ति । उतो अपि च ये अन्ये मनुष्यादिभेरिता बाधका ववृते ववृतिरे तान् सर्वान् विश्वभेषजः विश्वानि भेषजानि यस्य तथोक्तः। विश्वेष्वपि भेषजेषु यत् साध्यं तद् अनेन भवतीति विश्वभेषजः। सर्वरोगादिपरिहारकत्वस्यास्य वर्णितत्वात् । तादृशो जङ्गिडः अरसान् गतसामर्थ्यान् करत् करोतु ॥

इति पञ्चमेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

जो देवताओंसे निर्मित गमनशील हिंसक पुरुष हैं, और जो मनुष्योंसे प्रेरित बाधक हैं उन सबको यह सबका चिकित्सक जंगिड मणि नीरस करे ॥ ५ ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (५७१)

"शतवारो अनीनशत्" इति तृतीयं सूक्तम् । तेन "संततिं कुलक्षये प्रयुञ्जीत" इति [न० क० १७.] विहितायां संतत्याख्यायां महाशान्तौ शतवारं मणिम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात् । सूत्रितं हि । "शतवारो अनीनशद् इति शतवारं संतत्याम्" इति [न० क० १९.] ॥

"शतवारो अनीनशत्" यह तीसरा सूक्त है। इससे "सन्ततिं कुलक्षये प्रयुञ्जीत ।-सन्ततिशान्तिको कुलक्षयके समय करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित सन्तति नामक महाशान्तिमें शतवार

मणिको अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"शतवारो अनीनशद् इति शतवारं सन्तत्याम्" (नक्षत्रकल्प १६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा ।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः ॥ १ ॥

शतऽवारः । अनीनशत् । यक्ष्मान् । रक्षांसि । तेजसा ।
आऽरोहन् । वर्चसा । सह । मणिः । दुर्नामऽचातनः ॥ १ ॥

शतवारः शतं वारा मूलानि शूका वा यस्य स शतवारः । यद्वा शतसंख्याकान् रोगान् निवारयतीति शतवारः "शतवारेण वारये" इति उत्तरत्र शतसंख्याकरोगवारणश्रवणाद् ओषधिविशेषः । तदात्मको मणिः यक्ष्मान् रोगान् तेजसा स्वमहिम्ना अनीनशत् भृशं नाशयतु । ❀ नशेश्छान्दसे लुङि चङि रूपम् ❀ । तथा तेजसा रक्षांस्यपि अनीनशत् । कदेत्युच्यते आरोहन्निति । दुर्नामचातनः दुर्नामा त्वग्दोषः त्वग्दोषाणां चातयिता नाशयिता मणिः वर्चसा दीप्त्या सह सहितः सन् आरोहन् पुरुषस्य भुजादिप्रदेशम् अधितिष्ठन् । अनीनशद् इति संबन्धः ॥

सैंकड़ों रोगोंको निवारण करने वाली औषधिसे बनी हुई शतवार नामक मणि रोगोंको अपनी महिमासे नष्ट कर देय । तथा तेजसे राक्षसोंको भी भस्म कर देय । दुर्नाम नामक त्वग्दोषों की नाशक मणि अपनी कान्तिसहित पुरुषके भुजा आदि प्रदेश पर अधिष्ठित होती हुई ऐसा करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

भृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः ।

मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्माति तत्रति ॥ २ ॥

शृङ्गाभ्याम् । रक्षः । नुदते । मूलेन । यातुऽधान्यः ।

मध्येन । यक्ष्मम् । बाधते । न । एनम् । पाप्मा । अति । तत्रति २

अयं शतवारः शृङ्गाभ्याम् शृङ्गवद् अवस्थिताभ्याम् अग्रभागाभ्यां रक्षः राक्षसजातिं राक्षसान् अन्तरिक्षस्थान् नुदते अपसारयति । मूलेन अधःप्रदेशेन यातुधान्यः यातुधानीर्नुदते । मध्येन काण्डेन यक्ष्मम् सकलं रोगं बाधते । एनं सर्वस्य बाधकं शतवारमणिं पाप्मा पापी पापं वा न अति तत्रति नातिक्रामति । यद्वा एनं प्रकृतम् उक्तविधमणिशिष्टं पाप्मा पापं बाधकं नाति तत्रति । ❀ तॄ प्लवनतरणयोः । श्लुः शश्चेति विकरणद्वयम् ❀ ॥

यह शतवार सींगोंकी समान अवस्थित अपने अग्रभागोंसे अन्तरिक्षमें स्थित राक्षसोंको भगाता है, अधःप्रदेश मूलसे यातुधानियोंको भगाता है, मध्यभाग काण्डसे सकल रोगोंको नष्ट कर डालता है । इस सर्वबाधक शतवार मणिको पापी अतिक्रमण नहीं कर सकता ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः ।

सर्वां दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत् ॥ ३ ॥

ये । यक्ष्मासः । अर्भकाः । महान्तः । ये । च । शब्दिनः ।

सर्वान् । दुर्नामऽहा । मणिः । शतऽवारः । अनीनशत् ॥ ३ ॥

ये प्रसिद्धा अर्भकाः अप्ररूढा उत्पन्नमात्रा यक्ष्मासः यक्ष्मा रोगाः सन्ति ये च महान्तः अभिवृद्धा यक्ष्माः ये च शब्दिनः

शब्दवन्तः एते दुश्चिकित्सा इति शब्द्यमानाः शब्दवन्तो वा तान् सर्वान् उक्तलक्षणान् रोगान् दुर्नामहा दुर्नामाख्यस्य रोगस्य हन्ता शतवारो मणिः अनीनशत् भृशं नाशयतु ॥

जो अप्ररूढ़ उत्पन्नमात्र यक्ष्मा रोग हैं, जो बढ़े हुए रोग हैं और जो दुश्चिकित्स्य शब्दसे शब्दित रोग हैं, उन सबको यह दुर्नाम नामक रोगकी संहारक मणि पूर्णरूपसे नष्ट कर डाले ३

चतुर्थी ॥

शतं वीरानंजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत् ।

दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते ॥ ४ ॥

शतम् । वीरान् । अजनयत् । शतम् । यक्ष्मान् । अप । अवपत् ।

दुःऽनाम्नः । सर्वान् । हत्वा । अव । रक्षांसि । धूनुते ॥ ४ ॥

अयं धार्यमाणो मणिः शतम् शतसंख्याकान् वीरान् विविधम् ईरयन्ति अपनुदन्तीति वीराः पुत्राः । तान् अजनयत् जनयतु उत्पादयतु प्रयच्छतु । "शतवारो अनीनशद् इति शतवारं संतत्याम्" इति सूत्राद् वीरजनकत्वम् । तथायं शतम् शतसंख्याकान् यक्ष्मान् व्याधीन् अपावपत् । ❀ अपपूर्वो वपिर्नाशार्थः ❀ । अपवपतु नाशयतु । सर्वान् त्वग्दोषभेदा ये ये सन्ति श्वित्रदद्रूपामादिकास्तान् सर्वान् दुर्नाम्नो हत्वा नाशयित्वा रक्षांसि अव धूनुते अव निकृष्टम् अपुनरुद्भवं नाशयति ॥

यह धारण की हुई मणि अनेक प्रकारसे प्रेरणा करनेवाले सैंकड़ों पुत्रोंको प्रकट करे । और यह सैंकड़ों व्याधियोंको दूर करे । यह जो दाद कोढ़ खुजली आदि दुर्नाम सम्पूर्ण त्वग्दोष हैं उन सबको दूर कर राक्षसोंको फिर उत्पन्न न होसकें इस प्रकार नष्ट कर डालती है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः ।
दुर्णाम्नः सर्वांस्तृड्ढ्वाव रक्षांस्यक्रमीत् ॥ ५ ॥

हिरण्यऽशृङ्गः । ऋषभः । शातऽवारः । अयम् । मणिः ।
दुःऽनाम्नः । सर्वान् । तृड्ढ्वा । अव । रक्षांसि । अक्रमीत् ॥ ५ ॥

हिरण्यशृङ्गः यस्याग्रं हिरण्यवद् अवभासते स हिरण्यशृङ्गः। शतवारस्याग्रम् एवं भवति। ऋषभः ओषधीनां श्रेष्ठः शातवारः एतन्नामा अयं मणिविशेषः सर्वान् दुर्णाम्नः त्वग्रोगभेदान् सर्वान् तृड्ढ्वा हिंसित्वा रक्षांसि राक्षसान् अवाक्रमीत् न्यक्कार्षीत् आक्रमतु

सुवर्णकी समान दमकते हुए अग्रभाग वाली, सब ओषधियों में श्रेष्ठ शतवार नामक ओषधिकी बनी हुई यह शातवारमणि सकल त्वग्रोगभेद दुर्नामोंको नष्ट करके राक्षसोंको धकेल देवे ५

पष्ठी ॥

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम् ।
शतं शश्वन्वतीनां शतवारेण वारये ॥ ६ ॥

शतम् । अहम् । दुःऽनाम्नीनाम् । गन्धर्वऽअप्सरसाम् । शतम् ।
शतम् । शश्वन्ऽवतीनाम् । शतऽवारेण । वारये ॥ ६ ॥

अहं दुर्नाम्नीनाम् दुर्नाम्नीरोगभेदानां श्वित्रदद्रूपामादीनां व्याधीनां शतम् । व्याध्यपेक्षया दुर्नाम्नीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । ❀ "अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्" इति ङीप् ❀ । शतवारेण वारय इति संबन्धः । एवं गन्धर्वाप्सरसाम् गन्धर्वा अप्सरसश्च अन्तरिक्षसंचारिणो देवयोनयो मनुष्यान् बन्यर्थं गृह्णन्ति ।

अप्सरस इति नियतं बहवः स्त्रीलिङ्गाभिधेयाश्च । तेषां शतं वारये निवारयामि । तथा शश्वन्वतीनाम् । मुहुर्मुहुः पीडार्थम् आगन्त्र्यो ग्रहापस्माराद्या व्याधयः शश्वन्वत्यः । दकारस्य नकारोपजनः । तासां शतं शतवारेण वारये । यतोयं शतवाराह्वः अतः शतस्य वारकत्वं युक्तम् इति भावः ॥

इति पञ्चमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

मैं कोढ़ दाद खुजली आदि दुर्नाम रोगोंके सैंकड़ों आक्रमणों को इस शतवारसे दूर करता हूँ । और जो अन्तरिक्षमें विचरण करने वाले गंधर्व अप्सरा आदि देवयोनिके प्राणी, बलिके लिये मनुष्योंको ग्रहण कर लेते हैं उन सैंकड़ोंको मैं शतवारसे दूर भगाता हूँ । यहवारम्बार पीड़ा देनेके लिये आने वाले ग्रह अपस्मार आदि सैंकड़ों शश्वन्वती व्याधियोंको निवारण करता है६

पञ्चम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५८०)

"इदं वर्चः" इति चतुर्थं सूक्तम् ॥

"इदं वर्चः" यह चतुर्थ सूक्त है ।

तत्र प्रथमा ॥

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन् भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम् ।

त्रयस्त्रिंशद् यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे १

इदम् । वर्चः । अग्निना । दत्तम् । आ । अगन् । भर्गः । यशः । सहः । ओजः । वयः । बलम् ।

त्रयःऽत्रिंशत् । यानि । च । वीर्याणि । तानि । अग्निः । प्र । ददातु । मे ॥ १ ॥

अग्निना देवेन दत्तम् इदं वर्चः दीप्तिः आगन् आगच्छतु। इदम् इदानीम् इति वा व्याख्येयम्। एवं भर्गः भर्जकं तेजः यशः कीर्तिः सहः पराभिभावुकं तेजः ओजः ओजो नामाष्टमो धातुः धनुरानमनादिसामर्थ्यम् वयः। नित्ययौवनम् अत्राभिमतम्। बलम् परैरनभिभाव्यं सामर्थ्यम्। आगन्निति प्रत्येकम् अभिसंबध्यते। किं च यानि त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानि प्रतिनियतानि वीर्याणि सन्ति तानि मे मह्यम् अग्निः प्र ददातु प्रयच्छतु॥

अग्निदेवका दिया हुआ यह वर्च मुझको प्राप्त होवे, अग्निदेव की दी हुई कीर्ति तेज ओज नित्ययौवन और बल मुझको प्राप्त होवे। और जो तेंतीस वीर्य हैं अग्निदेव उनको मुझे प्रदान करें १

द्वितीया॥

वर्च॒ आ धे॑हि मे त॒न्वां३ सह॒ ओजो॒ वयो॒ बल॑म्।
इ॒न्द्रि॒याय॑ त्वा कर्म॑णे वी॒र्या॒य॒ प्रति॑ गृह्णामि श॒तशा॑र-
दाय॥ २॥

वर्चः। आ। धे॒हि। मे॒। त॒न्वा॒म्। सहः। ओजः। वयः। बलम्।
इ॒न्द्रि॒याय॑। त्वा। कर्म॑णे। वी॒र्या॒य॒। प्रति॑ गृ॒ह्णा॒मि। श॒तऽशा॑रदाय २

हे अग्ने मे मम तन्वाम् शरीरे वर्चः त्वदीयं शत्रूणाम् आवर्जकं तेजः आ धेहि विधेहि। सहओजोवयोबलानि व्याख्यातानि। अत्रापि आ धेहीति प्रत्येकम् अभिसंबध्यते। वर्चःप्रभृतानि अग्नेरसाधारणानि। तानि स्वशरीरे स्थापयेति आशास्ते। इन्द्रियाय। ज्ञानेन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च इन्द्रियशब्देन विवक्ष्यन्ते। इन्द्रियाणां दार्ढ्याय हे प्रतिगृह्यमाण पदार्थ त्वा त्वां प्रति गृह्णामि स्वीकरोमि। न केवलम् इन्द्रियसामर्थ्याय किंतु कर्मणे अग्निहोत्रादिलक्षणाय कर्मसिद्ध्यर्थम्। तथा वीर्याय वीरस्य कर्म वीर्यं

शत्रुजयादि तत्सिद्ध्यर्थम् । एवं शतशारदाय शतसंवत्सरजीवनाय । हिरण्यादिके प्रतिगृहीते सति तेन शरीरपोषणादिद्वारा इन्द्रियाणां दार्ढ्यसंभवाद् एवम् आह ॥

हे अग्निदेव ! आप मेरे शरीरमें अपने शत्रुप्रधर्षक तेजको स्थापित करिये, तथा ओज अवस्था और बलको भी स्थापित करिये । हे ग्रहण किये जाने वाले पदार्थ ! मैं तुझको इन्द्रियोंकी दृढ़ताके लिये धारण करता हूँ, केवल इन्द्रियोंकी दृढ़ताके ही लिये नहीं, किन्तु अग्निहोत्र आदिरूप कर्मकी सिद्धिके लिये भी धारण करता हूँ । शत्रु जय आदि वीरकर्मकी सिद्धिके लिये भी धारण करता हूँ, इसी प्रकार सौ वर्ष तक जीवित रहनेके लिये भी धारण करता हूँ । [सुवर्ण आदिके ग्रहण करने पर उससे शरीरपोषण आदिके द्वारा इन्द्रियोंकी दृढ़ता होना संभव है अतः यह बात कही है] ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा ।

अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय

ऊर्जे । त्वा । बलाय । त्वा । ओजसे सहसे । त्वा ।

अभिऽभूयाय । त्वा । राष्ट्रऽभृत्याय । परि । ऊहामि । शतऽशारदाय

हे प्रतिग्रहविषयभूत पदार्थ त्वा त्वाम् ऊर्जे । ऊर्ग् इति अन्ननाम । अन्नलाभाय त्वा पर्यूहामि परिवहामि । प्रतिगृह्णामीत्यर्थः । तथा बलाय शरीरसामर्थ्याय त्वा पर्यूहामि । एवम् ओजसे सहसे च त्वा पर्यूहामि । अभिभूयाय अभिभूयः अभिभवनं तस्मै शत्रुजयाय प्रयोजनाय त्वा पर्यूहामि । एवं राष्ट्रभृत्याय राज्यभरणप्रयोजनाय तथा शतशारदाय शतशरत्पर्यन्तजीवनाय पर्यूहामि ॥

हे प्रतिग्रहके विषयभूत पदार्थ ! मैं तुझको अन्नप्राप्तिके लिये धारण करता हूँ-प्रतिग्रहण करता हूँ । तथा शरीरकी शक्तिके लिये धारण करता हूँ, ओजके लिये तुझको धारण करता हूँ, शत्रुको दबानेके प्रयोजनके लिये तुझको धारण करता हूँ, इसी प्रकार राज्यभरणके प्रयोजनके लिये तथा शतसम्वत्सर पर्यन्त जीवनके प्रयोजनके लिये धारण करता हूँ ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः ।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ ४ ॥

ऋतुऽभ्यः । त्वा । आर्तवेभ्यः । मात्ऽभ्यः । सम्ऽवत्सरेभ्यः ।
धात्रे । विऽधात्रे । सम्ऽऋधे । भूतस्य । पतये । यजे ॥ ४ ॥

हे पदार्थ त्वा त्वाम् ऋतुभ्यः ग्रीष्मादिभ्यः तेषां प्रीणनाय यजे संगतं करोमि ददामि वा । एवम् आर्तवेभ्यः ऋतुसंबन्धिनीभ्यो देवताभ्यः तथा माद्भ्यः मासेभ्यश्चैत्रादिरूपेभ्यो द्वादशसंख्याकेभ्यः तथा संवत्सरेभ्यः संवसन्ति एषु मासादिकालावयवा इति संवत्सराः तेभ्यः एवं धात्रे स्रष्ट्रे एवंनामकाय देवाय तथा विधात्रे विविधस्य भूतजातस्य कर्त्रे एवं समृधे समर्धयति सृष्टानि प्राणिजातानीति समृत् तस्मै यजे । तथा भूतस्य उत्पन्नस्य कृत्स्नस्य पदार्थस्य पतये स्वामिने यजे ॥

इति पञ्चमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

हे पदार्थ ! मैं तुझको ग्रीष्म आदि ऋतुओंको प्रसन्न करनेके लिये संगत करता हूँ-वा देता हूँ । ऋतुसंबंधी देवताओंको प्रसन्न करनेके लिये संगत करता हूँ-वा देता हूँ । चैत्र आदि रूप बारह मासोंको प्रसन्न करनेके लिये देता हूँ वा संगत करता हूँ और

जिनमें मास आदि कालके अवयव होते हैं ऐसे सम्वत्सरोंके लिये तुझको संगत करता हूँ और धाता नामक देवताको प्रसन्न करने के लिये तथा विधाता नामक देवताको प्रसन्न करनेके लिये और समृध् देवताके लिये संगत करता हूँ तथा उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण पदार्थोंके स्वामीके लिये संगत करता हूँ ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५८२)

"न तं यक्ष्माः" इति पञ्चमं सूक्तम् । तस्य "ऐतु देवः" इति उत्तरसूक्तस्य च पुरोहितकर्तव्ये रात्रौ राज्ञः शय्यागृहप्रवेशनकर्मणि गुग्गुलुधूपं कुष्ठौषधिधूपं च दद्यात् ॥

"अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह"

इति प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "एह्यश्मानम् आ तिष्ठ [२. १३. ४] इति "पञ्चमीम् अधिष्ठापयेत् । न तं यक्ष्माः [१९. ३८] ऐतु देवः [१९. ३९] "इति गुग्गुलुकुष्ठधूपं दद्यात्" इति [प० ४. ४] ॥

"न तं यक्ष्माः" यह पञ्चम सूक्त है । इससे और "ऐतु देवः" इस अगले सूक्तसे भी पुरोहितके कर्तव्य, रात्रिमें होने वाले राजा के शय्यागृहप्रवेशनकर्ममें गूगलकी धूप और कूट औषधिकी धूप को देवे । "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह ।" का आरंभ करके अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"एह्यश्मानं आतिष्ठ(२।१३।४) इति पञ्चमीं अधिष्ठापयेत् । न तं यक्ष्माः (१९ । ३८) ऐतु देवः (१९ । ३९) इति गुग्गुलुकुष्ठधूपं दद्यात्" (अथर्वपरिशिष्ट४।४)॥

तत्र प्रथमा ॥

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते ।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥ १ ॥

न । तम् । यक्ष्माः । अरुन्धते । न । एनम् । शपथः । अश्नुते ।

यम् । भेषजस्य । गुल्गुलोः । सुरभिः । गन्धः । अश्नुते ॥१॥

तं राजानं यक्ष्माः व्याधयो नारुन्धते रोधं न कुर्वन्ति न पीडयन्ति । ॐ रुधिर् आवरणे । रौधादिकः ❀ । तथा एनं राजानं शपथः परकृतोऽभिशापो नाश्नुते न व्याप्नोति न स्पृशति । तम् इत्युक्तं कम् इत्यत आह । यं राजानं भेषजस्य औषधरूपस्य गुग्गुलोः एतन्नामकस्य सुरभिः घ्राणसंतर्पको गन्धो अश्नुते व्याप्नोति । तम् इति पूर्वत्रान्वयः ॥

उस राजाको व्याधियें पीड़ा नहीं देती हैं और उस राजाको दूसरेका दिया हुआ शाप भी नहीं लगता है, कि-जिस राजाको औषधिरूप गूगलका नासिकाको तृप्त करने वाला गंध व्याप्त कर लेता है ॥ १ ॥

विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते ।

यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ॥२॥

उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये ॥ ३ ॥

विष्वञ्चः । तस्मात् । यक्ष्माः । मृगाः । अश्वाःऽइव । ईरते ।

यत् । गुल्गुलु । सैन्धवम् । यत् । वा । अपि । असि । समुद्रियम्

उभयोः । अग्रभम् । नाम । अस्मै । अरिष्टऽतातये ॥ ३ ॥

द्वितीया ॥ तस्मात् यं भेषजस्येति उक्ताद् गुल्गुलुगन्धम् आघ्रातवतः सकाशाद् यक्ष्माः व्याधयो विष्वञ्चः विष्वगञ्चना नानादिगभिमुखाः सन्तः ईरते वेगेन धावन्ति । ❀ ईर गतौ । आदादिकः ❀ । ईरणे दृष्टान्तः । मृगा अश्वा इव । अश्वाः आशुगामिनो मृगा इव हरिणादय इव । अथवा मृगा इव अश्वा इव ।

उभयेषामपि आशुगमनसंभवात् । यद्वा अयम् अर्धर्चः पूर्वमन्त्रेण सह व्याख्येयः यं भेषजस्येत्यनेन एकवाक्यतासंभवात् ॥

तृतीया ॥ गुल्गुलुः औषधं यत् यदि सैन्धवम् सिन्धुदेशजम् । ❀ "तत्र भवः" इति अण् ❀ । यद्वापि समुद्रियम् समुद्रभवम् असि । ❀ "समुद्राभ्राद् घः" इति भवार्थे घः ❀ । हे गुल्गुलो उभयोः उभयविधयोस्तव स्वरूपयोः नाम अग्रभम् गृह्णामि कीर्तयामि । ❀ गृह्णतेर्लुङि च्लेर्लुक् छान्दसः । "हृग्रहोर्भः" इति भत्वम् ❀ । किमर्थम् । अस्मै प्रसक्ताय प्रवर्तमानाय अरिष्टतातये अरिष्टकर्त्रे असुखकर्त्रे रोगाय द्वेष्याय वा । तत्परिहारायेत्यर्थः । यद्वा अस्मै व्याधिशान्तिकामाय तदर्थम् । तस्य अरिष्टनाशनायेति व्याख्येयम् । ❀ "शिवशमरिष्टस्य करे" इति तातिल् प्रत्ययः ❀ । यद्वा । ❀ अत्र स्वार्थिकस्तातिः ❀ । अरिष्टपरिहारायेत्यर्थः ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

इस गूगलकी गंधको सूँघने वालेके पाससे व्याधियें सब दिशाओंकी ओर मुख करती हुईं इस प्रकार भाग जाती हैं, जिस प्रकार शीघ्रतासे चलने वाले घोड़े और हिरन भाग जाते हैं ॥ २ ॥ गुग्गुलु नामक औषधि यदि सिंधु देशमें उत्पन्न हुई है, वा समुद्रसे उत्पन्न हुई है । हे गुग्गुलो ! ऐसी तुम दोनोंके नामको मैं ग्रहण करता हूँ—कीर्तन करता हूँ—इस उपस्थित रोग और द्वेष्यको दूर करनेके लिये आपके नामका कीर्तन करता हूँ ३

पञ्चम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५८२)

"एतु देवः" इति षष्ठं सूक्तम् । अस्य रात्रीकल्पे कुष्ठधूपप्रदाने विनियोगः पूर्वसूक्तसमय उक्तः ॥

"एतु देवः" यह छठा सूक्त है । इसका रात्रिकल्पमें कुष्ठधूपप्रदानके लिये पूर्वसूक्तके साथ ही विनियोग कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

ऐतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवंतस्परि ।

तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ १ ॥

आ । एतु । देवः । त्रायमाणः । कुष्ठः । हिमऽवतः । परि ।

तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥१॥

देवः दिवि भवः । द्युलोके उत्पत्तिर्वच्यते । वीर्यातिशयैर्द्योतमानो वा । कुष्ठः कुष्ठाख्यौषधिविशेषो हिमवतस्परि एतन्नामकात् पर्वतात् सकाशात् त्रायमाणः अस्मान् पालयमानः आ एतु आगच्छतु ॥ एवं परोक्षाभिधानेन आगमनम् आशास्य अभ्यागतम् अभिमुखीकृत्य आह । हे कुष्ठाख्यौषधिविशेष त्वं तक्मानम् क्लेशकारिणं रोगं सर्वम् योयो रोगविशेषस्तं सर्वं नाशय । किंचिद् औषधं कस्यचिद् रोगस्य नाशकम् अथ वा कतिपयानां नाशकं भवति । इदं तु सर्वरोगनाशकम् इति सर्वम् इत्युच्यते । किं च सर्वाश्च यातुधान्यः यातनो यातना धीयन्ते यासु ता यातुधान्यः ताः सर्वा नाशय । यावन्ति रक्षांसि सन्ति तानि सर्वाण्यपि नाशय ॥

परम वीर्यशाली होनेसे दमकता हुआ कूट हिमवान् नामक पर्वतसे हमारा पालन करता हुआ आगमन करे । हे कूट नामक औषधे ! तू जो २ क्लेशप्रद रोग हैं उन सबको नष्ट कर [तात्पर्य यह है, कि-एक औषधि किसी एक रोगकी नाशक होती है और यह तो सब रोगोंकी नाशक है, अतः "सबको नष्ट कर" कहा है] जितनी यातुधानियें तथा जितने राक्षस हैं उन सबको भी नष्ट कर ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः नद्यायं

पुरुषो रिषत् ।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ २ ॥

त्रीणि । ते । कुष्ठ । नामानि । नद्यऽमारः । नद्यऽरिषः ॥ नद्य ।

अयम् । पुरुषः । रिषत् ।

यस्मै । परिऽब्रवीमि । त्वा । सायम्ऽप्रातः । अथो इति । दिवा २

हे कुष्ठ ते त्रीणि नामानि अत्यन्तरहस्यानि । कानि तानीति तान्याह । नद्यमारः इति एकं नाम । नद्यां भवा नद्याः । नदीशब्देन नदीस्थानि उदकानि लक्ष्यन्ते । उदकदोषोद्भवा रोगा इत्यर्थः । यद्वा नद्या नदनीयाः शब्दनीयाः अत्यन्तदुष्परिहरत्वेन शब्द्यमाना इत्यर्थः। तान् मारयतीति नद्यमारः। तथा नद्यरिषः । उक्तो नद्यशब्दार्थः । तान् रिष्यतीति नद्यरिषः । इदं द्वितीयं नाम । केवलो नद्य इति तृतीयं नाम । नद्यानां मारकः स्वयमपि नद्य इत्युच्यते । तं संबोध्य ब्रूते । हे नद्य कुष्ठाख्यौषधे तव नामग्रहणाभावे अयं व्याधितः पुरुषो रिषत् हिंसितो भवेत् । अतः व्याधितरक्षक इति समुदितं नामेति मन्तव्यम् । एवं नामत्रयेण अभिधीयमान कुष्ठाख्यौषधे त्वा त्वां यस्मै रोगार्ताय पुरुषाय परिब्रवीमि मन्त्रत्वेन तव नामानि उच्चारयामि । कस्मिन् काल इत्युच्यते । सायंप्रातश्च उभयसंध्ययोः । अथो अपि च दिवा द्योतमाने । मध्याह्ने इत्यर्थः । औषधप्रयोगे उक्तकालत्रयस्य प्राशस्त्यात् । यद्वा दिवा कृत्स्नेप्यहनि उभयोः संध्ययोश्च ॥ उक्तमेवार्थं नामव्यपदेशेन आदरार्थं पुनराह नद्यायं पुरुषो रिषत् इति । यद्वा हे नद्य हे औषध यस्मै द्वेष्याय त्वां परि ब्रवीमि अयं द्वेष्यः पुरुषो रिषत् नश्यतु इति व्याख्येयम् ॥

हे कूट ! तेरे तीन नाम अत्यन्त रहस्य हैं । पहिला नद्यमार

[अर्थात् नदीके जलसे होने वाले दोषोंको मारने वाला, अथवा दुश्चिकित्स्य शब्दसे कहे जाने वाले रोगोंका मारक] दूसरा नद्य-रिष तीसरा नद्य । हे नद्य नामक कूट औषध ! तेरा नाम न लेने पर यह व्याधित पुरुष मर जाता । इस प्रकार तीन नामोंसे कही जाने वाली हे कूट औषधे ! मैं सायङ्काल और प्रातःकाल तथा दिनके समय जिस रोगार्त पुरुषके लिये मन्त्ररूपसे तेरे नामोंका उच्चारण करता हूँ वह पुरुष तेरा नाम उच्चारण न करनेसे मर जाता । अथवा-हे नद्य औषध ! मैं जिस द्वेष्यके लिये तेरा नाम ग्रहण करता हूँ वह पुरुष नष्ट होजावे ॥ २ ॥

॥ तृतीया ॥

जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता ।
नद्यायं पुरुषो रिषत् ।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ ३ ॥

जीवला । नाम । ते । माता । जीवन्तः । नाम । ते । पिता ॥
नद्य । अयम् । पुरुषः । रिषत् ।
यस्मै । परिऽब्रवीमि । त्वा । सायम्ऽप्रातः । अथो इति । दिवा ३

हे कुष्ठाख्यौषधे । ते तव माता जीवला नाम जीवयतीति जीवला । ❀ सत्वर्थीयो लः ❀ । जीवयित्रीत्यर्थः । एतन्नामिका । एवं ते तव पिता जनकोपि जीवन्तः जीवयतीतिः जीवन्तः । ❀ वसन्त इतिवत् ❀ । एतत्संज्ञकः । यतस्तव पितरौ रोगादिपरिहारेण जीवप्रदौ अतस्त्वमपि तादृङ्महिमोपेत इति भावः ॥ नद्यायं पुरुष इत्यादि पूर्ववत् ॥

हे कूट नामक औषधे ! तेरी माता जीवला (जीवित रखने वाली) नाम वाली है । और तेरा पिता जीवन्त नाम वाला है क्योंकि-तेरे माता पिता रोग आदिका परिहार करके जीवन प्रदान करने वाले हैं अतः तू भी तैसी ही महिमा वाला है । हे नद्य ! मैं जिस रोगीके लिये सायं प्रातः और दिनके समय मन्त्र-रूपसे तेरे नामोंका उच्चारण कर रहा हूँ, वह पुरुष तेरा नाम न लेनेसे मर जाता ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । नद्यायं पुरुषो रिषत् ।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा ॥ ४ ॥

उत्ऽतमः । असि । ओषधीनाम् । अनड्वान् । जगताम्ऽइव । व्याघ्रः । श्वपदाम्ऽइव ॥ नद्य । अयम् । पुरुषः । रिषत् । यस्मै । परिऽब्रवीमि । त्वा । सायम्ऽप्रातः । अथो इति । दिवा

हे कुष्ठ त्वम् ओषधीनाम् इतरासां व्याधिनिर्हन्त्रीणां मध्ये उत्तमः उत्कृष्टतमोसि । जन्मादिना उत्तमत्वम् उत्तरत्र वर्ण्यते । तत्र दृष्टान्तः । अनड्वान् अनोवहनसमर्थः अनड्वान् । स यथा जगताम् गच्छतां प्राणिनां मध्ये उत्तमः । सर्वप्राण्युपभोगसाधनत्वात् । स यथा अत्यन्तं लोकस्य उपकारकः एवं त्वमपीत्यर्थः । एवं शरीरपीडनेनापि उपकारकत्वेन उत्तमत्वम् अनडुद्दृष्टान्तेन अभिधाय अतिक्रूरवीर्यवत्त्वेनापि उत्तमत्वं व्याघ्रदृष्टान्तेन उपपादयति व्याघ्रः श्वपदामिवेति । व्यादाय हन्तीति व्याघ्रः श्वापदविशेषः । स च श्वपदाम् इतरेषां वृकादीनां मध्ये यथा क्रौर्येण उत्तमः एवं

त्वमपि वीर्येण उत्तम इत्यर्थः। नद्यायम् इत्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम्।

हे कूट! तू व्याधिको दूर करने वाली अन्य औषधियोंमें इस प्रकार उत्तम है। जैसे चलनेवाले प्राणियोंमें बोझेको ढ़ोने वाला बैल उत्तम होता है (क्योंकि—वह सब प्राणियोंके उपभोगका साधन होनेसे जैसे संसारका परमोपकारक है, इसी प्रकार तू भी परमोपकारक है, इस प्रकार शरीरपीड़नसे भी बैलके दृष्टान्तसे उपकारकत्वको दिखा कर अतिक्रूर वीर्य वाला होनेको भी व्याघ्रके दृष्टान्तसे दिखाते हैं) और जैसे श्वपदोंमें व्याघ्र उत्तम होता है। हे नद्य! यदि मैं मन्त्ररूपमें तेरे नामका उच्चारण नहीं करता तो जिसके लिये सायं प्रातः और दिनके समय तेरे नामका उच्चारण कर रहा हूँ वह पुरुष नहीं बचता ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि ।
त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः । साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ५ ॥

त्रिः । शाम्बुऽभ्यः । अङ्गिरेभ्यः । त्रिः । आदित्येभ्यः । परि ।
त्रिः । जातः । विश्वऽदेवेभ्यः ।
सः । कुष्ठः । विश्वऽभेषजः ॥ साकम् । सोमेन । तिष्ठति ।
तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥ ५ ॥

यः कुष्ठाख्यौषधिः अङ्गिरेभ्यः अङ्गिरसाम् अपत्यभूतेभ्यः शाम्बुभ्यः एतन्नामकेभ्यो महर्षिभ्यः त्रिर्जातः उत्पन्नः त्रयाणां

लोकानाम् उपकाराय त्रिरुत्पादितः। अथवा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्य-जातित्रयात्मना त्रिर्जातः। अङ्गिरसां भूमिस्थानत्वात् तेभ्यः सकाशात् पृथिव्यां त्रिर्जात इत्युच्यते। तथा आदित्येभ्यस्परि परीति पञ्चम्यर्थानुवादी। दिवि आदित्येभ्यस्त्रिर्जातः। त्रिर्जननप्रयोजनं पूर्ववद् द्रष्टव्यम्। एवं विश्वदेवेभ्यः मध्यस्थानेभ्यो देवगणेभ्यस्त्रिर्जातः। स तादृशः कुष्ठाख्यौषधिविशेषो विश्वभेषजः विश्वेषां सर्वेषां रोगाणां भैषज्यरूपः सर्वरोगशमनवीर्योपेतत्वात्। स पुरा कुत्र तिष्ठतीत्यत्राह साकं सोमेन तिष्ठतीति। सोमेन सह अवस्थानाभिधानं तत्समानवीर्यत्वद्योतनार्थम्॥ अथ प्रत्यक्षीकृत्य उच्यते तक्मानम् इति। सर्वम् नानाभेदभिन्नं तक्मानम् रोगं नाशय तथा सर्वाश्च यातुधान्यः यातुधानीर्नाशय॥

जो कूट नामक औषधि अंगिरागोत्री शाम्बु नामक महर्षियों के द्वारा तीनों लोकोंके उपकारके लिये, तीनवार लोकोपकारके लिये आविष्कृत की गई है स्वर्गमें आदित्योंसे तीन वार आविष्कृत हुई है। मध्यस्थानी विश्वेदेवाओंसे तीन वार आविष्कृत हुई है। ऐसी कुष्ठ (कूट) नामक औषधि सब रोगोंकी औषध रूप है, क्योंकि–इसमें सब रोगोंको शमन करनेकी शक्ति है। वह पहिले सोमके साथ रहती थी (अर्थात् उसके समान वीर्यशाली है) हे कूट ! तू जीवनको कष्टमय करने वाले सब रोगों का संहार कर और सब यातुधानियोंका संहार कर ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अ॒श्व॒त्थो दे॑व॒सद॑नस्तृ॒तीय॑स्या॒मि॒तो दि॒वि।

तत्रा॒मृत॑स्य॒ चक्ष॑णं॒ ततः॒ कुष्ठो॑ अजायत।

स कुष्ठो॑ वि॒श्वभे॑षजः सा॒कं सोमे॑न तिष्ठति।

तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ६ ॥

अश्वत्थः । देवऽसदनः । तृतीयस्याम् । इतः । दिवि ।

तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । ततः । कुष्ठः । अजायत ।

सः । कुष्ठः । विश्वऽभेषजः । साकम् । सोमेन । तिष्ठति ।

तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥ ६ ॥

इतः अस्माद्‌ भूलोकात् तृतीयस्यां दिवि तृतीये द्युलोके देवसदनः । देवाः सीदन्ति निवसन्ति अत्रेति देवसदनः । देवानाम् आवासस्थानभूतः अश्वत्थः यतोऽग्निरश्वात्मना तत्रावस्थितः अतोश्वत्थ इति नाम संपन्नम् अस्येत्यश्वत्थस्तिष्ठति । तत्र अश्वत्थे अमृतस्य अमरणधर्मकस्य सोमस्य चक्षणम् प्रकाशनं स्फुटीभावो विद्यते । अथ वा अश्वत्थशब्देन आदित्य उच्यते अमृतावस्थानश्रवणात् । "असौ वा आदित्यो देवमधु" इति श्रुतेः [छा० उ० ३. ६. २]। ततोऽश्वत्थात् कुष्ठाख्यौषधिरजायत उत्पन्नोऽभूत् ॥ स कुष्ठ इत्यादि पूर्ववद्‌ योज्यम् ॥

इस भूलोकसे तीसरे द्युलोकमें देवताओंका निवास है । वह अश्वत्थ है अर्थात् वहाँ अग्नि अश्वरूपमें स्थित है वहाँ अश्वत्थमें अमरणधर्मी सोमका प्रकाश (स्फुटत्व) है [अथवा अमृतावस्थानश्रवणके कारण अश्वत्थ शब्दसे आदित्यका ग्रहण किया जासकता है । छान्दोग्य उपनिषत् ३ । ६ । ३ में भी कहा है, कि—"असौ वा आदित्यो देवमधु" उस अश्वत्थसे कुष्ठ औषधि प्रादुर्भूत हुई है ।] वह कुष्ठ पहिले सोमके साथ रहता था । हे कूट ! तू जीवनको कष्टमय करने वाले सब रोगोंको और यातुधानियोंको नष्ट कर ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ७ ॥

हिरण्ययी । नौः । अचरत् । हिरण्यऽबन्धना । दिवि ।
तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । ततः । कुष्ठः । अजायत ।
सः । कुष्ठः । विश्वऽभेषजः । साकम् । सोमेन । तिष्ठति ।
तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥ ७ ॥

दिवि द्युलोके हिरण्ययी हिरण्यनिर्मिता तथा हिरण्यबन्धना हिरण्यमयैः शङ्कुपाशादिभिर्बद्धा नौः अचरत् सर्वदा चरति । अस्तु । ततः कुष्ठाख्यस्यौषधस्य किम् आयातम् इति तत्राह तत्राहमृतस्येति। अनेन अस्यापि अमृततत्त्वसाधनधर्मः सहैव उक्तो भवति॥

द्युलोकमें हिरण्यनिर्मित और हिरण्यमय खूँटे पाश आदिसे बँधी हुई नौका सदा विचरण करती है । [तो इससे कूटको क्या मिला तो कहते हैं, कि-] तहाँ अमृतका प्रकाश है तहाँ ही कूट हुआ है । वह कुष्ठ सब रोगोंकी औषध है । यह कूट पहिले सोमके साथ रहता था हे कूट! तू जीवनको कष्टप्रद सब रोगोंको और यातुधानियोंको नष्ट कर ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः ।

तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत ।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति ।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ८ ॥

यत्र । न । अवऽभ्रंशनम् । यत्र । हिमऽवतः । शिरः ।
तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । ततः । कुष्ठः । अजायत ।
सः । कुष्ठः । विश्वऽभेषजः । साकम् । सोमेन । तिष्ठति ।
तक्मानम् । सर्वम् । नाशय । सर्वाः । च । यातुऽधान्यः ॥८॥

यत्र द्युलोके नावभ्रंशनम् तत्रस्थानां सुकृतिनाम् अवाङ्मुखप्रभ्रंशो नास्ति। यत्र च हिमवतः एतन्नाम्नः पर्वतस्य शिरः। हिमवच्छिरःप्रदेश एव स्वर्गभूमिरिति प्रसिद्धिः । तत्रामृतस्येत्यादि पूर्ववत् ॥

जिस द्युलोकमें तहाँ पर स्थित पुण्यात्माओंका औंधे मुख हो कर गिरना (अवप्रभंशन) नहीं है और जहाँ हिमवान् पर्वतका शिर है । तहाँ अमृतका प्रकाश है तहाँसे कूट प्रकट हुआ है । यह कूट सब रोगोंकी औषधि है, क्योंकि-इसमें सब रोगोंको नष्ट करनेकी शक्ति है । यह पहिले सोमके साथ रहता था । हे कूट ! तू जीवनको कष्टमय बना देने वाले सब रोगोंका संहार कर और सकल यातुधानियोंको नष्ट कर ॥ ८ ॥

नवमी ॥

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः ।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥ ९ ॥

यम् । त्वा । वेद । पूर्वः । इक्ष्वाकः । यम् । वा । त्वा । कुष्ठ । काम्यः ।

यम् । वा । वसः । यम् । आत्स्यः । तेन । असि । विश्वऽभेषजः

हे कुष्ठाख्यौषधे यस्माद् यं प्रसिद्धं त्वा त्वां पूर्वः पुरातन इक्ष्वाकू राजा वेद सर्वव्याधिहन्तायम् इति ज्ञातवान् । यस्माद् यं वा यं च त्वा त्वाम् हे कुष्ठ काम्यः कामपुत्रो वेद सर्वौषधिरूप इति ज्ञातवान् । यस्माद् यं यमास्यः यमस्य अस्यमिव आस्यं यस्य स तादृशो वसः एतन्नामा देवो वेद । तेन कारणेन त्वं विश्वभेषजोसि विश्वव्याधिनिर्मोचको भवसि सकलभेषजात्मको वासि ॥

हे कूट नामक औषधे ! जिस तुझको पुरातन राजा इक्ष्वाकुने यह सब व्याधियोंको नष्ट करने वाली औषधि है यह जाना था और कामके पुत्रने भी जिस तुझको सर्वव्याधिनिवारक औषध रूपमें जाना था और यमकी समान मुखवाले वस देवताने जिस तुझको सर्वौषधि जाना था । इन कारणोंसे तू सकल व्याधियों को छुड़ाने वाली औषधि है ॥ ९ ॥

दशमी ॥

शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः ।

तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ १० ॥

शीर्षऽलोकम् । तृतीयकम् । सदम्ऽदिः । यः । च । हायनः ।

तक्मानम् । विश्वधाऽवीर्य । अधराञ्चम् । परा । सुव ॥ १० ॥

हे कुष्ठ तृतीयकम् भूलोकापेक्षया तृतीयं लोकं द्युसंज्ञकं तत्र शीर्षं शिर आहुः । द्युलोके प्रथमम् उत्पन्नत्वाद् भूमिष्ठस्यापि

तृतीयलोकपर्यन्तव्याप्तेश्च । यश्च हायनः कालस्तत्रावस्थानावलम्बनः । स कीदृशः सदन्दिः । सदम् इत्यव्ययं सदेत्यस्यार्थे । सदा रोगाणां खण्डयिता तादृङ्महिमोपेतस्त्वं विश्वधावीर्यम् विश्वतो व्याप्तसामर्थ्यं तक्मानम् रोगम् अधराञ्चम् अवागञ्चनं यथा भवति तथा परा सुव निकृष्टं प्रेरय । नाशयेत्यर्थः ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे कूट ! भूलोककी अपेक्षा तीसरा द्युलोक तेरा शिर है । (इसका कारण यह है, कि—द्युलोकमें पहिले उत्पन्न होनेसे और भूमि पर स्थिर होने पर भी तृतीयलोक पर्यन्त तेरी व्याप्ति है) और जो तेरी उत्पत्तिका काल है वह सदा रोगोंका खंडन करने वाला है । ऐसा तू चारों ओर छाई हुई शक्ति वाले जीवन को कष्टप्रद करने वाले रोगको भगादे ॥ १० ॥

पञ्चम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (१८३)

"यन्मे छिद्रम्" इति सप्तमं सूक्तम् । तस्य पवित्रनाशनिमित्तप्रायश्चित्ते आज्यहोमे विनियोगः । तद् उक्तं परिशिष्टे समुच्चयप्रायश्चित्तप्रकरणे ।

"अथ पवित्रे प्रणश्यति कर्ममध्यात् प्रमादतः ।
"अन्यं छित्त्वानुमन्त्रयेत कर्मशेषम् उपक्रमेत् ।

❀ ❀ ❀ यन्मे छिद्रम् १६. ४०, १ पुनर्मैत्विन्द्रियम् ७. ६६ मा न आपो मेधाम् १६.४०.२ मा नो मेधाम् १६.४०.३ मा नः पीपरिदश्विना १६. ४०. ४ इति संनतिभिराज्यं जुहुयाद् व्याहृतिभिश्च गां च कर्त्रे दद्यात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः" इति । प० ३७.४ ॥

तथा उपयामस्य हस्तात् पतने आज्यहोमे अस्य विनियोगः । तद् उक्तम् "अथ यस्योपयामो वा पतेद्धस्तात् स यन्मे उपयाम इत्यादधीत" इत्युपक्रम्य परिशिष्टे । "यन्मे छिद्रम् १६. ४० यदस्मृति ७. १११ इति जुहुयात्" इति । प० ३७. १४] ॥

"यन्मे छिद्रम्" यह सप्तम सूक्त है। इसका पवित्रेके नाशके कारण किये जाने वाले घृतहोममें विनियोग होता है। इसी बातको अथर्व-परिशिष्टके समुच्चयप्रायश्चित्तप्रकरणमें कहा है, कि-"अथ पवित्रे प्रणश्यति कर्ममध्यात् प्रमादतः। अन्यं छित्त्वानुमन्त्रयेत कर्मशेष-मुपक्रमेत् ॥-प्रमादवश मध्यमें पवित्रा नष्ट होजाय तो दूसरेको काट कर अनुमन्त्रण करे और शेष कर्मका आरम्भ करे।"' यन्मे छिद्रम् (१९ । ४० । १) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७ । ६९) मा न आपो मेधाम् (१९ । ४० । २) मा नो मेधाम् (१९ । ४० । ३) मा नः पीपरिदश्विना (१९ । ४० । ४) इति संततिभिराज्यं जुहुयात् व्याहृतिभिश्च गां च कर्त्रे दद्यात् सा तत्र प्रायश्चित्तिः"॥ (अथर्वपरिशिष्ट ३७ । ४) ॥

तथा उपयामके हाथसे पतन होने पर इसका आज्यहोममें विनियोग होता है। अथर्वपरिशिष्टमें "अथ यस्योपयामो वा पतेद् हस्ताद् स यन्मे उपयाम इत्यादधीत।" का आरम्भ करके कहा है, कि-"यन्मे छिद्रम् (१९ । ४०) यदस्मृति (७ । ११) इति जुहुयात्" (अथर्वपरिशिष्ट ३७ । १४) ॥

तत्र प्रथमा ॥

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम।
विश्वैस्तद् देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः १

यत् । मे । छिद्रम् । मनसः । यत् । च । वाचः । सरस्वती । मन्युऽमन्तम् । जगाम ।

विश्वैः । तत् । देवैः । सह । सम्ऽविदानः । सम् । दधातु । बृहस्पतिः ॥ १ ॥

मे मम मनसः यज्ञदानध्यानादिलक्षणस्य मनोव्यापारस्य यच्छिद्रम् यश्छेदोस्ति तथा वाचः मन्त्रादिविषयाया यच्छिद्रम् अस्ति। तत् सं दधात्विति उत्तरत्र संबन्धः। या च मम सरस्वती सरणवती वाग् मन्युमन्तम् अस्मद्विषयक्रोधोपेतं द्वेष्यं जगाम आगच्छद् इति यत्। यद्वा मन्युमन्तम् मन्युः क्रोधो मानसिको धर्मः तद्वन्तम्। मां विहायेति शेषः। अन्यत्र जगाम गतेति। तस्माद् मनसो वाचश्च च्छिद्रम् अवश्यं संधातव्यम् इत्यर्थः। तत् उक्तलक्षणं सर्वं छिद्रं बृहस्पतिः बृहतो मन्त्रसमूहस्य वेदस्य पतिः पालयिता अभिमानी एतन्नामको देवः विश्वैः इतरैरिन्द्राद्यैर्देवैः सह संविदानः ऐकमत्यं प्राप्तः सन् सं दधातु संधानं करोतु ॥ केवलं बृहस्पतिना छिद्रसंधाने क्रियमाणे इतरेषां देवानाम् अनानुकूल्ये सति संधानस्य अघटनात् तैः सहितस्य ऐकमत्यम् आशास्यते ॥

यज्ञ ध्यान दान आदिमें जो मेरे मनोव्यापारमें त्रुटि रह गई है और जो मेरी मन्त्रविषया वाणीमें त्रुटि रह गई है। उसको, जो मेरी सरणवती वाग्देवता सरस्वती क्रोध भरे शत्रु पर गिर रही है वह, पूर्ण करें। और बृहस्पतिदेव भी सब देवताओंसे एकमत होकर उसको पूर्ण करें–पुष्ट करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्र मथिष्टन ।

सुष्यदा यूयं स्यन्दध्वमुपहूतोहं सुमेधा वर्चस्वी ॥ २ ॥

मा । नः । आपः । मेधाम् । मा । ब्रह्म । प्र । मथिष्टन ।

सुऽस्यदाः । यूयम् । स्यन्दध्वम् । उपऽहूतः । अहम् । सुऽमेधाः । वर्चस्वी ॥ २ ॥

हे आपो देवताः यूयं नः अस्माकं मेधाम्। अधीतस्य वेदादेर्धारयित्री बुद्धिर्मेधा। तां मा प्र मथिष्ट प्रमथनं भ्रंशं मा कुरुत। तथा नः ब्रह्म। ब्रह्म वेदः। अधीतं वेदं मा प्र मथिष्ट। किं च मम संबन्धि यद्यत् कर्म शुष्यत् शोषं प्राप्नोति तत्तद् अभिलक्ष्य यूयम् आ स्यन्दध्वम् सर्वतः प्रवहत। आर्द्रं कुरुतेत्यर्थः। उपहूतः युष्माभिरनुज्ञातः अनुगृहीतः अहं सुमेधा भूयासम् इति शेषः। मेधां मा प्र मथिष्टेति प्रार्थितत्वात् सुमेधाः। भूयासम् इति आशास्यते। ब्रह्मणो वेदस्य प्रमथनाभावस्यापि प्रार्थनाद् वर्चस्वी ब्राह्मेण वर्चसा युक्तो भूयासम् इति प्रार्थ्यते॥

हे जलदेवताओं! तुम पढ़े हुए वेद आदिको धारण करनेकी बुद्धि हमारी मेधाको भ्रष्ट न करो, तथा पढ़ा हुआ वेद भी हमसे भ्रष्ट न होवे। मेरा जो कुछ कर्म शोषको (क्षीणताको) प्राप्त होता है उस सबकी ओर लक्ष्य देकर तुम उसको आर्द्र करो। तुमसे अनुज्ञा पाया हुआ मैं सुन्दर मेधा वाला होऊँ, "मैं बुद्धि से भ्रष्ट न होऊँ" इससे सुमेधा होनेकी प्रार्थना की है और वेद के अमथनभावकी प्रार्थनासे यह प्रार्थना की, कि–मैं ब्राह्मवर्चसे युक्त होऊँ ॥ २ ॥

तृतीया ॥

मा नो॑ मे॒धां मा नो॑ दी॒क्षां मा नो॑ हिंसिष्टं॒ यत् तपः॑।
शि॒वा नः॒ शं स॒न्त्वायु॑षे शि॒वा भ॑वन्तु मा॒तरः॑ ॥३॥

मा। नः॒। मे॒धाम्। मा। नः॒। दी॒क्षाम्। मा। नः॒। हिं॒सि॒ष्ट॒म्। यत्। तपः॑।

शि॒वाः। नः॒। शम्। स॒न्तु। आयु॑षे। शि॒वाः। भ॒व॒न्तु। मा॒तरः॑ ३

अत्र हिंसिष्टम् इति द्विवचनाद् द्यावापृथिव्यौ संबोध्ये। उत्त-

रमन्त्रेपि अश्विनोः संबुद्धिः तयोश्च द्यावापृथिव्यात्मकता मता। हे द्यावापृथिव्यौ नो मेधाम् अधीतधारणबुद्धिं मा हिंसिष्टम् मा नाशयतम्। तथा नो दीक्षाम् नवनीताभ्यङ्गमुष्टीकरणवाग्यमन-दण्डमेखलादिधारणसाध्यां च मा हिंसिष्टम्। एवं नः अस्माकं यत् तपः पयोव्रतादिरूपं क्लेशसहनात्मकं तपोस्ति तद् मा हिंसि-ष्टम्। तथा आपो देव्यः शिवाः मङ्गलाः सुखकारिण्यः सत्यः नः अस्माकम् आयुषे आयुरभिवृद्धये शंसन्तु साधीयान् अयम् इति स्तुवन्तु। तथा मातरः मातृवद्धितकारिण्यो जगन्निर्मात्र्यो वा आपः शिवा भवन्तु॥

हे द्यावापृथिवी! तुम हमारी पढ़े हुएको धारण करनेकी बुद्धि मेधाको नष्ट न करो,। तथा नवनीताभ्यङ्ग, मुष्टिकरण, वाग्यमन दण्डमेखलादि धारणात्मक–दीक्षाको नष्ट न करो, इसी प्रकार हमारा पयोव्रत आदि जो क्लेश सहना रूप तप है उसको नष्ट न करो। तथा जलदेवता सुखकारिणी होती हुई हमारी आयुर्वृद्धि के लिये "यह अच्छा है" इस प्रकार प्रशंसा करें और माताकी समान जगत्का निर्माण करने वाले जल कल्याणप्रद होवें॥३॥

चतुर्थी॥

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः।
तामस्मे रासतामिषम्॥ ४॥

या। नः। पीपरत्। अश्विना। ज्योतिष्मती। तमः। तिरः।
ताम्। अस्मे। रासताम्। इषम्॥ ४॥

हे अश्विना अश्विनौ नः अस्मान् तमः सर्वस्यावरकं सर्वव्य-वहारप्रतिबन्धकोऽन्धकारः मा पीपरत् पारं मा गमयतु। किं तु ज्योतिष्मती सकलव्यवहारानुकूलप्रकाशोपेता रात्रिः तमः तिरस्क-

रोतु। ताम् तादृशीम् इषम् सर्वैरिष्यमाणां ताम् उक्तलक्षणां रात्रिम् अस्मे अस्माकं रासाथाम् प्रयच्छतम्। यद्वा इट्शब्देन सर्वैरिष्यमाणम् अन्नम् अभिधीयते। सैव ज्योतिष्मती प्रकाशवती अन्नवतो लोके प्रकाशदर्शनात्। यद्वा तमो नाम दारिद्र्यम्। तिरः सर्वस्य तिरोधायकम्। तमः मा पीपरत् ज्योतिष्मत्येव इट् पीपरत्। तां तादृशीम् इषं रासाथाम् इति व्याख्येयम्। शाखान्तरे तु "या नः पीपरत्" इति आम्नायते [ऋ० १. ४६. ६]॥

इति पञ्चमेनुवाके सप्तमं सूक्तम्॥

हे अश्विनीकुमारों! सब व्यवहारोंमें रुकावटें डालने वाला अन्धकार हमको प्राप्त न हो। तथा सब व्यवहारोंके अनुकूल प्रकाशसे सम्पन्न रात्रि अन्धकारका तिरस्कार करे ऐसी सबकी चाही हुई रात्रिको हमें प्रदान करिये॥ ४॥

पञ्चम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५८४)

"भद्रमिच्छन्तः" इत्येतद् अष्टमं सूक्तम् एकर्चम्। तत्पाठस्तु

"भद्रमिच्छन्तः" यह आठवाँ सूक्त ऋचा वाला है। इसका पाठ इस प्रकार है, कि—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु १

भद्रम्। इच्छन्तः। ऋषयः। स्वःऽविदः। तपः। दीक्षाम्। उपऽनिसेदुः। अग्रे।

ततः। राष्ट्रम्। बलम्। ओजः। च। जातम्। तत्। अस्मै। देवाः। उपऽसंनमन्तु॥ १॥

अग्रे सृष्ट्यादौ पूर्वम् ऋषयः अतीन्द्रियार्थद्रष्टारः । ❀ ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यव इति निरुक्तम् [नि० २, ११] ❀ । ते भद्रम् कल्याणं क्षेमम् इच्छन्तः स्वर्विदः स्वर्गं लभमानाः तत्साधनत्वेन तपः पयोव्रतादिलक्षणं दीक्षाम् नवनीताभ्यङ्गमुष्टीकरणवाग्यमनदण्डमेखलादिधारणसाध्यां च उपनिषेदुः प्राप्ताः । ततः तत्सामर्थ्याद् राष्ट्रम् राज्यं बलम् सामर्थ्यम् ओजश्च जातम् निष्पन्नम् । तत् राष्ट्रादिकं देवा अस्मै पुरुषाय उपसंनमन्तु संयोजयन्तु ॥

इति पञ्चमेऽनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

सृष्टिकी आरम्भमें पहिले अतीन्द्रियार्थद्रष्टा ऋषियोंने कल्याण कामनासे स्वर्गको प्राप्त किया था और उसके साधनके रूपमें पयोव्रतादिरूप दीक्षाको, नवनीताभ्यङ्ग मुष्टीकरण वाग्यमन दण्डमेखलाधारण आदिसे साध्य दीक्षाको भी किया था । उसी शक्तिसे राज्य शक्ति और ओज निष्पन्न हुआ है । उस राष्ट्र आदिको देवता इस पुरुषमें संयुक्त करें ॥ १ ॥

पञ्चम अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (५८५)

"ब्रह्म होता" इति नवमं सूक्तम् ॥

"ब्रह्म होता" यह नवम सूक्त है ।

तत्र प्रथमा ॥

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः ।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोन्तर्हितं हविः ॥ १ ॥

ब्रह्म । होता । ब्रह्म । यज्ञाः । ब्रह्मणा । स्वरवः । मिताः ।
अध्वर्युः । ब्रह्मणः । जातः । ब्रह्मणः । अन्तःऽहितम् । हविः १

ब्रह्म जगदुपादानकारणं तत्त्वम् । तदेव यज्ञाङ्गभूतहौत्रकर्तृत्वो-

पाधिना होता इत्युच्यते । कृत्स्नस्य कार्यकारणप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वात् "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" [मु० २. २. ११] "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति [तै० आ० ८. ६] स्वसृष्टसकलपदार्थानुप्रवेशश्रुतेश्च । "त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमार उत वा कुमारी" इति [श्वे० ४. ३] श्रुतेर्ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य कस्यचिद्भावाद् ब्रह्मणो होत्रादिरूपत्वम् । तथा यज्ञाः ज्योतिष्टोमादयोपि ब्रह्मैव । "तस्माद् ऋचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च" इति मुण्डकश्रुतेः [मु० २. १. ६] ब्रह्मैव यज्ञा इत्युच्यन्ते । एवं ब्रह्मणैव स्वरगामिता स्वराणां क्रुष्टादीनां सप्तानाम् उदात्तादीनां च चतुर्णां गामिता यज्ञानुप्रवेष्टृता । उद्गातृत्वादिभाव इत्यर्थः । यद्वा स्वर्गं गन्तृता ज्योतिष्टोमाद्यनुष्ठातृभ्य इति शेषः । अध्वर्युरपि ब्रह्मण एव जातः उत्पन्नः । प्रागुक्तरीत्या ब्रह्मणः सकाशाद् उत्पत्तिरवगन्तव्या । तथा हविः यज्ञसाधनभूतं चरुपुरोडाशाज्यसोमादिलक्षणं ब्रह्मणि अन्तर्हितम् इन्द्राद्युद्देशेन दत्तमपि ब्रह्मण्येवावतिष्ठते । "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः" इत्यादिस्मृतेः [भ० गी० ४. २४] । "ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो ब्रह्म वाचः । ब्रह्म यज्ञानां हविषाम् आज्यस्य [तै०ब्रा० ७.३.११.१] मन्त्रवर्णाद् ब्रह्मणि हविषाम् अवस्थानम् ॥ अथ वा अत्र ब्रह्मशब्देन "अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं वृणीत" इति [गो० ब्रा० २, २४] श्रुतेः ब्रह्माख्य ऋत्विग् वाभिमतः । तस्य सर्वानुज्ञातृत्वात् होत्रादिरूपत्वेन स्तुतिः ॥

[तत्त्व यह है, कि—ब्रह्म ही जगत्का उपादान कारण है । वही यज्ञकी अंगभूत हौत्रकर्तृत्व उपाधिसे 'होता' शब्दसे कहा जाता है । क्योंकि—"ब्रह्मैवेदं सर्वम्—यह सब ब्रह्मस्वरूप है" इस मुण्डकोपनिषत्की श्रुतिसे सारे कार्यकारणप्रपञ्चका ब्रह्मात्मकत्व है । और "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । वह इस जगत्प्रपञ्चको

रच कर उसमें ही प्रवेश कर गया" इस तैत्तिरीयारण्यक ८ । ६ की श्रुतिके प्रमाणसे ब्रह्मका अपने रचे हुए सकल पदार्थोंमें अनुप्रवेश सिद्ध है ॥ तथा "त्वं स्त्री त्वं पुमान् असि त्वं कुमार उत वा कुमारी" इस श्वेताश्वतरोपनिषत्की ४ । ३ की श्रुतिके अनुसार ब्रह्मसे भिन्न किसी पदार्थके न होनेसे ब्रह्मका होता आदि रूपत्व है, अत एव] ब्रह्म ही होता है और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ भी ब्रह्म ही है [क्योंकि-मुण्डकोपनिषत् २ । १ । ६ की श्रुति "तस्माद्दृ ऋचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च" के अनुसार ब्रह्म ही यज्ञ है कहा है] इसी प्रकार ब्रह्मके द्वारा ही क्रुद्ध आदि सातों स्वरोंकी और उदात्त आदि चारोंकी यज्ञानुप्रवेष्टता अर्थात् उद्गातृत्व आदि है । अध्वर्यु भी पूर्वोक्त रीतिके अनुसार ब्रह्मसे ही प्रकट हुआ है । और यज्ञकी साधनभूत चरु पुरोडाश आज्य सोम आदिक हवि ब्रह्ममें ही अन्तर्हित हैं [अर्थात् इन्द्र आदिके उद्देश्यसे दी हुई हवि ब्रह्ममें ही अवस्थित होती है । इस विषयमें भगवद्गीता ४ । २४ प्रमाण है, कि-"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः०" तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण ३ । ७ । ११ । १ की श्रुति "ब्रह्म प्रतिष्ठा मनसो ब्रह्म वाचः । ब्रह्म यज्ञानां हविषां आज्यस्य" से भी ब्रह्ममें हवियोंकी स्थिति सिद्ध है ॥ अथवा-"अथर्वाङ्गिरोविदं ब्रह्माणं वृणीत" इस गोपथब्राह्मण २ । २४ की श्रुति के अनुसार ब्रह्मा नामक ऋत्विज् ग्रहण किया जा सकता है । उसकी सर्वानुज्ञातृत्वसे होता आदिके रूपमें स्तुति है] ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता ।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः । शमिताय स्वाहा ॥ २ ॥

ब्रह्म । स्रुचः । घृतऽवतीः । ब्रह्मणा । वेदिः । उत्ऽहिता ।

ब्रह्म । यज्ञस्य । तत्त्वम् । च । ऋत्विजः । ये । हविःऽकृतः ॥

शमिताय । स्वाहा ॥ २ ॥

स्रुचः होमसाधनभूता जुहूपभृदादयोपि ब्रह्म । ताश्च घृतवतीः घृतवत्यो होमार्थेन घृतेन पूर्णाः । ब्रह्मणैव वेदिः हविरासादनसाधना ब्रह्मणैव उद्धृता उद्धननखनननिर्माणैः संपादिता । यज्ञस्य ज्योतिष्टोमाद्यात्मकस्य यागस्य तत्त्वम् पारमार्थिकं रूपं च ब्रह्मैव । अत्र तत्त्वं चेति विशेषितत्वाद् अत्रोक्तानां होत्रादीनां परमार्थिकं रूपं ब्रह्मैव तत्रैव परिकल्पितत्वात् कृत्स्नप्रपञ्चस्य । यथा मृदुपादानभूताः शरावादयो मृदेव एवं ब्रह्मोपादानभूतास्तत्त्वतो ब्रह्मैवेत्यभिप्रायः । ये च हविष्कृतः हविष्कर्तार ऋत्विजः उक्तव्यतिरिक्ताः प्रतिप्रस्थात्राद्याः तेपि ब्रह्मैव ॥

संमिताय उक्तप्रकारेण होत्राद्यात्मना संमिताय । अभेदम् आपन्नाय ब्रह्मण इत्यर्थः । तस्मै स्वाहा स्वाहुतम् अस्तु । अथ वा अयम् उक्तब्रह्महोतेत्यादिमन्त्रद्वयशेषो द्रष्टव्यः ॥

होमके घृतसे पूर्ण होमकी साधन जुहू उपभृत् आदि स्रुच् भी ब्रह्म ही हैं। और हविकी स्थितिकी स्थल वेदि भी उद्धनन खनन निर्माणके द्वारा ब्रह्मकी ही बनाई हुई है। ज्योतिष्टोम आदि रूप यज्ञका पारमार्थिक रूप भी ब्रह्म ही है । और सकल प्रपञ्चके ब्रह्ममें ही कल्पित होनेसे यहाँ पर कहे हुए होता आदिका पारमार्थिक रूप ब्रह्म ही है। तात्पर्य यह है, कि—जैसे मृदुपादानभूत सकोरे आदि मट्टी ही हैं, इसी प्रकार ब्रह्मोपादानभूत भी परमार्थतः ब्रह्म ही हैं। इनके अतिरिक्त जो प्रतिप्रस्थाता आदि हविष्कर्ता ऋत्विज हैं वे भी ब्रह्म ही हैं।

इस प्रकार होता आदि रूपसे अभेदको प्राप्त हुए ब्रह्मके लिये यह आहुति स्वाहुत हो—स्वाहा ॥ २ ॥

तृतीया ॥

अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राव्णे सुमतिमावृणानः ।
इममिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः ॥ ३ ॥

अंहःऽमुचे । प्र । भरे । मनीषाम् । आ । सुऽत्राव्णे । सुऽमतिम् । आऽवृणानः ।
इमम् । इन्द्र । प्रति । हव्यम् । गृभाय । सत्याः । सन्तु । यजमानस्य । कामाः ॥ ३ ॥

अहम् अंहोमुचे अंहसां पापानां मोचयित्रे सुत्राव्णे सुतरां त्रात्रे इन्द्राय । प्र भर इति संबन्धः । सुमतिम् शोभनां स्तुतिं मयि शोभनमतिं वा इन्द्रस्य गृणानः उच्चारयन् कुर्वन् अहं मनीषाम् मनस ईशित्रीं स्तुतिं प्र भरे संपादयामि । हे इन्द्र त्वम् इमम् इदम् इदानीं हव्या हव्यानि प्रति गृभाय स्वीकुरु । यजमानस्य कामाः आयुरादिविषया सत्याः अवितथाः सन्तु भवन्तु ॥

मैं पापोंसे मुक्त करने वाले, परमरक्षक इन्द्रके लिए (स्तुति का) सम्पादन करता हूँ । मैं इन्द्रके शोभन स्तोत्रका उच्चारण करता हुआ मैं बुद्धि भरी स्तुतिका उच्चारण करता हूँ हे इन्द्र ! आप इस हविको स्वीकार करिये । यजमानकी आयु आदिकी अभिलाषाएँ सत्य हों ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्

अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः ॥ ४ ॥

अंहःऽमुचम् । वृषभम् । यज्ञियानाम् । विऽराजन्तम् । प्रथमम् । अध्वराणाम् ।

अपाम् । नपातम् । अश्विना । हुवे । धियः । इन्द्रियेण । ते । इन्द्रियम् । दत्तम् । ओजः ॥ ४ ॥

यज्ञियानाम् यज्ञार्हाणां देवानां मध्ये वृषभम् श्रेष्ठम् । सर्वेषां देवानां स्वामित्वाद् यज्ञेषु इन्द्रेण विना सोमादिहविःसंबन्धाभावाच्च यज्ञियेषु वृषभत्वम् । "अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे" [तै० सं० ४. ७. ६. १] इत्यादिषु सर्वत्र इन्द्रस्य प्रतिदेवतम् अनुप्रवेशाद् "यत् सर्वेषाम् अर्धम् इन्द्रः प्रति तस्माद् इन्द्रो देवतानां भूयिष्ठभाक्तमः" इति श्रुतेः [तै० सं० ५. ४. ८. ३] "माध्यन्दिनं सवनं केवलं ते" [ऋ० ४. ३५. ७] इति मन्त्रवर्णाच्च इन्द्रस्य यज्ञियेषु सर्वत्रानुगतेर्वृषभत्वम् । अत एव अध्वराणाम् यज्ञानां मध्ये विराजन्तम् विशेषेण दीप्यमानं प्रथमम् मुख्यम् । अथ वा अध्वराणां प्रथमम् आदिभूतम् । तेषाम् इन्द्रार्थत्वात् । एवं महानुभावम् इन्द्रं हुवे इति संबन्धः । अपि च अपां नपातम् उदकानां न पातयितारं स्रष्टारम् । अग्नौ हुतया आहुत्या वृष्ट्युत्पत्तेः "अग्नेरापः" इति श्रुतेश्च [तै०आ० ८.१]। अथ वा अपां नप्तारम् अद्भ्य ओषधयः [ओषधीभ्योग्निर्जायत इति प्रसिद्धम् । अग्निं तथा अश्विना अश्विनौ हुवे आह्वयामि । तावश्विनौ इन्द्रियेण इन्द्रसामर्थ्येन ते तव] धियम् प्रकृष्टां बुद्धिम्

इन्द्रियम् दर्शनश्रवणादिसामर्थ्यम् ओजः बलं च धत्ताम् धारयतां प्रयच्छताम् ॥

इति पञ्चमेनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

यज्ञ भाग पाने वाले देवताओंमें वृषभ अर्थात् श्रेष्ठ [सब देवताओंके स्वामी होनेसे इन्द्रके विना यज्ञोंमें सोम आदि हविके सम्बन्धका अभाव होता है अत एव यज्ञिय देवताओंमें इन्द्रको वृषभ कहा है "अग्निश्च म इन्द्रश्च मे सोमश्च म इन्द्रश्च मे । तैत्तिरीयसंहिता ४ । ७ । ६ । १ । इत्यादिमें सर्वत्र इन्द्रका प्रतिदेवतामें अनुप्रवेश होनेसे इन्द्रका वृषभत्व सिद्ध है । "यत् सर्वेषां अर्धं इन्द्रः प्रति तस्माद् इन्द्रो देवतानां भूयिष्ठभाक्तमः ।— क्योंकि–सबका अर्धभाग इन्द्रका होता है अतः देवताओंमें इन्द्र अधिक भाग पाने वाले हैं । तैत्तिरीयसंहिता ५ । ४ । ८ । ३ ॥ और "मध्यंदिनं सवनं केवलं ते" ऋग्वेदसंहिता ४ । ३५ । ७ इत्यादि मन्त्रोंके वर्णसे इन्द्रकी यज्ञियोंमें सर्वत्र अनुगति होनेसे वृषभत्व है ।] अत एव यज्ञोंमें विशेषरूपसे दिपते हुए, यज्ञोंकी आदिभूत इन्द्रका मैं आह्वान करता हूँ । और (अग्निमें दी हुई आहुतिसे वृष्टिकी उत्पत्ति होती है श्रुतिमें भी कहा है, कि–"अग्नेरापः–अग्निसे जल प्रकट होते हैं" तैत्तिरीय आरण्यक ८ । १ ॥ अत एव जलोंका पतन न होने देने वाले अर्थात् जलोंके स्रष्टा) अग्निका वा जलोंसे औषधियें प्रकट होती हैं और औषधियोंसे अग्नि प्रकट होते हैं इस प्रसिद्धिके अनुसार जलोंके पोते अग्निका) तथा दोनों अश्विनीकुमारोंका मैं आह्वान करता हूँ । वे दोनों अश्विनीकुमार इन्द्रकी शक्तिसे तुझको दर्शन–श्रवणशक्तिरूप इन्द्रियोंको और बलको भी प्रदान करें ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (५८६)

"यत्र ब्रह्मविदः" इति दशमं सूक्तम् ॥

"यत्र ब्रह्मविदः" यह दशम सूक्त है।

तत्र प्रथमा ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधा दधातु मे। अग्नये स्वाहा

यत्र। ब्रह्मऽविदः। यान्ति। दीक्षया। तपसा। सह।
अग्निः। मा। तत्र। नयतु। अग्निः। मेधाः। दधातु। मे ॥
अग्नये। स्वाहा ॥ १ ॥

यत्र यस्मिन् स्थाने सुकृतफलभोगाश्रये ब्रह्मविदः सगुणब्रह्मस्वरूपं जानन्तः। अथ वा ब्रह्म परिदृढं कर्म तद्विदः तद्विषयज्ञानवन्तो महान्तो दीक्षया दण्डकृष्णाजिनमेखलादिधारणात्मिकया। "दण्डेन दीक्षयति"। "मेखलया दीक्षयति" [तै० सं० ६. १. ३. ५] "कृष्णाजिनेन दीक्षयति" [तै० सं० ६, १. ३. २] इत्यादिश्रुतेः। तपसा सह पयोव्रतादिनियमजन्येन सह यान्ति गच्छन्ति। उपलक्षणम् एतत्। दीक्षातपआदिधर्मोपेतेन अग्निष्टोमादिकर्मणेत्यर्थः। तत्र तत् स्थानम् अग्निर्देवः मा नयतु प्रापयतु गमयतु। तदर्थम् अग्निर्देव एव मे मह्यं मेधाः तद्विषयप्रज्ञा दधातु प्रयच्छतु ॥ अग्नये स्वाहा य एवं स्वर्गं गमयति यश्च मेधाम् प्रयच्छति तस्मा अग्नये स्वाहा इदं हविः स्वाहुतम् अस्तु ॥

पुण्यफलभोगके आश्रयरूप जिस स्थानमें सगुण ब्रह्मके स्वरूप को जानने वाले (अथवा) दृढ़ कर्मके ज्ञान वाले पुरुष ("दण्डेन दीक्षयति, मेखलया दीक्षयति, तैत्तिरीयसंहिता ६। १। ३५ ॥ कृष्णाजिनेन दीक्षयति, तैत्तिरीयसंहिता ६। १। ३। २ इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार) दीक्षाके द्वारा और पयोव्रत आदि नियमों से जन्य और अग्निष्टोमसे जन्य तपके द्वारा जाते हैं, उस स्थानमें

अग्निदेव मुझको लेजावें । इस लिये अग्निदेव मुझको तैसी बुद्धि प्रदान करें । जो इस प्रकार स्वर्गको प्राप्त कराते हैं और बुद्धि प्रदान करते हैं,उन अग्निके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥१॥

द्वितीया ॥

यत्रं ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
वायुर्मा तत्रं नयतु वायुः प्राणान् दधातु मे । वायवे स्वाहां ॥ २ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।
वायुः । मा । तत्रं । नयतु । वायुः । प्राणान् । दधातु । मे ॥
वायवे । स्वाहा ॥ २ ॥

पूर्वार्धर्चः पूर्ववद् व्याख्येयः । तृतीयपादे अग्निरित्यस्य स्थाने वायुरिति विशेषः । तादृशो वायुः मे मम प्राणान् दधातु मयि स्थापयतु । अत्र प्राणान् इति बहुवचनेन प्राणापानादयः पञ्च प्राणा ग्राह्याः । वायोः प्राणानां च बाह्याभ्यन्तरभेदमात्रेण भेदात् "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" [ऐ० आ० २. ४. २] इति श्रुतेः वायोः प्राणस्थापनप्रार्थना युक्ता॥वायवे स्वाहेति स्पष्टम्॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष, वा कर्मका ज्ञान रखने वाले पुरुष दीक्षा और पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपसे जिस स्थानमें प्राप्त होते हैं, वायुदेव उस स्थानमें मुझको लेजावें। ऐसे वायुदेव मेरे प्राण अपान आदि पाँचों प्राणोंको मुझमें स्थापित करें [वायु और प्राणोंकी बाह्य और आभ्यन्तरिक भेद मात्रसे विभिन्नता है और "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् ।–वायु प्राण बन कर नासिकामें प्रवेश कर गया, इस श्रुति

के अनुसार भी वायुसे प्राणस्थापनकी प्रार्थना की है]ऐसे स्वर्ग-प्रापक और प्राणस्थापक वायुके लिये यह आहुति स्वाहुत होर

तृतीया ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे । सूर्याय स्वाहा ॥ ३ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।
सूर्यः । मा । तत्र । नयतु । चक्षुः । सूर्यः । दधातु । मे ॥ सूर्याय । स्वाहा ॥ ३ ॥

"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" [ऐ० आ० २, ४. २] इति श्रुतेः सूर्यस्य चक्षुरानुकूल्यं युक्तम् ॥ गतम् अन्यत् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष, वा कर्मका ज्ञान रखने वाले पुरुष दीक्षा और पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपसे जिस स्थानको पाते हैं, सूर्यदेव उस स्थानको मुझे प्राप्त करावें और सूर्यदेव मुझको चक्षुः प्रदान करें । ऐसे स्वर्गप्रापक और चक्षुः-प्रद सूर्यदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ["आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत् ।—आदित्यने चक्षु बन कर नेत्रोंमें प्रवेश किया,' इस श्रुतिके अनुसार आदित्यका चक्षुरानुकूल्य ठीक ही है]

चतुर्थी ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
चन्द्रो मा तत्र नयतु मनश्चन्द्रो दधातु मे । चन्द्राय स्वाहा ॥ ४ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।

चन्द्रः । मा । तत्र । नयतु । मनः । चन्द्रः । दधातु । मे ॥ चन्द्राय ।

स्वाहा ॥ ४ ॥

चन्द्रः प्रसिद्धः । तस्य मनआह्लादकत्वाद् मनस आनुकूल्यं युक्तम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले महात्मा वा कर्मकाण्डका ज्ञान रखनेवाले पुरुष दीक्षा पयोव्रत और अग्निष्टोम आदिसे जिस स्थानको प्राप्त करते है, चन्द्रदेव उस स्थानमें मुझको लेजावें और चन्द्रमा मुझको मन प्रदान करें अर्थात् मेरे मनको प्रसन्न रक्खें। ऐसे स्वर्गके प्रापक मनःप्रद चन्द्रदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो४

पञ्चमी ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

सोमो मा तत्र नयतु पयः सोमो दधातु मे । सोमाय

स्वाहा ॥ ५ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।

सोमः । मा । तत्र । नयतु । पयः । सोमः । दधातु । मे ॥ सोमाय ।

स्वाहा ॥ ५ ॥

सोमोत्र अभिषूयमाणो वल्लीरूपः परिगृह्यते तस्य च "सोमो वा ओषधीनां राजा" इति [तै० ब्रा० ३. ६. १७. १] श्रुतेः ओषधीनां सोमस्य च रसात्मकत्वात् पयःस्थापकत्वं युक्तम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जाननेवाले पुरुष और कर्मकाण्डका ज्ञान रखनेवाले पुरुष दीक्षा पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपसे जिस

स्थानको प्राप्त करते हैं। सोम मुझको उस स्थानको प्राप्त करावें और मुझे पयः-प्रदान करें। यह आहुति ऐसे सोमके लिये स्वाहुत हो [यहाँ निचोड़े जानेवाले लतारूप सोमका ग्रहण किया है। "सोमो वा ओषधीनां राजा" इस तैत्तिरीयब्राह्मण ३। ६। १७। १ की श्रुतिसे उसका और ओषधियोंका पयःस्थापकत्व युक्त ही है] ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
इन्द्रो मा तत्र नयतु बलमिन्द्रो दधातु मे । इन्द्राय स्वाहा ॥ ६ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।
इन्द्रः । मा । तत्र । नयतु । बलम् । इन्द्रः । दधातु । मे ॥ इन्द्राय । स्वाहा ॥ ६ ॥

इन्द्रस्य बलरूपत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष और कर्मकाण्डके ज्ञाता पुरुष दीक्षा पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपके द्वारा जिस स्थानको प्राप्त करते हैं इन्द्रदेव मुझको वहाँ लेजावें। और मुझ को बल प्रदान करें यह आहुति ऐसे स्वर्गप्रापक और बलप्रद इन्द्रदेवके लिये स्वाहुत हो [इन्द्रका बलप्रद होना श्रुति और स्मृति में प्रसिद्ध ही है] ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
आपो मा तत्र नयत्वमृतं मोप तिष्ठतु । अद्भ्यः स्वाहा

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।

आपः । मा । तत्र । नयतु । अमृतम् । मा । उप । तिष्ठतु ।

अप्ऽभ्यः । स्वाहा ॥ ७ ॥

"अमृतं वा आपः" इति [तै० आ० १, २६, ७] श्रुतेः गतप्राणस्यापि उदकसंबन्धेन आप्यायनसंभवाद् अपाम् अमृतप्रदानप्रार्थना युज्यते । मा माम् अमृतम् उप तिष्ठतु प्राप्नोतु ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष और कर्मकाण्डके ज्ञाता पुरुष दीक्षा पयोव्रत अग्निष्टोम आदि तपसे जिस स्थानको प्राप्त करते हैं जलके अभिमानी देवता मुझको तहाँ ले जावें । अमृत मुझे प्राप्त होवे ऐसे प्रभाव वाले जलोंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ["अमृतं वा आपः ।–अमृत जल है" इस तैत्तिरीय आरण्यक १ । २६ । ७ की श्रुतिके अनुसार गतप्राणकी भी जलसे तृप्ति हो सकती है अत एव जलोंसे अमृत प्रदान करनेकी प्रार्थना ठीक ही प्रतीत होती है] ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।

ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे । ब्रह्मणे स्वाहा ॥ ८ ॥

यत्र । ब्रह्मऽविदः । यान्ति । दीक्षया । तपसा । सह ।

ब्रह्मा । मा । तत्र । नयतु । ब्रह्मा । ब्रह्म । दधातु । मे ॥ ब्रह्मणे ।

स्वाहा ॥ ८ ॥

ब्रह्मा जगत्स्रष्टा हिरण्यगर्भः ब्रह्म स्वस्वरूपभूतं श्रुताध्ययनजन्यं तेजो वा दधातु ॥

इति पञ्चमेनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

सगुण ब्रह्मके स्वरूपको जानने वाले पुरुष और कर्मकाण्डके विद्वान् पुरुष दीक्षा पयोव्रत अग्निष्टोम आदिसे जिस स्थानको पाते हैं, जगत्स्रष्टा हिरण्यगर्भ ब्रह्मा उस स्थानमें मुझे लेजावें और मुझमें स्वरूपज्ञान वा वेदाध्ययनसे प्रकट होने वाले तेजको स्थापित करें। ऐसे ब्रह्मके लिये यह आहुति स्वाहुत हो॥ ८॥

पञ्चम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (५८७)

"आयुषोसि" इति एकादशं सूक्तम्। अनेन सूक्तेन उत्तरेण च "नैर्ऋतीं निर्ऋतिगृहीतस्य" इति [न० क० १७,] विहितायां नैर्ऋत्याख्यायां महाशान्तौ आञ्जनमणिम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। उक्तं हि नक्षत्रकल्पे। "हरिणस्येति [३, ७] विषाणाग्रं कौमार्याम्। आयुषोसि प्रतरणम् [१६. ४४] इत्याञ्जनं नैर्ऋत्याम्" इति [न० क० १६]॥

"आयुषोऽसि" यह ग्यारहवाँ सूक्त है। इस सूक्तसे तथा अगले सूक्तसे भी "नैर्ऋतीं निर्ऋतिगृहीतस्य।—निर्ऋतिगृहीतकी नैर्ऋती शान्तिको करे इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित नैर्ऋती नामक महाशान्तिमें अञ्जनमणिको अभिमंत्रित करके बाँधे। इसी बातको नक्षत्रकल्पमें कहा है, कि-"हरिणस्येति (३। ७) विषाणाग्रं कौमार्याम्। आयुषोसि प्रतरणम् (१६ ४४) इत्याञ्जनं नैर्ऋत्याम्" (नक्षत्रकल्प १६)॥

तत्र प्रथमा॥

आयुषोसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे।

तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम्॥ १॥

आयुषः । असि । प्रऽतरणम् । विप्रम् । भेषजम् । उच्यसे ।

तत् । आऽअञ्जन । त्वम् । शम्ऽताते । शम् । आपः । अभयम् ।

कृतम् ॥ १ ॥

हे आञ्जन त्वम् आयुषः प्रतरणम् शतसंवत्सरपर्यन्तनयनप्रवर्धकं विप्रम् प्रीणयितृ विप्रवच्छुद्धं वा भेषजम् औषधम् उच्यसे सर्वैर्निदानज्ञैः । तत् तस्मात् कारणात् हे आञ्जन हे शन्ताते शंरूप । ❀ स्वार्थिकस्तातिल् प्रत्ययः ❀ । हे उदकलक्षण आञ्जन त्वम् आपश्च अब्देवता च शम् सुखम् अभयम् भयराहित्यं च कृतम् कृणुतम् ॥

हे आञ्जन ! तू सौ वर्ष तककी आयुको बढ़ाने वाला है, ब्राह्मणकी समान शुद्ध है, ऐसा निदानको जानने वाले पुरुष कहते हैं । इस कारण हे आञ्जन ! तू कल्याणरूप है । हे उदकलक्षण आञ्जन ! तू और जलदेवता भी सुख और अभय प्रदान करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसल्पकः ।

सर्वं ते यक्ष्ममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वाञ्जनम् ॥ २ ॥

यः । हरिमा । जायान्यः । अङ्गऽभेदः । विऽसल्पकः ।

सर्वम् । ते । यक्ष्मम् । अङ्गेभ्यः । बहिः । निः । हन्तु । आऽअञ्जनम् ॥

यो हरिमा शरीरे हरिद्वर्णकारकः पाण्ड्वाख्यो रोगविशेषः । स च ज्यायान् अतिप्रवृद्धः दुश्चिकित्सः । तथा यः अङ्गभेदः वातादिजन्यः अवयवविश्लेषरूपो रोगः । यो विसर्पकः विविधं सरणशीलो व्रणविशेषः । स च प्रायेण जान्वोरधःप्रदेशे जायते । हे

आञ्जनमणिधर्तः तं सर्वं यक्ष्मम् व्याधिं ते तव अङ्गेभ्यः अवयवेभ्यः बहिः पृथक्कृत्य आञ्जनं निर्हन्तु नितरां नाशयतु ॥

जो शरीरमें हरितवर्णको करने वाला पाण्डु नामक रोग है, वह बड़ा हुआ दुश्चिकित्स्य होता है। तथा जो वातादिजन्य अंगभेद है, जो विसर्पक व्रणविशेष है, हे आञ्जनमणिको धारण करने वाले पुरुष! उस सब यक्ष्मरोगसमूहको तेरे अंगोंसे पृथक् करके यह मणि नष्ट कर डाले ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आञ्जनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम्।
कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम् ॥ ३ ॥

आऽअञ्जनम्। पृथिव्याम्। जातम्। भद्रम्। पुरुषऽजीवनम्।
कृणोतु। अप्रऽमायुकम्। रथऽजूतिम्। अनागसम् ॥ ३ ॥

पृथिव्याम् भूमौ जातम् उत्पन्नं भद्रम् कल्याणं मङ्गलप्रदं पुरुषजीवनम् पुरुषाणां स्वधारकाणां जीवयितृ एवंमहानुभावम् आञ्जनं माम् अप्रमायुकम् अमरणशीलं कृणोतु। तथा रथजूतिम् रथजवं रथवद्वेगगामिनम् अथ वा रथजवोपेतं रथवन्तं कृणोतु। अनागसम् अपापम्। सर्वत्र कृणोत्विति संबन्धः ॥

पृथिवीमें प्रकट हुआ, कल्याणप्रद, अपने धारक पुरुषोंको जीवन प्रदान करने वाला आञ्जनमणि मुझको अमरणशील करे। तथा रथकी समान वेगसे चलने वाला करे और मुझको निष्पाप करे ॥ ३ ॥

प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड।
निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥ ४ ॥

प्राण । प्राणम् । त्रायस्व । असो इति । असवे । मृड ।

निःऽऋते । निःऽऋत्याः । नः । पाशेभ्यः । मुञ्च ॥ ४ ॥

सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम् ।

वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥ ५ ॥

सिन्धोः । गर्भः । असि । विऽद्युताम् । पुष्पम् ।

वातः । प्राणः । सूर्यः । चक्षुः । दिवः । पयः ॥ ५ ॥

देवाञ्जन त्रैककुदं परि मा पाहि विश्वतः ।

न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥ ६ ॥

देवऽआञ्जन । त्रैककुदम् । परि । मा । पाहि । विश्वतः ।

न । त्वा । तरन्ति । ओषधयः । बाह्याः । पर्वतीयाः । उत ॥६॥

वी३दं मध्यमवासृपद् रक्षोहामीवचातनः ।

अमीवाः सर्वाश्चातयन् नाशयदभिभा इतः ॥ ७ ॥

वि । इदम् । मध्यम् । अव । असृपत् । रक्षःऽहा । अमीवऽचातनः ।

अमीवाः । सर्वाः । चातयत् । नाशयत् । अभिऽभाः । इतः ७

चतुर्थी ॥ हे प्राण प्राणरूप आञ्जन त्वं मम प्राणं त्रायस्व रक्ष यथा अकाले नापगच्छति तथा कुरु। हे असो असुरूप आञ्जन त्वम् असवे असोरर्थाय मृड सुखय । हे निर्ऋते निर्ऋत्यात्मक आञ्जन त्वं निर्ऋत्याः पापदेवताया: पाशेभ्यः बन्धकेभ्यो मां

मुञ्च मोचय । त्वं च सिन्धोः समुद्रस्य गर्भः गर्भस्थानीयः असि । एवं विद्युतां पुष्पम् वृष्ट्युदकम् असि ॥

पञ्चमी ॥ हे आञ्जन त्वं वातः बाह्यवाय्वात्मकः प्राणोसि । अतः प्राणान् रक्षेत्यभिप्रायः । "वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" इति [ऐ० आ० २. ४. २] श्रुतेः । तथा सूर्यः सूर्यात्मकः चक्षुः चक्षुरिन्द्रियम् असि । अतश्चक्षुः पाहीत्यभिप्रायः । "आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" इति श्रुतेः [ऐ० आ० २. ४. २] । वायोरंशीभूतः प्राणोसि सूर्यस्य च अंशीभूतं चक्षुरसीति तात्पर्यार्थः । तथा दिवः द्युलोकस्य पयः सारभूतम् उदकम् असि । हे त्रैककुदम् । त्रिककुन्नाम ककुत्त्रयोपेतः पर्वतविशेषः तत्संबन्धि आञ्जनं त्रैककुदम् । तादृश देवाञ्जन देवैः स्वरक्षार्थं धार्यमाण आञ्जन यद्वा देवैः प्राण्युपकाराय सृष्ट आञ्जन मां विश्वतः सर्वतः परि पाहि रक्ष ॥

षष्ठी ॥ हे आञ्जन त्वा त्वां वाह्याः पर्वतबाह्याः पर्वतव्यतिरिक्तस्थलेषूत्पन्ना ओषधयो न तरन्ति न लङ्घयन्ति नातिशेरते किं तु त्वत्तो न्यूनवीर्या एवेत्यर्थः । उत अपि च पर्वतीयाः पर्वते भवाः स्वयं त्रिककुदाख्यपर्वतोत्पन्नत्वाद् इतरहिमविन्ध्यादिपर्वतजा अपि ओषधयस्त्वा त्वा न तरन्ति । ❀ "पर्वताच्च" इति छः ❀ । किं च रक्षोहा रक्षोविघाती अमीवचातनः रोगाणां नाशकोयम् इदं परिदृश्यमानं यद् अस्ति तस्य मध्यं व्यवास्पत् प्रतिपदार्थम् अवाङ्मुखं पर्वताद् अधोऽगच्छत् । सर्वव्याप्यभूद् इत्यर्थः । ❀ सृपेर्लृदित्वाद् अङ् ❀ । किं कुर्वत् । सर्वा अमीवाः येये रोगा आभ्यन्तरा नानाभेदभिन्नाः सन्ति तान् सर्वान् चातयत् नाशयत् । पुनः किंकुर्वत् । अभिभाः अभिभवतीति अभिभा सर्वं रोगादिकम् इतो नाशयत् तिरस्कुर्वद् आञ्जनम् ॥

हे प्राणरूप आञ्जन ! तू मेरे प्राणकी रक्षा कर तू मेरे प्राण

की रक्षा कर, जिस प्रकार अकालमें मृत्युग्रसित न हो तैसा कर, हे असुरूप आञ्जन ! तू असुके अर्थ सुख दे ।—हे निर्ऋत्यात्मक आञ्जन ! तू पापदेवता निर्ऋतिके पाशोंसे मुझको मुक्त कर । तू समुद्रका गर्भ है, इसी प्रकार बिजलियोंका पुष्प—वृष्टिजल है ॥ हे आञ्जन ! तू वात अर्थात् बाह्यवायुरूप प्राण है [अतः प्राणों की रक्षा कर । इस विषयमें ऐतरेय आरण्यक २ । ४ । २ की श्रुतिका भी प्रमाण है, कि—"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत् । वायुने प्राण बन कर नासिकामें प्रवेश किया"] तथा तू सूर्या-चक्षुरिन्द्रिय है, [अतः चक्षुकी रक्षा कर] इस विषयमें भी ऐत-रेयारण्यक २ । ४ । २ की श्रुतिका प्रमाण है, कि—"आदित्य-श्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्" तात्पर्य यह है; कि—तू वायुका अंशी-भूत प्राण है और सूर्यकी भी अंशीभूत चक्षु है] तथा द्युलोकका सारभूत जल है । हे त्रिककुद् पर्वतमें प्रकट हुए त्रैककुद आञ्जन मणे ! हे देवाञ्जन ! तू मेरी चारों ओरसे रक्षा कर हे आञ्जन ! पर्वतोंके अतिरिक्त अन्यस्थलोंमें उत्पन्न हुई औषधियें तेरा उल्लंघन नहीं कर सकतीं, किन्तु तुझसे न्यून वीर्य वाली ही रहती हैं । और त्रिककुद् पर्वतके अतिरिक्त हिम विंध्य आदि अन्य पर्वतोंमें प्रकट हुई औषधियें भी तुझको नहीं पहुँच पातीं । यह जो रक्षोविघातक रोगनाशक आंजन है यह पर्वतसे नीचेको जा प्रत्येक पदार्थमें व्याप्त हो सकता है और सम्पूर्ण रोगोंको नष्ट कर डालता है । और सब रोगोंका तिरस्कार कर डालता है ॥४-७॥

सप्तमी ॥

ब॒ह्वी॑३॒दं रा॑जन् वरु॒णानृ॑तमाह॒ पूरु॑षः ।
तस्मा॑त् सहस्रवीर्य मु॒ञ्च नः॒ पर्यंह॑सः ॥ ८ ॥

ब॒हु । इ॒दम् । रा॒जन् । व॒रु॒ण॒ । अनृ॑तम् । आ॒ह॒ । पुरु॑षः ।

तस्मात् । सहस्रऽवीर्य । मुञ्च । नः । परि । अंहसः ॥ ८ ॥

हे राजन् वरुण प्राणिनां शिक्षाकर्तर्देव पूरुषः पुरुषः इदम् इदानीं बहु अनृतम् प्रातःप्रभृति शयनकालपर्यन्तम् अपरिमितम् असत्यम् आह ब्रूते । तद् अनृतं त्वं क्षमस्व तत्प्रयुक्तां शिक्षां मा कुरु किं च हे सहस्रवीर्य आञ्जनौषधे त्वं तस्मात् वरुणशिक्षा-निमित्तभूताद् अनृतवदनप्रयुक्ताद् अंहसः पापाद् नः अस्मान् परि मुञ्च-परितः सर्वतो मुक्तान् कुरु ॥

हे प्राणियोंको शिक्षा देने वाले राजन् वरुणदेव ! यह पुरुष प्रातःकालसे लेकर शयन करने पर्यन्त बहुतसा असत्य बोल चुका है, उसको आप क्षमा करिये अर्थात् असत्यभाषणका दण्ड मत दीजिये । और हे सहस्रवीर्य आञ्जन औषधे ! तू वरुणके दण्डके विषय असत्यभाषणके पापसे हमको मुक्त कर ॥ ८ ॥

अष्टमी ॥

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ।

तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥ ९ ॥

यत् । आपः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम ।

तस्मात् । सहस्रऽवीर्य । मुञ्च । नः । परि । अंहसः ॥ ९ ॥

आपो यूयं जानीध्वे साक्षितया यद् ऊचिम उक्तवन्तः स्मः । तथा अघ्न्या इति । अघ्न्या अहन्तव्या गाव उच्यन्ते । हे अघ्न्याः यूयं मम चित्तं जानीध्व इति यद् ऊचिम । तथा हे वरुण त्वं जानासीति यद् ऊचिम । हे सहस्रवीर्य अपरिमितसामर्थ्य त्रैक-कुदाञ्जन तस्मात् सर्वस्माद् अंहसः नः अस्मान् परि मुञ्च ॥

हे जलो ! जो हम कह रहे हैं उसको तुम साक्षीरूपसे जानो ! हे अहन्तव्य गौओ । जो हम कहते हैं, उसको तुम साक्षीरूपमें

जानो । हे वरुण ! जो हम कहते हैं, उसको तुम जानते हो, हे अपरिमित शक्ति वाले त्रैककुदाञ्जन ! इन सब पापोंसे आप हमको मुक्त करिये ॥ ९ ॥

नवमी ॥

मित्रश्च॑ त्वा॒ वरु॑णश्चानु॒प्रेय॑तुराञ्जन ।
तौ त्वा॑नु॒गत्य॑ दू॒रं भो॒गाय॒ पुन॒रोह॑तुः ॥ १० ॥

मि॒त्रः । च॒ । त्वा॒ । वरु॑णः । च॒ । अ॒नु॒ऽप्रेय॑तुः । आ॒ऽअ॒ञ्ज॒न ।
तौ । त्वा॒ । अ॒नु॒ऽगत्य॑ । दू॒रम् । भो॒गाय॑ । पुनः॑ । आ । ऊ॒ह॒तुः॒ १०

हे आञ्जन ओषधे त्वा त्वां मित्रश्च वरुणश्च उभौ अहोरात्राभिमानिनौ देवौ द्युलोकाद् भूमिम् आगत्य पुनः केनचिन्निमित्तेन पराङ्मुखं गच्छन्तं त्वा त्वाम् अनुप्रेयतुः अनुसृत्य जग्मतुः । तौ मित्रावरुणौ त्वा त्वां दूरम् अनुगत्य भोगाय प्राणिनाम् उपभोगाय पुनराहतुः पुनरागन्तव्यम् इति ऊचतुः । प्रतिनिवर्तितवन्तावित्यर्थः । एवंमहानुभावस्त्वम् असीति त्रैककुदाञ्जनस्तुतिः ॥
इति पञ्चमेनुवाके एकादशं सूक्तम् ॥

हे आञ्जन औषधे ! दिन और रात्रिके अभिमानी देवता मित्र और वरुण, द्युलोकसे भूमि पर आये हुए तथा फिर किसी कारण पराङ्मुख जाते हुए तेरे पीछे, गए थे, वे दोनों मित्रावरुण तेरे पीछे जाकर कहने लगे, कि–प्राणियोंके उपभोगके लिये तू फिर आना, तू ऐसा महानुभाव है ॥ १० ॥

पञ्चम अनुवाकमें एकादश सूक्तसमाप्त (५८)

"ऋणादृणमिव" इति द्वादशसूक्तस्य आञ्जनमणिबन्धने पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"ऋणाद् ऋणमिव" इस बारहवें सूक्तका-आंजन मणिबंधन में पूर्वसूक्तके साथ विनियोग कह दिया है।

तत्र प्रथमा ॥

ऋणादृणमिव संनयन् कृत्यां कृत्याकृतो गृहम्।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ १ ॥

ऋणात्। ऋणम्ऽइव। सम्ऽनयन्। कृत्याम्। कृत्याऽकृतः। गृहम्। चक्षुःऽमन्त्रस्य। दुःऽहार्दः। पृष्टीः। अपि। शृण। आऽअञ्जन १

यथा लोके कस्यचिद् धनिनो हस्ताद् गृहीताद् ऋणात् सकाशाद् भीतः सन् यद्वा ऋणात् ऋणदातुरुत्तमर्णाद् आनीतम् ऋणं तदीयं यथा तस्यैव प्रत्यर्पयति एवं कृत्याम् पीडार्थं प्रेषितां पिशाचिकां देवतां कृत्याकृतः कृत्याम् उत्पादितवतः पुरुषस्य गृहं प्रति संनयन् सम्यग्गमयन् मित्रस्य आदित्यस्य चक्षुः चक्षुस्थानीयः। यद्वा मित्रभूतस्य मम चक्षुस्थानीयस्त्वम् हे आञ्जनौषधे दुर्हार्दः दुष्टहृदयस्य वैरिणः पृष्टीः पार्श्वास्थीनि अपि शृण घातय ॥

जैसे ऋण देने वालेसे ऋण लेकर उस ऋणसे घबड़ाता हुआ पुरुष, उसी ऋणदाताको, अर्पण कर देता है, इसी प्रकार पीड़ाके लिये प्रेपित की हुई पिशाची देवता कृत्याको उत्पन्न करने वाले पुरुष पुरुष पर ही लौटाते हुए आदित्य (वा मुझ मित्रभूत) का चक्षुःस्थानीय तू हे आंजन ! दुष्ट हृदय वाले वैरी की पसलियोंको तोड़ डाल ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे।
अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम् ॥२॥

यत् । अस्मासु । दुःऽस्वप्न्यम् । यत् । गोषु । यत् । च । नः । गृहे ।

अनामगः । तम् । च । दुःऽहार्दः । प्रियः । प्रति । मुञ्चताम् २

अस्मासु ! भ्रातृपुत्रभृत्याद्यपेक्षया अस्मास्विति बहुवचनम् । यद् दुष्वप्न्यम् । दुष्टं च तत् स्वप्नं च दुष्वप्नम् तज्जन्यं दुःखं दुःष्वप्न्यम् । यद्वा दुष्वप्नमेव दुःष्वप्न्यम् तद् यद् अस्ति । यच्च गोषु दुष्वप्न्यम् अस्ति । यच्च नो गृहे दासादीनां दुःष्वप्न्यम् अस्ति तद् दुःष्वप्न्यम् अनामकः ईदृङ्नामा तादृङ्नामा इत्येवं नामरहितो दुर्हार्दः दुष्टचित्तः अप्रियः मयि द्वेषं कुर्वाणः शत्रुः प्रति मुञ्चताम् रुक्माद्याभरणवद् धारयतु ॥

भ्राता पुत्र भृत्य आदि सहित हममें जो दुष्टस्वप्नको देखनेसे उत्पन्न होने वाला दुःख है, जो गौओंमें दुःस्वप्न है, जो हमारे घरमें दास आदिका दुःस्वप्नच है उसको ऐसे वैसे नामसे रहित अनामक द्वेष्टा पुरुष सुवर्ण आदिके आभरणकी समान धारण करे

तृतीया ॥

अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते ॥ ३ ॥

अपाम् । ऊर्जम् । ओजसः । ववृधानम् । अग्नेः । जातम् । अधि ।

जातऽवेदसः ।

चतुःऽवीरम् । पर्वतीयम् । यत् । आऽअञ्जनम् । दिशः । प्रऽदिशः ।

करत् । इत् । शिवाः । ते ॥ ३ ॥

अपाम् उदकानाम् ऊर्जम् रसभूतं सारभूतम् अत एव ओजसः

वलस्य वाहृधानम् । वर्धकम् इत्यर्थः । अथ वा ओजसः अर्थाय वर्धमानम् । तथा जातवेदसः जातधनस्य प्राप्ततेजोलक्षणधनस्य अग्नेरधि अग्नेः सकाशात् जातम् । ❀अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी❀। तथा चतुर्वीरम् चतसृषु दिक्षु विक्रान्तं सर्वतोऽकुण्ठितशक्ति । यद्वा चत्वारो वीराः पुत्रा यस्य तत् पुत्रचतुष्टयाख्यफलस्य दातृ पर्वतीयम् पर्वते त्रिककुदाख्ये उत्पन्नम् । ❀ "पर्वताच्च" इति छप्रत्ययः ❀ । एवंमहानुभावं यद् आञ्जनम् अस्ति तत् ते दिशः अवान्तरदिश इत् प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः प्रागाद्याश्च शिवाः मङ्गलाः सुखप्रदाः करत् कुर्यात् । यद्वा इच्छब्दः करत् इत्यनेन संबध्यते । करोत्येव ॥

जलोंका रसभूत, ओजका वर्धक, तथा जातवेदा अग्निके समीप से प्रकट हुआ, चारों दिशाओंमें अकुण्ठित शक्ति वाला चार पुत्रोंको देसकने वाला और त्रिककुद् पर्वतमें उत्पन्न हुआ जो आञ्जन है, वह पूर्व आदि दिशाओंको और दिक्कोणोंको सुखप्रद कर डाले ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

चतुर्वीरं बध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम् ॥ ४ ॥

चतुःऽवीरम् । बध्यते । आऽअञ्जनम् । ते । सर्वाः । दिशः । अभयाः । ते । भवन्तु ।
ध्रुवः । तिष्ठासि । सविताऽइव । च । आर्यः । इमाः । विशः । अभि । हरन्तु । ते । बलिम् ॥ ४ ॥

हे रक्षाफलकाम ते तव चतुर्वीरम् दातव्यैश्चतुर्भिर्वीरैरुपेतं चतसृषु दिक्षु वीर्योपेतं वा आञ्जनम् अञ्जनमणिरूपम् औषधं वध्यते । तेन किं फलतीत्यत्राह मणि । धृतवतस्ते सर्वा दिशः प्रदिशो दिशश्च अभयाः भयरहिता निर्भया भवन्तु । सर्वत्र अभयं फलम् इत्युक्तं भवति । किं च हे अर्य स्वामिन् निर्भयस्त्वं सवितेव सूर्य इव विश्वं प्रकाशयन् ध्रुवस्तिष्ठासि तिष्ठ । सूर्य इव अतितेजस्वी चिरकालं तिष्ठतस्ते इमाः सर्वा विशः प्रजा बलिम् हिरण्यरजत-मणिमुक्ताकरितुरगाद्युत्कृष्टपदार्थमयीम् अपचितिम् अभि हरन्तु सर्वतः समर्पयन्तु । करं प्रयच्छन्तु इत्यर्थः ॥

हे रक्षारूपी फलको चाहने वाले पुरुष ! चारों दिशाओंमें वीर्य-मय रहने वाली अञ्जनमणि रूप औषधि तेरे बाँधी जाती है । मणिको धारण करने वाले तेरे लिये सब दिशायें भयशून्य हो-जावें । और हे स्वमिन् ! आप सूर्यकी समान सबको प्रकाशित करते हुए स्थिर रहिये । सूर्यकी समान अतितेजस्वी होकर चिर-काल तक स्थित रहते हुए आपके लिये ये सब प्रजायें सोना चाँदी मणि मुक्ता हाथी घोड़े आदि उत्कृष्ट पदार्थोंकी भेंट प्रदान करें४

पञ्चमी ॥

आद्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम् । चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान् ॥ ५ ॥

आ । अङ्क्ष्व । एकम् । मणिम् । एकम् । कृणुष्व । स्नाहि । एकेन । आ । पिब । एकम् । एषाम् ।

चतुःऽवीरम्। नैःऽऋतेभ्यः। चतुःऽभ्यः। ग्राह्याः। बन्धेभ्यः। परि। पातु। अस्मान् ॥ ५ ॥

हे पुरुष एकम् आञ्जनम् आङ्क्ष्व चक्षुषि धारय। तथा एकं मणिं कृणुष्व कुरु। एकेन आञ्जनेन स्नाहि स्नानं कुरु। त्रिषु पर्वतककुत्सु उत्पन्नानि त्रीण्याञ्जनानि। तेषु कस्य कुत्रोपयोग इत्याशङ्कायां व्यवस्थाऽप्रसक्तावाह अविवेकम् एषाम् इति। एषां त्रयाणाम् अस्येदम् अस्येदम् इत्येवं विवेकम् अकृत्वा इच्छया एकम् आङ्क्ष्व एकं मणिं कुरु एकेन स्नाहीत्यर्थः। चतुर्वीरम् एतद् आञ्जनम्। ग्राह्याः ग्रहीतव्या आञ्जनमया ओषधयश्चतुर्भ्यो नैर्ऋतेभ्यः निर्ऋतिदेवतासंबन्धिभ्यो बन्धेभ्यः सकाशाद् अस्मान् परि पान्तु सर्वतो रक्षन्तु ॥

हे पुरुष! तू एक अंजनको नेत्रोंमें आँज, तथा दूसरेको मणि बना और एक आंजन पदार्थसे स्नान कर। तीन शिखरों पर तीन अंजन प्रकट होते हैं, इनमें किसका उपयोग कहाँ किया जाय तो कहते हैं, इसमें कोई व्यवस्था नहीं है एकसे आँज ले, एकको मणि बना ले और एकसे स्नान कर यह आंजन चतुर्वीर है, ये सब ग्रहण करने योग्य आंजनकी औषधियें निर्ऋति देवताके बन्धनोंसे हमारी रक्षा करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

अग्निर्माग्निनावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ६ ॥

अग्निः। मा। अग्निना। अवतु। प्राणाय। अपानाय। आयुषे। वर्चसे। ओजसे। तेजसे। स्वस्तये। सुऽभूतये। स्वाहा ॥ ६ ॥

अग्निः अग्रणीत्वादिगुणविशिष्टो देवो मा माम् अग्निना अग्नित्वधर्मेण । "अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयते अङ्गं नयति संनममानः" [नि० ७. १४] इत्यादि नैरुक्तोक्तेन धर्मेण अवतु रक्षतु । अथवा पावकादिगुणकेन स्वमूर्त्यन्तरेण अग्निना सहितो माम् अवतु । अवनस्य विषयान् दर्शयति प्राणायेत्यादिना । प्राणाय प्राणस्थैर्याय अपानाय तत्स्थैर्याय । एतद्व्यानादीनामपि उपलक्षणम् । पञ्चानां प्राणानां लाभायेत्यर्थः । प्राणादिलाभे सति फलितम् अर्थं दर्शयति । आयुषे आयुर्वृद्धये प्राणादीनां स्थैर्ये सिद्धे आयुरभिवृद्धिः सिद्धैव । वर्चः श्रुताध्ययनजं तेजः ओजः बलम् तेजः शरीरकान्तिः तेषां लाभाय स्वस्तये क्षेमाय सुभूतये शोभनायै संपदे । स्वाहा स्वाहुतम् अस्तु । तस्मा अग्नय इति शेषः । अथ वा प्राणादिलाभाय प्राणादिदेवताभ्यो नमस्कारः क्रियते ॥

अग्रणीत्व आदि गुणोंसे सम्पन्न अग्निदेव, मुझको निरुक्त में कहे हुए अग्निके धर्मोंसे रक्षा करें । अथवा पावक (शोधक) गुण वाले अपनी दूसरी मूर्तिसे मेरी रक्षा करें । प्राण आदि पाँचोंकी प्राप्तिके लिये आयुके लिये वर्च ओज तेज स्वस्ति और सुभूतिके लिये मेरी रक्षा करें । ऐसे अग्निदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

इन्द्रो मेन्द्रियेणावतु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ७ ॥

इन्द्रः । मा । इन्द्रियेण । अवतु । प्राणाय । अपानाय । आयुषे । वर्चसे । ओजसे । तेजसे । स्वस्तये । सुऽभूतये । स्वाहा ॥७॥

इन्द्रो देवः मा माम् इन्द्रियेण इन्द्रत्वसंपादकेन असाधारणेन धर्मेण। "इन्द्र इरां दृणातीति वा। इरां दारयतीति वा। इन्धे भूतानीति वा" [नि० १०, ८] इत्यादिनिरुक्तोक्तेन धर्मेण। अथ वा इन्द्रियेण। जात्येकवचनम्। ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च दार्ढ्येन निमित्तेनेत्यर्थः। ❀ इन्द्रियशब्दः पाणिनिना "इन्द्रियम् इन्द्रलिङ्गम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा" इति बहुधा व्युत्पादितः ❀। गतम् अन्यत् ॥

इन्द्रदेव मुझको ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियोंकी दृढ़ता प्रदान करके रक्षा करें। इन्द्रदेव प्राण अपान आयु वर्च ओज तेज स्वस्ति और सुभूतिकी प्राप्तिके लिये मेरी रक्षा करें। ऐसे इन्द्रदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

सोमो॑ मा सौम्ये॑नावतु प्राणाया॑पानाया॒युषे॒ वर्च॑स॒ ओज॑से तेज॑से स्वस्तये॑ सुभूतये॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

सोमः। मा। सौम्येन। अवतु। प्राणाय। अपानाय। आयुषे। वर्चसे। ओजसे। तेजसे। स्वस्तये। सुऽभूतये। स्वाहा ॥८॥

सोमो देवः मा मां सौम्येन सोमत्वसंपादकेन धर्मेण जगदाप्यायनकारित्वादिधर्मेण अवतु। शिष्टं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥

सोमदेव सोमत्वसम्पादक जगत्को तृप्त करने वाले अपने सौम्यधर्मसे मेरी रक्षा करें। तथा प्राण अपान आयु वर्च ओज तेज स्वस्ति और सुभूतिकी प्राप्तिके लिये मेरी रक्षा करें। ऐसे सोमदेवके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ८ ॥

नवमी ॥

भगो॑ मा भगे॑नावतु प्राणाया॑पानाया॒युषे॒ वर्च॑स

ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ ९ ॥

भगः । मा । भगेन । अवतु । प्राणाय । अपानाय । आयुषे ।

वर्चसे । ओजसे । तेजसे । स्वस्तये । सुऽभूतये । स्वाहा ॥९॥

भगो देवः मा मां भगेन भगत्वसंपादकत्वेन धर्मेण ऐश्वर्यादि-कारित्वधर्मेण अवतु । शिष्टं गतम् ॥

भगदेवता ऐश्वर्यसम्पादक धर्मसे मेरी रक्षा करें, तथा प्राण अपान आयु वर्च ओज तेज स्वस्ति और सुभूतिकी प्राप्तिके निमित्त मेरी रक्षा करें। ऐसे भगदेवताके लिये यह आहुति स्वाहुत हो ॥ ९ ॥

दशमी ॥

मरुतो मा गणैरवन्तु प्राणायापानायायुषे वर्चस ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा ॥ १० ॥

मरुतः । मा । गणैः । अवन्तु । प्राणाय । अपानाय । आयुषे ।

वर्चसे । ओजसे । तेजसे । स्वस्तये । सुऽभूतये । स्वाहा १०

मरुतः अदित्या उत्पन्ना रुद्रेण पुत्रत्वेन परिगृहीता एकोन-पञ्चाशत्संख्याकाः सप्तगणा देवाः । ते मां गणैः स्वगणैः संघ-लक्षणैः अवन्तु ॥

इति पञ्चमेनुवाके द्वादशं सूक्तम् ॥

पञ्चमोऽनुवाकः समाप्तः ॥

अदितिसे उत्पन्न हुए, रुद्रके द्वारा पुत्ररूपमें ग्रहण किये हुए उनचास पवन अपने गणोंसे, प्राण अपान, आयु, वर्च, ओज,

तेज, स्वस्ति और सुभूतिकी प्राप्तिके लिये मेरी रक्षा करें। ऐसे मरुतोंके लिये यह आहुति स्वाहुत हो॥ १० ॥

पञ्चम अनुवाकमें द्वादश सूक्त समाप्त (५८९)

पञ्चम अनुवाक समाप्त॥

षष्ठेनुवाके नव सूक्तानि। तत्र "प्रजापतिष्ट्वा" इति प्रथमसूक्तेन "मारुद्गणीं बलकामस्य प्रयुञ्जीत" इति [न० क० १७] विहितायां मारुद्गण्याख्यायां महाशान्तौ अस्तृताख्यमणिम् अभिमन्त्र्य बध्नीयात्। सूत्रितं हि नक्षत्रकल्पे। "आयुषोसि प्रतरणम्[१९. ४४] इत्याञ्जनं नैर्ऋत्याम्। प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् [१९. ४६] इति त्रिवृतं मारुद्गण्याम्" इति [न० क० १९]॥

छठे अनुवाकमें नौ सूक्त हैं। इनमेंसे "प्रजापतिष्ट्वा" इस प्रथम सूक्तसे "मारुद्गणीं बलकामस्य प्रयुञ्जीत।-बलकामकी मारुद्गणी शान्तिको करे" इस नक्षत्रकल्प १७ से विहित मारुद्गणी नामक महाशान्तिमें अस्तृता नामक मणिको अभिमन्त्रित करके बाँधे। इस विषयमें नक्षत्रकल्पका प्रमाण भी है, कि-"आयुषोऽसि प्रतरणम् (१९। ४४) इत्याञ्जनं नैर्ऋत्याम्। प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् (१९।४६) इति त्रिवृतं मारुद्गण्याम्" (नक्षत्रकल्प १९)

इस सूक्तमें अस्तृता नामक मणिकी स्तुति कीगई है।

तत्र प्रथमा॥

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात् प्रथममस्तृतं वीर्याय कम्।
तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ १॥

प्रजाऽपतिः। त्वा। बध्नात्। प्रथमम्। अस्तृतम्। वीर्याय। कम्।

तत् । ते । बध्नामि । आयुषे । वर्चसे । ओजसे । च । बलाय । च । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ १ ॥

अत्र सूक्ते अस्तृताख्यो मणिः स्तूयते । अस्तृतस्त्वाभि रक्षतु इति चरमपादे सर्वत्र युष्मच्छब्देन अस्तृतमणिधारकः पुरुषोभिधीयते । प्रजापतिः प्रजानां पालकः सर्वजगद्विधाता देवः प्रथमम् सृष्ट्यादौ मणिधारकेभ्यः पूर्वं वा अस्तृतम् परैरबाधितम् एतत्संज्ञकं त्वा त्वां बध्नात् धारयामास । त्रिवृन्मणिरेव वा अतिशयितप्रभावत्वाद् अस्तृतसंज्ञया उच्यते । किमर्थम् । वीर्याय वीरकर्मणे पराभिभवनसामर्थ्याय तल्लब्धुम् । ❀ "क्रियार्थोपपदस्य०" इति चतुर्थी ❀ । कम् इति इति पदपूरणः । ❀ प्रजापतिष्ट्वेत्यत्र "युष्मत्ततक्षुःषु०" इति सांहितिको मूर्धन्यादेशः ❀ ॥ उत्तरार्धेन मणिधारक उच्यते । तत् । ❀ सुपो लुक् लिङ्गव्यत्ययो वा ❀ । तम् अस्तृताख्यं मणिम् हे मणिधारक ते तव । अङ्ग इति शेषः । बध्नामि धारयमि पुरोहितोहं कर्ता । किमर्थम् । आयुषे आयुरादिलाभाय । ❀ सर्वत्र पूर्ववच्चतुर्थी । समुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । आयुषे चिरकालजीवनाय । वर्चसे दीप्त्यै । ओजसे शरीरबलम् ओजः शरीरधारकोष्टमो धातुर्वा ओजः तस्मै । बलाय भृत्यादिसमृद्धिरूपाय बाह्यबलाय ॥ अस्तृतः । ❀ स्तृञ् हिंसायाम् । कर्मणि क्तप्रत्ययः ❀ । पूर्वं प्रजापतिना धारितः इदानीं त्वया धार्यमाणः शत्रुभिरबाधितः परोपद्रवनिहारकः अस्तृताख्योयं मणिः त्वा त्वां धारकम् अभि रक्षतु अभितः सर्वतः पालयतु ॥

हे मणे ! प्रजाके पालक सर्वजगद्विधातादेवने सृष्टिके आरम्भ में ही तुझ दूसरोंसे अबाधित मणिको दूसरोंको दबानेकी शक्ति पानेके लिये धारण किया था । हे मणिधारक पुरुष ! ऐसी मणि को मैं पुरोहित, आयु वर्च ओज और बल प्राप्त करानेके लिये तेरे बाँधता हूँ, यह अस्तृतमणि तेरी रक्षा करे ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन् पणयो यातुधानाः ।
इन्द्र इव दस्यूनव धूनुष्व पृतन्यतः सर्वाञ्छत्रून् वि षहस्वास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ २ ॥

ऊर्ध्वः । तिष्ठतु । रक्षन् । अप्रऽमादम् । अस्तृतः । इमम् । मा । त्वा । । दभन् । पणयः । यातुऽधानाः ।
इन्द्रःऽइव । दस्यून् । अव । धूनुष्व । पृतन्यतः । सर्वान् । शत्रून् । वि । सहस्व । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ २ ॥

हे अस्तृत एतत्संज्ञक मणे भवान् अप्रमादम् प्रमादः अनवधानता । ॐ हर्षार्थोन्मादद्यतेर्वञ् ॐ । न विद्यते अनवधानं यस्मिन् रक्षणकर्मणि सावधानं यथा तथा इमं त्वद्धारकं रक्षन् पालयन् । अप्रमादम् इति इमम् इत्यस्य विशेषणं वा । अवहितम् । त्वद्धारणे इति शेषः । तं रक्षन् । ॐ हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः ॐ । रक्षणाद्धेतोः ऊर्ध्वः उन्नतः उन्मुखः सर्वदा जागरूकः तिष्ठतु । भवद्योगे प्रथमपुरुषः । मणेरपि शत्रुकृतबाधापरिहारम् आशास्ते । हे अस्तृत मणे त्वा त्वां यातुधानाः यातवो यातनाः पीडा धीयन्ते विधीयन्ते क्रियन्ते एभिरिति यातुधानाः । ॐ करणे ल्युट् ॐ । तादृशः पणयः पणिनामका असुरा मा दभन् मा हिंसन्तु । ॐ दभिर्हिंसाकर्मा । अस्माद् माङि लुङि दम्भेश्चेति वक्तव्यम् इति च्लेरङ् ॐ । किं च त्वम् इन्द्र इव इन्द्रो यथा शत्रून् हिनस्ति

एवं दस्यून् उपक्षपयितृन् परान् अव धूनुष्व अवाङ्मुखान् कम्पय । पादप्रहारादिना अवस्तात् पातयेत्यर्थः । ❀ धूञ् कम्पने । स्वादिः ❀ । न केवलम् अवधूननं किं तु पृतन्यतः पृतनां संग्रामम् इच्छतः । ❀ पृतनाशब्दात् क्यचि "कव्यध्वरपृतनस्यर्चि०" इति अन्त्यलोपः । क्यजन्तात् शत्रादि कार्यम् ❀ । युयुत्सून् सर्वान् शत्रून् शातयितृन् रिपून् वि षहस्व विशेषेण अभिभव ॥ अस्तृतस्त्वाभि रक्षतु इति चरमपादः पूर्ववत् । उक्तवीर्योपेतः पराभिभवनसामर्थ्योस्तृताख्यो मणिः धारकं त्वा त्वाम् अभि रक्षतु इति ॥

हे अस्तृत नामक मणे ! तू अपने इस रक्षक पुरुषकी रक्षा करता हुआ सर्वोत्कृष्ट रह । हे मणे ! यातुधान पणि नामक असुर तेरी शक्तिको नष्ट न कर सकें ! वा हे मणिधारक पुरुष ! तुझको नष्ट न कर सकें और तू, इन्द्र जैसे शत्रुओंको मारता है, तिस प्रकार शत्रुओंको पादप्रहार आदिसे औंधे मुख करके गिरा । और सेना लेकर तुझसे जो लड़ना चाहें उनको विशेषरूपसे दबा । हे मणिधारक पुरुष अस्तृतमणि तेरी रक्षा करे ॥२॥

तृतीया ॥

शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे ।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ३ ॥

शतम् । च । न । प्रऽहरन्तः । निऽघ्नन्तः । न । तस्तिरे ।
तस्मिन् । इन्द्रः । परि । अदत्त । चक्षुः । प्राणम् । अथो इति ।
बलम् । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ३ ॥

शतम् शतसंख्याका अपरिमिताः शत्रवः प्रहरन्तः । प्रहरणं

नाम शस्त्रादिकृतबाधा । निहननं नाम प्राणवियोजनम् इति विवेकः । प्रहरन्तः प्रकर्षेण शस्त्रादिभिर्बाधमानाः निघ्नन्तः नितरां हिंसन्तो मारयन्तः । ❀ उभयत्र हेत्वर्थः शतृप्रत्ययः ❀ । प्रहरणान्निहननाच्च हेतोः न तस्तिरे न तस्तरिरे नाच्छादितवन्तः । यद्वा प्रहरन्तो निघ्नन्तोपि शत्रवः न तस्तरिरे न जिहिंसुः । मणिरेव कर्म । अस्तृतमणेः अस्तृतनामनिर्वचनम् अनेन क्रियते । यतः शत्रवः उक्तलक्षणा इमं मणिं न तस्तरिरे बाधितुं नावृण्वन् न जिहिंसुर्वा अतः अस्य अस्तृतनाम संपन्नम् । ❀ स्तृञ् छादने स्तृञ् हिंसायाम् इति वा । उभयविधाद् धातोश्छान्दसे लिटि "लिटस्तझयोरेशिरेच्" इति इरेजादेशः । वर्णलोपश्छान्दसः ❀ । इन्द्रः तस्मिन् एवं शत्रुभिरनावृते अहिंसिते अस्तृताख्ये मणौ अन्तः मध्ये चक्षुः शत्रुदर्शनसामर्थ्यं प्राणम् बलहेतुम् अथो अपि च बलम् प्राणसामर्थ्यं वीर्यं परि यत् पर्यगमयत् परिपूरितवान् । स्थापितवान् इत्यर्थः ॥ अस्तृतस्त्वाभि रक्षतु इति पूर्ववत् । एवम् उक्तविधः अस्तृताख्यमणिस्त्वां धारकं रक्षतु इति तस्यार्थः ॥

अपरिमित शत्रु प्रहार करते हुए और मारतेहुए भी इस मणि को तर न सके थे, इसी लिये इस मणिका नाम अस्तृत पड़ा है। इन्द्रने ऐसी शत्रुओंसे अहिंसित अस्तृत मणिके भीतर शत्रुदर्शनशक्ति–चक्षुको, प्राणशक्तिको और बलशक्तिको भर दिया है, ऐसी अस्तृत मणि तुझ धारक पुरुषकी रक्षा करे ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधिराजो बभूव ।
पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ४

इन्द्रस्य । त्वा । वर्मणा । परि । धापयामः । यः । देवानाम् ।
 अधिऽराजः । बभूव ।
पुनः । त्वा । देवाः । प्र । नयन्तु । सर्वे । अस्तृतः । त्वा । अभि ।
 रक्षतु ॥ ४ ॥

हे मणे त्वा त्वाम् इन्द्रस्य वर्मणा कवचेन परि धापयामः परित आवृणमः । इन्द्रवर्माच्छादितं कुर्मः । इन्द्रस्य प्रभावातिशयं द्योतयितुं विशिनष्टि । यो देवानाम् द्योतमानानां द्युस्थानानां सर्वेषाम् अवराणाम् अधिराजः अधिपतिर्बभूव । ❀ "राजाहःसखिभ्यष्टच्" इति राजशब्दात् तत्पुरुषे टच् समासान्तः ❀ । किं च हे मणे त्वा त्वाम् इन्द्रवर्माच्छादितम् देवाः इन्द्रस्वामिकाः सर्वे पुनः प्र णयन्तु स्वस्वकार्यसिद्ध्यर्थं स्वस्वकवचैः परिधापनार्थं प्रकर्षेण स्वसमीपं प्रापयन्तु । एवम् इन्द्रवर्मणा परिहितः सर्वैर्देवैश्च अनुगृहीतः अस्तृताख्यो मणिः त्वा त्वां मणिधारकम् अभि रक्षतु ॥

हे मणे ! हम तुझको इन्द्रके कवचसे आच्छादित करते हैं, यह इन्द्रदेव द्युलोकमें रहने वाले सब देवताओंके अधिपति हैं, फिर तुझ इन्द्रवर्मसे आच्छादितको इन्द्रके आधीन रहने वाले सब देवता अपनी २ कार्यसिद्धिके लिये अपने २ कवचोंके पास लेजावें। इस प्रकार इन्द्रवर्मसे आच्छादित और सब देवताओंसे अनुगृहीत अस्तृत नामक मणि तुझ मणिधारककी रक्षा करे ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अस्मिन् मणावेकशतं वीर्या॒णि सहस्रं प्राणा अस्मि-
 न्नस्तृते ।

व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान् यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ५ ॥

अस्मिन् । मणौ । एकऽशतम् । वीर्याणि । सहस्रम् । प्राणाः । अस्मिन् । अस्तृते ।

व्याघ्रः । शत्रून् । अभि । तिष्ठ । सर्वान् । यः । त्वा । पृतन्यात् । अधरः । सः । अस्तु । अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ५ ॥

अस्मिन् अस्तृताख्ये मणौ एकशतम् एकोत्तरं शतम् । शतक्रतोरिन्द्रस्य वर्मणावरणात् शतक्रतुसंबन्धीनि वीर्याणि शतसंख्याकानि । मणेः स्वीयं वीर्यम् एकम् । एवम् एकोत्तरं शतम् । एतत्संख्याकानि वीर्याणि वीरकर्माणि सामर्थ्यानि विद्यन्ते । तथा अस्मिन् अस्तृते अहिंसिते परैः एतत्संज्ञके मणौ सहस्रम् । अपरिमितवाची सहस्रशब्दः । सर्वैर्देवैरनुगृहीतत्वात् तत्संबन्धिनः अपरिमिता बलहेतवः प्राणाः संपद्यन्ते । एवंवीर्यप्राणोपेतो मणिस्त्वं व्याघ्रः । लुप्तोपमम् एतत् । व्याघ्र इव अथ वा व्याघ्रः व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः । ❀ "आतश्चोपसर्गे" इति कर्तरि कप्रत्ययः ❀ । शत्रुगन्धं विशेषेण आजिघ्रन् सर्वान् शत्रून् अभि तिष्ठ अभिलक्ष्य तिष्ठ । आक्रमितुं समर्थो भव । अभिभवेति यावत् । यः शत्रुः त्वा त्वां मणिं प्रति पृतन्यात् योद्धुम् इच्छेत् स शत्रुः अधरो निकृष्टः पराजितोस्तु । यद्वा व्याघ्र इत्यादिना मणिधारकः पुमान् प्रोत्साह्यते ॥ अस्तृत इति पूर्ववत् ॥

इस अस्तृत नामक मणिमें एकसौ एक प्रकारके वीर्य हैं [शतक्रतु इन्द्रके वर्मसे आवृत होनेके कारण शतक्रतुके सौ वीर्य हैं और मणिका एक वीर्य है, इस प्रकार एक सौ एक वीर्य हैं

अर्थात् इस मणिमें एक सौ एक प्रकारकी शक्तियें हैं] तथा इस दूसरोंसे अहिंसित मणिमें सब देवताओंसे अनुगृहीत होनेके कारण उनके अपरिमित प्राणबल हैं, हे ऐसी मणिको धारण करने वाले पुरुष ! तू शत्रुओं पर व्याघ्रकी समान अधिष्ठित हो, जो शत्रु सेना लेकर तुझसे लड़ना चाहे वह निकृष्ट होजावे, यह अस्तृत मणि तेरी रक्षा करे ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

घृतादुल्लुप्तो मधुमान् पयस्वान्त्सहस्रप्राणः शतयोनि-
र्वयोधाः ।
शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च पयस्वांश्चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु

घृतात् । उत्ऽलुप्तः । मधुऽमान् । पयस्वान् । सहस्रऽप्राणः । शतऽयोनिः । वयःऽधाः ।

शम्ऽभूः । च । मयःऽभूः । च । ऊर्जस्वान् । च । पयस्वान् । च ।
अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ६ ॥

घृतात् । घृतेनेत्यर्थः । आज्येन उल्लुप्तः ऊर्ध्वम् उपरिभागे लिप्तः । ❀ इकारस्य उकारोपजनश्छान्दसः ❀ । मधुमान् मधु माक्षिकं तद्वान् पयस्वान् पयः क्षीरं तद्वान् । ❀ "तसौ मत्वर्थे" इति भ-संज्ञकत्वात् पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः ❀ । आज्यमधुक्षीरैर्लिप्त-सर्वाङ्ग इत्यर्थः । सहस्रप्राणः सर्वदेवानुगृहीतत्वात् तदीयापरिमित-बलहेतुकबल इत्यर्थः । शतयोनिः ऐन्द्रवर्म परिहितत्वेन तदीयशत-संख्याकवीर्योपेत इत्यर्थः । योनिशब्देन शत्रुसंगमननिमित्तं शत्रु-वियोजनसाधनं वा बलं विवक्ष्यते । ❀ यु मिश्रणामिश्रणयोः ❀

अस्माद् औणादिको निप्रत्ययः ❀ । यद्वा शतसंवत्सरजीवन-वीर्येन्द्रियरूपफलहेतुत्वेन शतयोनिरिति उक्तम्। श्रूयते हि "शतायुः पुरुषः शतवीर्यः शतेन्द्रियः" इति [ऐ० ब्रा० ४. १९] वयोधाः मणिधारकस्य पुरुषस्य अन्नं धारयिता शंभूः सुखस्य भावयिता मयोभूः मय इति सुखनाम तस्य भावयिता। शंमयःशब्दाभ्यां शारीरं पुत्रादिगतं च सुखं विवक्ष्यते। यद्वा शं शान्तिः सर्वोपद्रव-निवारणं तस्य भावयिता इत्यनेन अनिष्टनिवृत्तिः मयोभूरित्यनेन इष्टप्राप्तिर्विवक्ष्यते। ऊर्जस्वान् ऊर्जः अन्नं तद्वान्। ❀ ऊर्जयतेः असुन् प्रत्ययः ❀। अन्नस्य दाता। यद्वा ऊर्जस्विनः पुत्रादयः ते पोष्यत्वेन यस्य सन्तीति। पयस्वान् पयः क्षीरादिकं तद्वान् तत्प्रदाता। ❀ परस्परसमुच्चयार्थाश्चकाराः ❀। एतादृशगुणवि-शिष्टः अस्तृतः एतन्नामा मणिः त्वा त्वां धारकम् अभि रक्षतु अभितः सर्वतः पालयतु ॥

ऊपरके भागमें घृत मधु और दुग्धसे लिप्त, सब देवताओंसे अनुगृहीत होनेके कारण उनके अपरिमित बलका प्रदान करने वाला, इन्द्रकवचसे आच्छादित होनेके कारण शत्रुसे डटनेके और शत्रुको हटानेके सहस्रों पराक्रमोंसे सम्पन्न, मणिको धारण करने वाले पुरुषको अन्न प्रदान करने वाला, शारीरक सुख दाता, पुत्रादि सुखका देने वाला, अन्न–सम्पन्न, और पयः सम्पन्न पदार्थोंका प्रदान करने वाला अस्तृत मणि तुझ धारक का सवतः पालन करे ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

यथा त्वमुत्तरोसो असपत्नः सपत्नहा।
सजातानामसद् वशी तथा त्वा सविता करदस्तृत-
स्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

यथा । त्वम् । उत्ऽतरः । असः । असपत्नः । सपत्नऽहा ।

सऽजातानाम् । असत् । वशी । तथा । त्वा । सविता । करत् ।

अस्तृतः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ ७ ॥

अनेन मणिधारकस्य पुरुषस्य मणिप्रभावात् सर्वोत्तरत्वं शत्रुधर्षणसामर्थ्यं च सर्वस्य प्रेरकः सविता करोत्विति आशास्यते । हे साधक त्वम् उत्तरः उत्कृष्टः सर्वोत्तरो यथाऽसः भवेः । ❀ अस्तेः पञ्चमलकारे अडागमः ❀ । असपत्नः अशत्रुः । शत्रूणाम् अत्यन्ताभावो विवक्षितः । सपत्नहा तथापि ये केचन सपत्ना उद्गच्छेयुस्तेषामपि हन्ता यथा भवेः । किं च सजातानाम् समानजातानां पुरुषाणां मध्ये वशी वशैः सजातैस्तद्वान् असत् भवेत् । ❀ भवच्छब्दयोगे प्रथमपुरुषः पुरुषव्यत्ययो वा ❀ । समानविद्यावयोवित्तकर्माणः पुरुषा यथा त्वां सेवेरन् तथा भवेरित्यर्थः। सविता सर्वस्य प्रेरको देवः तथा तेनोक्तप्रकारेण त्वा त्वां मणिबन्धकं करत् कुर्यात् । ❀ करोतेः पूर्ववद् अडागमः। यद्वा करोतेश्छान्दसे लुङि "कृमृदृरुहिभ्यः०" इति च्लेः अङ्। "ऋदृशोऽङि गुणः" इति गुणः । "०अमाङ्योगेपि" इति अडभावः ❀ । अस्तृतः एतन्नामा मणिस्त्वाम् अभि रक्षतु इति पूर्ववत् ॥

इति एकोनत्रिंशे काण्डे षष्ठेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

[इस मन्त्रमें यह प्रार्थना की है, कि–सविता देवता इस मणिके प्रभावसे इस मणिधारक पुरुषको सबमें श्रेष्ठत्व और शत्रुओंको दबानेकी शक्ति प्रदान करें] हे साधक पुरुष ! तू जिस प्रकार सर्वश्रेष्ठ हो जावे, तू जिस प्रकार शत्रुरहित होजावे और जो शत्रु भाग जावें उनका भी मारनेवाला होजावे, और तू जिस प्रकार समान अवस्था विद्या वित्त और कर्म वालोंमें उनको वशमें रखने

वाला होवे तिस प्रकार सविता देवता तुझ पर अनुग्रह करें। यह अस्तृत मणि तेरी रक्षा करे ॥ ७ ॥

उन्नीसवें काण्डके छठे अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५९०)

"आ रात्रि पार्थिवम्" इति सूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम्। "इषिरा योषा" इति सूक्तद्वयमपि अर्थसूक्तम्। अस्य सूक्तद्वययुगलस्य रात्रीकल्पे राज्युपस्थाने जपे च विनियोगः। "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह" इति [प० ४. ३] प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे। "आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषेति सूक्ताभ्याम् अन्वारभ्य जपेत्" इति [प० ४. ४]। "पैष्टीं रात्रिं कृत्वा चतुर्भिर्दीपकैरर्चयित्वा आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषेति सूक्तद्वयेन रात्रिम् उपस्थाय" इति [प० ४. ५] च। अर्थसूक्तद्वयेनेत्यर्थः ॥

"आ रात्रि पार्थिवम्" ये दो अर्थसूक्त हैं। और "इषिरा योषा" ये दोनों सूक्त भी अर्थसूक्त हैं। इनका रात्रिकल्पके राज्युपस्थान में और जपमें विनियोग होता है। "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह" (परिशिष्ट ४ । ३) का आरंभ करके अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि—"०आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषेति सूक्तद्वयेन रात्रिं उपस्थाय" (परिशिष्ट ४ । ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः ॥ १ ॥

आ। रात्रि। पार्थिवम्। रजः। पितुः। अप्रायि। धामऽभिः।
दिवः। सदांसि। बृहती। वि। तिष्ठसे। आ। त्वेषम्। वर्तते। तमः ॥ १ ॥

हे रात्रि। ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इति ङीप्। संबुद्धौ ह्रस्वः ❀। त्वया पार्थिवम् पृथिवीरूपम्। ❀ प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् पृथिवी-

शब्दात् स्वार्थे अण् प्रत्ययः । व्यत्ययेन आद्युदात्तः ❀ । रजः लोकः । "लोका रजांस्युच्यन्ते" इति यास्कः [नि० ४, १९] । यद्वा पार्थिवम् पृथिव्यां भवम् । ❀ उत्सादित्वाद् अञ् प्रत्ययः । "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" इति आद्युदात्तः ❀ । रजः स्थानं पृथिवी-संबन्धिस्थलगिरिनदीसमुद्रादिकम् । पितुः । पितृशब्देन द्युलोको-भिधीयते । "द्यौः पिता पृथिवी माता" इति हि मन्त्रवर्णः [तै० ब्रा० ३, ७, ५, ४] । अत्र तृतीयस्य स्वर्गलोकस्य पृथगभिधानाद् मध्यमभूतान्तरिक्षलोको विवक्षितः । तस्य धामभिः स्थानैः सह । ❀ "वृद्धो यूना०" इति निपातनात् सहशब्दाभावेपि तृतीया ❀ । अन्तरिक्षलोकेन सह आप्रायि आपूरि तल्लोकद्वयं तमसा आपूरि । ❀ प्रा पूरणे । कर्मणि लुङि चिण् । आतो युगागमः ❀ । तथा बृहती महती सर्वत्र व्यापिनी सती दिवः द्युलोकस्य तृतीयस्य सदांसि । ❀ सीदन्त्यत्रेति अधिकरणे सदे-रसुन् ❀ । स्थानानि वितिष्ठसे विशेषेण व्याप्नोषि । ❀ "समवप्रविभ्यः स्थः" इति तिष्ठतेरात्मनेपदम् ❀ । एवं लोकत्रयव्या-पित्वेन त्वदीयेन त्वेषम् दीप्यमानं नीलवर्णं तमः अन्धकारः आ वर्तते सर्वम् आवृत्य तिष्ठति । अथ वा पृथिवीलोकाद् उत्थाय द्युलोकम् आवृणोति तस्माच्च पृथिवीम् इति तमःकैवल्यमेव वर्तते ॥

हे रात्रि ! तूने पृथिवीलोकके गिरि नदी पर्वत स्थल आदिमें, द्युलोकके स्थानोंमें और मध्यम लोक अन्तरिक्षमें अपने अंधकार को व्याप्त कर दिया है । इस प्रकार लोकत्रयव्यापी तेरा नील-वर्णका अंधकार सबको व्याप्त करके स्थित है । इस लिये पृथिवी पर अंधकार ही अंधकार है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

न यस्याः॑ पा॒रं द॒दृशे॒ न योयु॑वद् विश्व॑म॒स्यां नि वि॑शते॒ यदेज॑ति ।

अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि ॥ २ ॥

न । यस्याः । पारम् । ददृशे । न । योयुवत् । विश्वम् । अस्याम् । नि । विशते । यत् । एजति ।

अरिष्टासः । ते । उर्वि । तमस्वति । रात्रि । पारम् । अशीमहि । भद्रे । पारम् । अशीमहि ॥ २ ॥

यस्या रात्रेः पारम् परतीरम् अन्तो न ददृशे न दृश्यते अस्याम् अनवच्छिन्नायां लोकत्रयव्यापिन्यां रात्र्यां विश्वम् चराचरात्मकं जगद् योयुवत् न विभजमानं विभक्तं नासीत् किं तु विश्वम् एकाकारमेवाभूत् । ❀ यौतेर्यङ्लुगन्तात् शतरि ङित्वाद् गुणाभावे उवङ् आदेशः । "अभ्यस्तानाम् आदिः" इति आद्युदात्तत्वम् ❀ । यज्जगत् एजति कम्पते । ❀ एजृ कम्पने । लटि व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । प्राणिजातं तद् अस्यां नि विशते इतस्ततो गन्तुम् असमर्थं सत् तत्रतत्रैव निविष्टं निद्राणं भवति । यद्वा । ❀ एजतेः शतृप्रत्ययः ❀ । एजमाने कम्पमाने इतस्ततः संचलति यत् । ❀ सप्तम्या लुक् ❀ । यस्मिन् तमसि नि विशते विभक्तत्वेन अपरिदृश्यमानं विश्वं तत्रतत्रैव संविशति । ❀ विश प्रवेशने । "नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् ❀ । हे उर्वि प्रभूते । ❀ "वोतो गुणवचनात्" इति उरुशब्दाद् ङीष् ❀ । प्रभूते सर्वलोकव्यापिनि हे तमस्वति बहुलान्धकारवति । ❀ भूमार्थे मतुप् प्रत्ययः । "तसौ मत्वर्थे" इति भसंज्ञत्वात् पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः ❀ । हे रात्रि ते तव पारम् परतीरम् अन्तम् अरिष्टासः अरिष्टाः । ❀ रिशतेर्हिंसार्थात् कर्मणि क्तप्रत्ययः ❀ । सर्पव्याघ्र-

चोरप्रभृतिभिरबाधिताः सन्तः वयम् अशीमहि प्राप्नुयाम । हे भद्रे भन्दनीये कल्याणरूपे श्रेयस्करि वा रात्रि पारम् अशीमहि पारम् अवधिम् अशीमहि आदरार्था पुनरुक्तिः । ❀ अश्नातेर्लुङि विकरणस्य लुक् ❀ ॥

जिस रात्रिका दूसरा पार नहीं दीखता, उस अनवच्छिन्न त्रिलोकव्यापिनी रात्रिमें चराचरात्मक जगत् विभक्त नहीं होता है, किंतु एकाकार ही होता है । जो जगत् चेष्टा करता है वह जगत् इस रात्रिमें इधर उधर चलनेको असमर्थ रहता हुआ तहाँ ही बैठ कर निद्रित होजाता है । हे सर्वलोकव्यापिनी प्रभूत अंधकार वाली रात्रि, हम सर्प व्याघ्र चोर आदिसे अहिंसित रहते हुए तेरे पारको प्राप्त होवें, हे कल्याणरूपे रात्रि ! तेरे पारको हम प्राप्त होवें ॥ २ ॥

तृतीया ॥

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव ।
अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥ ३ ॥

ये । ते । रात्रि ! नृऽचक्षसः । द्रष्टारः । नवतिः । नव ।
अशीतिः । सन्ति । अष्टौ । उतो इति । ते । सप्त । सप्ततिः ॥३॥

अत्र सार्धमन्त्रद्वयेन सर्वलोकव्यापिन्या रात्रेः प्रभावस्य द्रष्टारो गणदेवा उच्यन्ते हे रात्रि ते तव संबन्धिनां महिम्नाम् इति शेषः । नृचक्षसः नृणां कर्मफलस्य द्रष्टारो नवोत्तरनवतिसंख्याका ये गणदेवा द्रष्टारो रात्रीप्रभावस्य आलोकयितारो ये सन्ति ये च अष्टोत्तराशीतिसंख्याका गणदेवा रात्र्या द्रष्टारः सन्ति । उतो अपि च सप्त सप्ततिः सप्तोत्तरसप्ततिसंख्याका ये गणदेवास्ते तव द्रष्टारः सन्ति । तेभिर्नः पाहि इत्युत्तरेण संबन्धः । ❀ अत्र नव-

त्यशीतिसप्तत्यादयः शब्दा नव दशतः परिमाणम् अस्येत्यर्थे नवशब्दात् तिप्रत्ययः अष्टशब्दात् तिप्रत्ययः अशीभावश्च सप्तानां दशतां सप्तभावः तिप्रत्ययः इति व्युत्पादनीयाः। ते च "०विंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्" इति सूत्रेण परिमाणार्थे निपातिताः ❀ ॥

[अब ढाई मन्त्रमें सर्वलोकव्यापिनी रात्रिके प्रभावके द्रष्टा गणदेवताओंका वर्णन किया है, कि–] हे रात्रि ! तुझसे संबन्धित मनुष्योंके कर्म फलके द्रष्टा जो निन्यानवें गणदेव हैं ! और जो रात्रिके प्रभावके देखने वाले अट्ठासी गणदेवता हैं तथा हे रात्रि ! तेरे प्रभावको देखने वाले जो सतत्तर देवगण हैं, उनके द्वारा तुम हमारी रक्षा करो ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि ।
चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥ ४ ॥

षष्टिः । च । षट् । च । रेवति । पञ्चाशत् । पञ्च । सुम्नयि ।
चत्वारः । चत्वारिंशत् । च । त्रयः । त्रिंशत् । च । वाजिनि ४

हे रेवति रयिमति । ❀ रयिशब्दाद् मतुपि "छन्दसीरः" इति मतुपो वत्वम् । "रयेर्मतौ बहुलम्" इति संप्रसारणम् । पूर्वरूपत्वे गुणः ❀। हे धनवति धनप्रदे हे रात्रि षष्टिश्च षट् च षडुत्तरषष्टिसंख्याका ये गणदेवाः सन्ति । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ ❀ । हे सुम्नयि सुम्नं सुखं तद्वति तत्स्थापिके पञ्चाशत् पञ्च पञ्चोत्तरपञ्चाशत्संख्याका ये गणदेवा द्रष्टारः सन्ति। तथा चत्वारश्चत्वारिंशत् चतुरुत्तराश्चत्वारिंशत्संख्याकाश्च ये सन्ति । हे वाजिनि वाजः अन्नं तद्वति वेगो वा वाजः तद्युक्ते त्रयस्त्रिंशत् त्र्यु-

त्त्वारिंशत्संख्याका ये तव द्रष्टारो गणदेवा सन्ति। तेभिर्नः पाहि इत्युत्तरेण संबन्धः । ❀ षण्णां दशतां षड्भावः तिश्च प्रत्ययः । आद्त्वं च षड् दशतः परिमाणम् अस्य षष्टिः । पञ्चानां दशतां पञ्चभावः आशच्च प्रत्ययः। चत्वारः। "चतुरनडुहोराम् उदात्तः" इति आम् आगमः । चतुर्णां दशतां चत्वारिन्भावः शच्च प्रत्ययः । त्रयाणां दशतां त्रिन्भावः शच्च प्रत्ययः । त्रयोः दशतः परिमाणम् अस्य त्रिंशत् । एवं परिमाणार्थे पूर्वसूत्रेण षष्ट्यादिशब्दा निपातिताः ❀ ॥

हे धन प्रदान करने वाली रात्रि ! जो आपके छियासठ देवगण हैं । हे सुख प्रदान करने वाली रात्रि ! आपके जो पचपन देवगण हैं, हे अन्न प्रदान करने वाली रात्रि ! आपके जो चौवालीस देवगण हैं उनके द्वारा आप हमारी रक्षा करिये ४

पञ्चमी ॥

द्वौ च॑ ते विंश॒तिश्च॑ ते॒ रात्र्येका॑दशाव॒माः ।
तेभि॑र्नो अ॒द्य पा॒युभि॒र्नु पा॑हि दुहितर्दिवः ॥ ५ ॥

द्वौ । च॒ । ते॒ । वि॒श॒तिः । च॒ । ते॒ । रात्रि॑ । एका॑दश । अ॒व॒माः।
तेभि॑ः । नः॒। अ॒द्य । पा॒युऽभि॑ः । नु । पा॒हि॒ । दु॒हि॒तः । दि॒वः ५

हे रात्रि विभावरि ते तव द्वौ विंशतिः अधिकविंशतिसंख्याका ये गणदेवा द्रष्टारः सन्ति । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । ❀ द्वयोर्दशतोर्विन्भावः शतिश्च प्रत्ययः । द्वौ दशतौ परिमाणम् अस्य विंशतिः । अत्र नवत्यादयो विंशतिपर्यन्ताः शब्दाः संख्येयवचनाः ❀ । तथा अवमाः संख्यातो निकृष्टा न्यूना एकादश एकश्च दश च एकोत्तरदशसंख्याका ये गणदेवास्त्वदीयव्यासिद्रष्टारः सन्ति । ❀ एकश्च दश चेति द्वन्द्वे "संख्या" इति पूर्वपदप्रकृतिस्वर-

त्वम् ❀ । हे दिवो दुहितः द्युलोकस्य पुत्रि । आलोकाभावे रात्रिः आकाशाद् आपतन्तीव दृश्यते अतो रात्र्या लोकस्य पुत्रीत्यभिधीयते । ❀ "परमपि च्छन्दसि" इति षष्ठ्यन्तस्य आमन्त्रिताङ्गवद्भावात् षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य सर्वानुदात्तत्वम् ❀ । एवंविधे हे रात्रि त्वम् अद्य इदानीं नु क्षिप्रं तेभिः पूर्वमन्त्रोक्तैर्नवनवत्यादिभिः एकादशान्तैस्त्वदीयव्याप्तिदर्शकैः पायुभिः रक्षकैः । ❀ कृवापाजिमि० [उ० १. १] इति पातेः उण् प्रत्ययः ❀ । गणदेवैर्नः अस्मान् पाहि रक्ष ॥

और हे रात्रि ! तेरे जो बाईस देवगण हैं और और हे रात्रि ! तेरी व्याप्तिको देखने वाले तेरे जो न्यूनसे न्यून ग्यारह देवगण हैं हे द्युलोककी पुत्री ! (आलोकके अभाववश रात्रि आकाश से पतित होती हुई सी दीखती है अत एव रात्रिको द्युलोककी पुत्री कहा है ।) हे रात्रि ! तू इस समय निन्यानवेंसे लेकर ग्यारह तकके अपनी व्याप्तिके दर्शक रक्षकोंके द्वारा हमारी रक्षा कर ॥ ५ ॥

रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत ।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत ॥६॥

माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः ।
परमेभिः पथिभिः स्तेनो धावतु तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ ७ ॥

रक्ष । माकिः । नः । अघऽशंसः । ईशत । मा । नः । दुःऽशंसः । ईशत
मा । नः । अद्य । गवाम् । स्तेनः । मा । अवीनाम् । वृकः । ईशत ६

मा । अश्वानाम् । भद्रे । तस्करः । मा । नृणाम् । यातुऽधान्यः ।

परमेभिः । पथिऽभिः । स्तेनः । धावतु । तस्करः ।

परेण । दत्वती । रज्जुः । परेण । अघऽयुः । अर्षतु ॥ ७ ॥

षष्ठी ॥ द्विपदेयम् ऋक् । हे रात्रि रक्ष पालय नः अस्मान् । रक्षणं नाम परकृतबाधापरिहारः । तद् आह । अघशंसः अघं पापं हिंसालक्षणं तत् शंसति कथयतीति अघशंसः त्वाम् अहं हन्मि इत्येवंवादी । अघेन पापेन क्रूरेण अस्त्रादिना शंसति हिनस्तीति वा अघशंसः । ❀ शस हिंसायाम् इति धातुः ❀ । एतादृशो माकिः न कश्चनापि नः अस्माकम् ईशत मा ईष्टाम् । ❀ माकि-रि तः निपातसमुदायः । तत्र मा इति निपातः क्रियापदेन सं-बध्यते । किशब्दः कश्चनेत्यर्थं कथयन् अघशंसेन संबध्यते ❀ । हिंसकः कश्चनापि अस्मान् बाधितुम् ईश्वरः समर्थो मा भवत्वि-त्यर्थः । ❀ ईश ऐश्वर्ये । अस्मात् "स्मोत्तरे लङ् च" इति स्मो-त्तरत्वाभावेपि माङि उपपदे लङ् । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः ❀ । तथा दुःशंसः दुष्टं दुर्वचनस्य कथयिता दुष्टं वा हिंसिता शत्रुः नः अस्माकं मा ईशतेति पूर्ववद् योज्यम् ॥

सप्तमी ॥ हे रात्रे स्तेनः चोरः अद्य इदानीं नः अस्मदीयानां गवाम् । मा ईशतेति क्रियानुषङ्गः । गवापहर्ता मा भवतु । वृकः वृकति आदत्त इति वृकः आरण्यश्वा । ❀ इगुपधलक्षणः क-प्रत्ययः ❀ । अवीनाम् अविजातीयानां पशूनां मा ईशत बलाद् अपहर्तुं शक्तो मा भवतु । हे भद्रे भन्दनीये रात्रि तस्करः तत् प्रसिद्धम् अनर्थजातं करोतीति तस्करश्चोरः । ❀ "तद्बृहतोः कर-पत्योः०" इति चोरेभिधेये तच्छब्दस्य सुडागमः तशब्दलोपश्च ❀ । अश्वानाम् अस्मदीयानां तुरंगमाणाम् । मा ईशतेत्यनुषङ्ग । तथा

नृणानां नेतृणां कर्मसु व्याप्रियमाणानां पुत्रभृत्यादीनाम् । ❀ "नृ च" इति दीर्घस्य विकल्पितत्वाद् अत्र दीर्घाभावः ❀ । यातुधानाः यातवो यातनाः पीडा धीयन्ते विधीयन्ते जनानाम् एभिः । ❀ इति करणे ल्युट् ❀ । यातूनां धातारो वा । ❀ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि ल्युट् ❀ । ईदृशाः पिशाचादयो मा ईशत नृणां बाधका मा भवन्तु ॥

अष्टमी ॥ स्तेनतस्करयोरेको यौगिकः । तद्द् धनापहरणादिकं करोतीति तस्करः तादृशस्तेनश्चोरः परमेभिः अतिदूरैः पथिभिः मार्गैः साधनैर्धावतु शीघ्रं गच्छतु पलायताम् । त्वदीयोपस्थान-बलाद् अस्मदभिमुखश्चोरो व्याकुलः सन् अतिदूरं देशं गच्छतु । ❀ सर्तेर्वेगितायां गतौ धावादेशः ❀ । तथा दत्वती दन्तवती । ❀ "छन्दसि च" इति दन्तशब्दस्य दद्भावः । "झयः" इति मतुपो वत्वम् ❀ । रज्जुः रज्जुवद् आयतः सर्पादिः परेण अति-दूरेण मार्गेण धावतु । तथा अघायुः अघं पापं हिंसालक्षणं परस्य इच्छतीति अघायुः । ❀ "छन्दसि परेच्छायामपि" इति क्यच् । "अश्वाघस्यात्" इति आत्वम् । "क्याच्छन्दसि" इति उप्रत्ययः ❀ । एवंविधो बाधकः परेण दूरेण अर्षतु गच्छतु । ❀ ऋषी गतौ । भौवादिकः ❀ ॥

हे रात्रि ! हमारी रक्षा कर ! [दूसरोंकी दी हुई बाधासे हमको बचा] मैं तुझको मार डालूँगा—इस प्रकार जो पाप भरे वचनको बोले ऐसा कोई भी मेरे ऊपर आरूढ़ न होसके अर्थात् कोई भी हिंसक मुझे पीड़ा देनेमें समर्थ न होवे । तथा दुर्वचनको कहने वाला कोई भी शत्रु मुझ पर अपनी प्रभुता न जमा सके । हे रात्रे ! चोर हमारी गौओंका हरण करनेमें समर्थ न होवे । और भेड़िया हमारी भेड़ोंको बलपूर्वक ले जानेमें समर्थ न होवे । हे कल्याणि रात्रि ! चोर हमारे घोड़ोंको ले जानेमें समर्थ न

होवे। और हमारे पुत्र भृत्य आदि मनुष्यों पर यातुधानी और पिशाच आदि बाधक न होसकें॥ वह धनापहरण आदिको करने वाला तस्कर चोर परम दूरके मार्गोंसे होता हुआ भाग जावे। आपके उपस्थानके बलसे हमारे अभिमुख आता हुआ चोर व्याकुल होकर दूरको भाग जावें। तथा दाँत वाली रज्जु सर्प आदि दूरके मार्गको भाग जावे और हिंसारूपी पापको चाहने वाला अघायु दूर भाग जावे॥ ६॥ ७॥

नवमी॥

अधं रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु।
हनू वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि॥ ८॥

अध। रात्रि। तृष्टऽधूमम्। अशीर्षाणम्। अहिम्। कृणु।
हनू इति। वृकस्य। जम्भयाः। तेन। तम्। द्रुऽपदे। जहि॥८॥

अध अथ। अपि चेत्यर्थः। हे रात्रि तृष्टधूमम्। ❀ ञितृष पिपासायाम्। अस्माद्‌ "गत्यर्थाकर्मक०" इति कर्तरि क्तः। अत्र पिपासार्थेन तृषिणा तज्जन्या आर्तिर्विवक्ष्यते ❀। आर्तिकारी धूमः विषज्वालाधूमः निश्वासधूमो वा यस्य तं परोपद्रवकारिविषज्वालापरिवृतम् अहिम् सर्पम् अशीर्षाणम् अशिरस्कं कृणु कुरु। विषपरीतम् अहेः शिरश्छिन्द्धीत्यर्थः। ❀ "शीर्षश्छन्दसि" इति शिरसः शीर्षभावः ❀॥ किं च वृकस्य अजादिप्रभृतीनाम् अपहर्तुः आरण्यशुनो हनू मुखस्य अन्तः स्थूलदन्तयुक्तौ पार्श्वौ परश्वादानसाधनभूतौ जम्भयाः जम्भयेः। ❀ जभि हिंसाकर्मा। जभिजृभी गात्रविनामे। अस्माल्लेटि आडागमः ❀। तेन यतो हनू निमर्दितौ तेन कारणेन तं निष्पिष्टहनुकं वृकं द्रुपदे द्रुद्रुमः तस्य पदे स्थाने जहि घातय। द्रुपदे इति रात्रेर्विशेषणं

वा। द्रुः सर्वतोभिद्रवणम् अभिद्रवणसाधनपादयुक्ते सर्वतो व्यापिनि रात्रि तं जहीति। ❀ हन्तेर्लोटि "हन्तेर्जः" इति जादेशे "असिद्धवदत्राभात्" इति जादेशस्य असिद्धत्वात् हेर्लुक् न भवति ❀ ॥

हे रात्रि! जिसका श्वासरूपी धुआँ पीड़ा देने वाला है उस सर्पको तुम शिररहित करो और भेड़ बकरी आदिका अपहरण करने वाले भेड़ियेके जो पशुओंको पकड़नेके स्थूल दाँतों वाले पार्श्व (हनू) हैं उनको भी नष्ट कर डालो। उसके हनूको नष्ट करनेके अनन्तर उस भेड़ियेको पेड़के नीचे समाप्त करदो ॥८॥

दशमी ॥

त्वयिं रात्रि वसामसि स्वपिष्यामंसि जागृहि।
गोभ्यो नः शर्म यच्छाश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः ॥ ९ ॥

त्वयि। रात्रि। वसामसि। स्वपिष्यामसि। जागृहि।
गोभ्यः। नः। शर्म। यच्छ। अश्वेभ्यः। पुरुषेभ्यः ॥ ९ ॥

हे रात्रि त्वयि। देवताभिप्रायेण अधिकरणत्वं त्वत्कृतरक्षणनिमित्ते वा। वसामसि, वसामः। एकत्र निवसामः। न केवलं निवासमात्रं किं तु स्वपिष्यामसि स्वप्स्यामः। निद्रां करिष्यामः। ❀ उभयत्र "इदन्तो मसिः"। स्वपेर्ण्यत्येन इडागमः ❀। पुत्रमित्राद्यपेक्षया बहुवचनम्। यद्वा त्वयि अस्मदीयं सर्वं भारं निधायेति शेषः। वसामः स्वप्स्यामश्च। त्वं तु जागृहि। अस्मान् रक्षितुम् अवहिता भव। ❀ जागृ निद्राक्षये। अदादिकः ❀ ॥ न केवलम् अस्मद्रक्षणे जागरिता किं तु नः अस्माकं गोभ्यः गोष्ठे निवसद्भ्यः अश्वेभ्यः पुरुषेभ्यश्च गृहे निवसद्भ्यः शर्म सुखं यच्छ। यथा निद्राणास्ते तव पारं क्षेमेण प्राप्नुयुस्तथा कुर्वित्यर्थः ॥

इति षष्ठेनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे रात्रि ! आपकी कीहुई रक्षाके प्रभाववश हम रहते हैं और सो भी सकेंगे। वा-आपके ऊपर सब भार रख कर हम रहते हैं और सोवेंगे, आप जागती रहें। हमारी रक्षा करनेके लिये सावधान होजावें। केवल हमारी रक्षा करनेके लिये जागती ही न रहें, किन्तु हमारी गोठमें रहने वाली गौओंको, घोड़ोंको, तथा घरमें रहने वाले पुरुषोंको सुख प्रदान करिये ॥ तात्पर्य यह है, कि-जिस प्रकार निद्रा लेते हुए वे आपके पारको सुखपूर्वक प्राप्त करें, तैसा करिये ॥ ६ ॥

छठे अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (७३१)

"अथो यानि च" इति सूक्तस्य रात्रीकल्पे रात्र्युपस्थाने जपे च विनियोगः पूर्वसूक्तेन सहोक्तः ॥

"अथो यानि च" इस सूक्तका रात्रिकल्पके रात्र्युपस्थानमें और जपमें विनियोग होता है, यह बात पहिले सूक्तके साथ कहदी है

तत्र प्रथमा ॥

अथो यानि च यस्मा ह यानि चान्तः परीणहि ।

तानि ते परि दद्मसि ॥ १ ॥

रात्रि मातरुषसे न परि देहि ।

उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि ॥ २ ॥

अथो इति । यानि । च । यस्मै । ह । यानि । च । अन्तः । परिऽनहि ।

तानि । ते । परि । दद्मसि ॥ १ ॥

रात्रि । मातः । उषसे । नः । परि । देहि ।

उषाः । नः । अह्ने । परि । ददातु । अहः । तुभ्यम् । विभावरि २

प्रथमा ॥ पूर्वमन्त्रे गवादयो विशेषेण उक्ताः । अत्र तु उक्तान्यनुक्तानि वा बहिष्ठानि गृहवर्तीनि च संग्रहेणाह । अथो अपि च यस्मै यस्य मम संबन्धीनि बहिष्ठानि गोचरप्रदेशे अनावृतदेशे वर्तमानानि यानि वस्तूनि वर्तन्ते । यानि च परीणहि परितो नद्धे परिश्रिते गृहादौ अन्तः मध्ये यानि वर्तन्ते । ❀ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । परिपूर्वाद् नहेः क्विपि "नहिवृतिवृषि०" इत्यादिना उपसर्गस्य दीर्घः ❀ । परीणच्छब्दो गृहवाची तैत्तिरीयके समाम्नायते । "तमसीव वा एषोन्तश्चरति यः परीणहि" इति [तै० ब्रा० ३. २. ४. ७] । तानि प्रकाशानि अप्रकाशानि द्विविधानि वस्तूनि ते तुभ्यं परि दद्मसि । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षितुं प्रयच्छामः । ❀ पूर्ववद् "इदन्तो मसिः" ❀ ॥ हे मातः मातृवत्परिपालयित्रि हे रात्रि नः अस्मान् उषसे त्वत्समनन्तरभाविने प्रभातकालाय परि देहि रक्षणार्थं प्रयच्छ । हशब्दः पूरणः । तव पारम् उषःकालपर्यन्तं सुखेन अस्मान् प्रापयेत्यर्थः ॥

द्वितीया ॥ द्विपदा । उषाः उषःकालः सूर्योदयसमीपवर्ती समयः अह्ने सूर्यप्रकाशवते उषःकालानन्तरभाविने प्रातःसंगवमध्याह्नापराह्णसायाह्नरूपाय दिवसाय नः अस्मान् परि ददातु । उषःकालो दिवससमाप्तिपर्यन्तम् अस्मान् रक्षत्वित्यर्थः । हे विभावरि रात्रि । ❀ भा दीप्तौ । विपूर्वाद् "आतो मनिन्०" इति क्वनिप् । "वनोर च" इति ङीप् । नकारस्य च रेफः ❀ । अहः उक्तलक्षणोपेतः अहःकालश्च तुभ्यं नः परि ददातु । एवं पुन पुनरावर्तमानौ अहोरात्रौ अस्मान् रक्षताम् इत्यर्थः ॥

[पूर्वमन्त्रमें गौ आदिका विशेषरूपसे वर्णन किया यहाँ वर्णित और अवर्णित बाहरकी वा भीतर स्थित सब वस्तुओंका संग्रह करके कहा है, कि -] अब जो बाहर उघड़े हुए गोचर प्रदेशमें

मेरी वस्तुएं हैं, और जो चारों ओरसे छायेहुए परीणह (घर) ‡के भीतर जो मेरी वस्तुएँ हैं–उन प्रकट और अप्रकट दोनों प्रकारकी वस्तुओंका हम रक्षाके निमित्त आपको सौंपते हैं। हे माताकी समान पालन करने वाली रात्रि मातः ! आप हमको, अपने अनन्तर होने वाले उषःकालके लिये रक्षार्थ, प्रदान करिये। अर्थात् उषःकाल तक अपने पार हमको सुखपूर्वक पहुँचाइये॥ और सूर्योदयके पासका जो समय है, वह उषःकालके अनन्तर ही होने वाले सूर्यके प्रकाशसे संयुक्त दिन नामक समयको हमें प्रदान करे, अर्थात् उषःकाल दिनकी समाप्ति तक हमारी रक्षा करता रहे। हे विभावरि ! दिन, हमको फिर आपको प्रदान करे। तात्पर्य यह है, कि–इस प्रकार वारम्वार आवर्तन करते हुए दिन और रात्रि हमारी रक्षा करें॥ १॥ २॥

तृतीया॥

यत् किं चेदं पतयति यत् किं चेदं सरीसृपम्।

यत् किं च पर्वतायासत्वं तस्मात् त्वं रात्रि पाहि नः ३

यत्। किम्। च। इदम्। पतयति। यत्। किम्। च। इदम्। सरीसृपम्।

यत्। किम्। च। पर्वताय। असत्वम्। तस्मात्। त्वम्। रात्रि। पाहि। नः॥ ३॥

‡ परीणह शब्द गृहका वाचक है, इसी बातको तैत्तिरीय-ब्राह्मण ३। २। ९। ७ में कहा है, कि–"तमसीव वा एषोऽन्तश्चरति यः परीणहि।–जो घरके भीतर रहता है वह मानो अंधकारमें ही विचरण करता रहता है"॥

यत्किंच यत्किंचिद्ध इदं परिदृश्यमानं श्येनपक्ष्यादिकं पतयति आकाशे संचरति । ❀ पत गतौ । चुरादिः । अदन्तः ❀ । यत्किंचेदं सरीसृपम् भूमौ सरणशीलं सर्पादिकं यद् अस्ति । ❀ सृप्लृ गतौ । अस्माद् यङि "रीगृदुपधस्य च" इति अभ्यासस्य रीगागमः । पचाद्यचि "यङोचि च" इति यङो लुकि "न धातुलोप आर्धधातुके" इति गुणप्रतिषेधः ❀ । यत्किंच पर्वताय पर्वतस्य संबन्धि असत्त्वम् । सत्त्वशब्दः प्राणिवाची । दुष्टं सत्त्वम् असत्त्वम् व्याघ्रसिंहादिकम् अस्ति तस्माद् उक्ताद् सर्वस्मात् पक्षिसर्पदुष्टमृगादिरूपाद् बाधकात् हे रात्रि त्वं नः अस्मान् पाहि रक्ष। ❀ "भीत्रार्थानाम्०" इति अपादानत्वात् तस्माद् इति पञ्चमी ❀ ॥

आकाशमें उड़ने वाला जो श्येन आदि पक्षिसमूह है, और जो भूमिमें सरकने वाले सर्प आदि हैं और जो पर्वतमें विचरण करने वाले व्याघ्र सिंह आदि दुष्ट सत्त्व हैं, उन सब बाधकोंसे हे रात्रि ! आप हमारी रक्षा करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सा पश्चात् पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत ।

गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४ ॥

सा । पश्चात् । पाहि । सा । पुरः । सा । उत्तरात् । अधरात् । उत ।

गोपाय । नः । विभावरि । स्तोतारः । ते । इह । स्मसि ॥ ४ ॥

हे रात्रि सा पूर्वोक्तलक्षणा त्वं पश्चात् पश्चिमभागे यत्र वयं वसामः स्वप्स्यामश्च तस्य पश्चिमभागे पाहि रक्ष अस्मान् । तथा सा त्वं पुरः पूर्वस्यां दिशि पाहि । ❀ "पूर्वाधरावराणाम् असि पुरधवश्चैषाम्" इति पूर्वशब्दाद् असि प्रत्ययः पुरादेशश्च ❀ ।

उत अपि च सा त्वम् उत्तरात् उत्तरतः अधरात् दक्षिणतः पाहि। उत्तरमतियोगिकः अधरशब्दो दक्षिणदिग्वाची । ❀ "उत्तराधर-दक्षिणाद् आतिः" इति उभयत्र आतिप्रत्ययः ❀ ॥ किं च हे विभावरि रात्रि नः अस्मान् गोपाय । पूर्वं दिग्विशेषनिबन्धनं रक्षणम् उक्तम् । अत्र सामान्येन रक्षणं विवक्ष्यते । ❀ "गुपू-धूप०" इति आयप्रत्ययः ❀ । रक्षणे आवश्यकत्वम् आह चतुर्थ-पादेन । इह अस्मिन् काले ते तव स्तोतारः स्मसि स्तुतिकर्तारो भवामः । ❀ "इदन्तो मसिः ❀ " ॥

हे पूर्वोक्त लक्षणों वाली रात्रि ! जहाँ हम वसते हैं और सोवेंगे उसके पश्चिमभागमें आप हमारी रक्षा करिये ! और उसके पूर्वभागमें भी आप हमारी रक्षा करिये। तथा उत्तर और दक्षिण दिशाकी ओर भी आप हमारी रक्षा करिये हे विभावरि ! आप हमारी रक्षा करिये, इस समय हम आपकी स्तुति कर रहे हैं ४

पञ्चमी ॥

ये रात्रि॑मनुति॒ष्ठन्ति॒ ये च॑ भू॒तेषु॒ जाग्र॑ति ।
प॒शून् ये सर्वा॑न् रक्ष॑न्ति॒ ते न॑ आ॒त्मसु॑ जाग्र॑ति॒ ते
नः॑ प॒शुषु॑ जाग्र॑ति ॥ ५ ॥

ये । रात्रि॑म् । अ॒नु॒ऽति॒ष्ठन्ति॑ । ये । च॒ । भू॒तेषु॑ । जाग्र॑ति ।
प॒शून् । ये । सर्वा॑न् । रक्ष॑न्ति । ते । नः॒ । आ॒त्मऽसु॑ । जा॒ग्र॒ति॒ ।
ते । नः॒ । प॒शुषु॑ । जा॒ग्र॒ति॒ ॥ ५ ॥

ये जना रात्रिम् । ❀ "रात्रेश्चाजसौ" इत्यत्र "अजसादिषु" इति वचनात् जसादिषु दासेन अत्र ङीबभावः ❀ । अनुतिष्ठन्ति रात्रिविषयं कर्म अर्चनजपोपासनरूपं कुर्वन्ति । ये च जना भूतेषु

भवनंवस्तु प्राणिषु । ❀ विषयसप्तमी ❀ । तद्विषये जाग्रति रक्षणार्थम् अवहिता भवन्ति। ये च सर्वान् गवाश्वादीन् पशून् रक्षन्ति रात्रौ भयहेतुभ्यः पालयन्ति । ते सर्वे नः अस्माकम् आत्मसु स्वशरीरे। तत्संबन्धिविवक्षया बहुवचनम् । अस्मदीयपुत्रमित्रादिषु विषये जाग्रति जागृयुः । रक्षणार्थम् अवहिता भवेयुः । ते च नः अस्माकं पशुषु विषये जाग्रति जागृयुः । ❀ अत्र लिङर्थे लट् द्रष्टव्यः । जागृ निद्राक्षये । आदादिकः ❀ ॥

जो पुरुष रात्रिविषयक पूजन जप और उपासनाको करते हैं, और जो पुरुष प्राणियोंमें रक्षा करनेके लिये जागते रहते हैं और जो गौ आदि सब पशुओंको रात्रिमें भयके कारणोंसे बचाते रहते हैं । वे सब हमारे शरीरकी और हमारे पुत्र मित्र आदिके शरीर की रक्षाके लिये जागृत रहें। और हमारे पशुओंकी रक्षाके लिये सावधान रहें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

वेद वै रात्रि ते नाम घृताची नाम वा असि ।
तां त्वां भरद्वाजो वेद सा नो वित्तेधि जाग्रति ६

वेद । वै । रात्रि । ते । नाम । घृताची । नाम । वै । असि ।
ताम् । त्वाम् । भरत्ऽवाजः । वेद । सा । नः । वित्ते । अधि । जाग्रति ॥ ६ ॥

हे रात्रि ते तव नाम नामधेयं वेद वेद्मि । ❀ "विदो लटो वा" इति मिपो णल् आदेशः ❀ । वैशब्दः प्रसिद्धौ। स्वेन ज्ञातं नामधेयं निर्दिशति घृताची नामेति । घृताची । ❀ घृ क्षरणदीप्त्योः । अस्माद् भावे क्तः ❀ । घृतं दीप्तिम् अञ्चतीति घृताची दीप्ति-

मती। ❀ घृतपूर्वाद् अञ्चतेः क्विन्। "अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्" इति ङीप्। "अचः" इति अकारलोपः। "चौ" इति दीर्घः ❀। इति नाम असि। नामशब्दः प्रसिद्धौ। घृताचीति नाम्ना व्यवह्रियस इत्यर्थः। वैशब्दः प्रसिद्धौ। ताम् उक्तनामिकां त्वां भरद्वाजः भरत् पोषकं वाजः अन्नं यस्य। ❀ भृञ् भरणे। भौवादिकात् शतृप्रत्ययः ❀। एतन्नामा महर्षिः वेद जानाति। अत एव रात्रेर्भरद्वाजसंबन्धित्वं कात्यायन आह। "रात्रिर्वा भारद्वाजी रात्रिस्तवम्" इति [स० अ० ६२]। सा उक्तलक्षणोपेता भरद्वाजेन विदितप्रभावा रात्रिः नः अस्माकं वित्ते पशुपुत्रादिरूपे धने। अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी। वित्तविषये अधिकं वा जाग्रति जागर्तु। रक्षणार्थम् अवहिता भवतु। ❀ जागर्तेर्लेटि अडागमः। गुणाभावश्छान्दसः ❀॥

इति षष्ठेनुवाके तृतीयं सूक्तम्॥

हे रात्रि! मैं तेरे नामको जानता हूँ, तेरा नाम घृताची है अर्थात् दीप्तिमती है। ऐसी तुझको भरद्वाज नामक ऋषि जानते हैं ‡ हे भरद्वाजको विदित है प्रभाव जिसका रात्रि! हमारे पशु पुत्र आदि रूप धनमें आप जागृत रहें-रक्षाके लिये सावधान रहें ६

छठे अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (५९२)॥

"इषिरा योषा" इति सूक्तद्वयम् अर्थसूक्तम्। रात्रीकल्पे पुरोहितकर्तव्ये रात्रीसमर्चनकर्मणि रात्र्युपस्थाने च अस्य सूक्तस्य विनियोगः। "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह" इति [प०

‡ भरद्वाज शब्दकी व्युत्पत्ति यह है, कि-जिनके पास भरत् अर्थात् पोषक, वाज अर्थात् अन्न रहता है वह भरद्वाज ऋषि हैं। कात्यायनमुनिने रात्रिका और भरद्वाज ऋषिका सम्बन्ध दिखाया है, कि "रात्रिर्वा भारद्वाजी रात्रिस्तवम्" (सर्वानुक्रम-ऋक्संहिता)॥

४. ३] प्रक्रम्य उक्तं परिशिष्टे । "आ रात्रि पार्थिवम् [१९. ४७] इषिरा योषा [१९. ४९] इति सूक्ताभ्याम् अन्वारभ्य जपेत्" इति [प० ४. ४] "पैष्टीं रात्रिं कृत्वा चतुर्भिर्दीपकैरर्चयित्वा आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषा इति सूक्तद्वयेन रात्रिम् उपस्थाय" इति च [प० ४. ५]॥

"इषिरा योषा" ये दोनों सूक्त अर्थसूक्त हैं। रात्रिकल्पमें पुरोहितके कर्तव्य रात्रिपूजनकर्ममें और रात्रिके उपस्थानमें भी इसका विनियोग है। "अथ पिष्टमयीं रात्रिं चतुर्भिर्दीपकैः सह" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ३) का आरम्भ करके परिशिष्टमें कहा है, कि—"आ रात्रि पार्थिवम् (१९ । ४७) इषिरा योषा (१९ । ४९) इति सूक्ताभ्यां अन्वारभ्य जपेत् ।" (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ४) और पैष्टीं रात्रिं कृत्वा चतुर्भिर्दीपकैरर्चयित्वा आ रात्रि पार्थिवम् इषिरा योषा इति सूक्तद्वयेन रात्रिम् उपस्थाय" इति च (अथर्वपरिशिष्ट ४ । ५) ॥

तत्र प्रथमा ॥

इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य।
अश्वक्षभा सुहवा संभृतश्रीरा पप्रौ द्यावापृथिवी महित्वा

इषिरा । योषा । युवतिः । दमूनाः । रात्री । देवस्य । सवितु । भगस्य ।
अश्वऽक्षभा । सुऽहवा । सम्ऽभृतश्रीः । आ । पप्रौ । द्यावापृथिवी इति । महिऽत्वा ॥ १ ॥

इषिरा एष्टव्या सर्वैः प्रार्थनीया । ❀ अजिरशिशिर० [उ० १. ५३] इत्यादिवद् इषे किरच्प्रत्ययान्तत्वेन [उ० १. ५१]

निपातनं द्रष्टव्यम् ❀ । यद्वा । ❀ इष गतौ । औणादिक इक् प्रत्ययः । रो मत्वर्थीयः ❀ । गतिमती सर्वत्र व्यापनशीला युवतिः यौवनवती न कदाचिद् अवस्थान्तरम् आसन्नवती अपक्षयरहिता दमूना दान्तमनाः सवितुः सर्वस्य प्रेरकस्य भगस्य भजनीयस्य । ❀ भजतेः "पुंसि संज्ञायाम्०" इति घः ❀ । एतन्नामधेयस्य देवस्य योषा योषिद् अश्वक्षभा अशूनि आशूनि स्वविषये शीघ्रप्रवृत्तीनि अक्षाणि चक्षुरादीन्द्रियाणि अभिभवति तिरस्करोतीति अश्वक्षभा । चक्षुरादिनिरोधिकेति यावत् । ❀ अश्नोतेः कृवापाजिमि० [उ० १. १] इति उण् प्रत्ययः । "संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः" इति वृद्ध्यभावः । भवतेः "डोन्यत्रापि दृश्यते"-इति डः । अत्र केवलो भवतिरभिभवनार्थे वर्तते ❀ । यद्वा "अश्वस्य बुध्नं पुरुषस्य मायुम् आ ददे" [४] इति उत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वाद् अयम् अर्थः । अश्वान् क्षायति क्षपयतीति अश्वक्षा । अश्वक्षा भा दीप्तिर्यस्याः सा । अन्धतमसेपि अश्वा दूरं पश्यन्तीति प्रसिद्धिः । तद्दर्शनशक्तिप्रतिबन्धकदीप्तियुक्तेत्यर्थः । ❀ अश्नोतेः अशूप्रुषि० [उ० १.१४६] इत्यादिना क्वन् प्रत्ययः क्षै जै षै क्षये । अस्माद् अश्वोपपदाद् "आतोनुपसर्गे कः" ❀ । सुहवा सुष्ठु ह्वातव्या संभृतश्रीः संपूर्णकान्तिः सर्वजगद्व्यापनात् स्वयमेव एका प्रतीयते यतः अतः संभृतश्रीः एवंविधलक्षणोपेता रात्री महित्वा महत्त्वेन महिम्ना द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ आ पप्रौ आपूरितवती । ❀ प्रा पूरणे । "आत औ णलः" ❀ ॥

सबके द्वारा प्रार्थना करने योग्य, सर्वत्र व्यापनशील, युवती अर्थात् कभी दूसरी अवस्थाको प्राप्त न होने वाली, दान्त मन वाली, सेवनीय देवता सूर्यदेवकी योषित्, अपने विषयोंमें शीघ्रता से प्रवृत्त होने वाली चक्षु आदि इन्द्रियोंकी शक्तिका तिरस्कार करने वाली अश्वक्षभा, भली प्रकार आह्वान करने योग्य, पूर्ण

कान्ति वाली रात्रि सर्वजगद्व्यापी होनेसे एक प्रतीत होती है, ऐसी रात्रिने अपनी महिमासे द्यावा पृथिवीको पूर्ण कर रक्खा है १

द्वितीया ॥

अति विश्वान्यरुहद् गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्र इव स्वधाभिः २

अति। विश्वानि। अरुहत्। गम्भीरः। वर्षिष्ठम्। अरुहन्त। श्रविष्ठाः।
उशती। रात्री। अनु। सा। भद्रा। अभि। तिष्ठते। मित्रःऽइव। स्वधाभिः ॥ २ ॥

गम्भीरा दुष्प्रवेशा रात्रिः विश्वानि सर्वाणि चराचरात्मकानि वस्तूनि अत्यर्हति अतिक्रम्य व्याप्य वर्तते। तत्रापि श्रविष्ठा। श्रव इति अन्ननाम। ❀ श्रूयत इति सत इति हि यास्कः [नि० १०. ३]। अतिशयेन श्रवस्विनी अन्नवती। ❀ श्रवस्विशब्दाद् इष्ठनि "विन्मतोर्लुक्"। "टेः" इति टिलोपः ❀। यद्वा श्रूयमाणा सर्वैरतिशयेन स्तूयमाना रात्रिः वर्षिष्ठम् उरुतरं वनस्पतिपर्वतसमुद्रादिकम् अर्हति। ❀ अतीत्युपसर्गोऽनुषज्यते ❀। अतिक्रम्य व्याप्य वर्तत इत्यर्थः। सर्वाभिभावित्वेन वर्तनमेव अर्हणम्। ❀ वृद्धशब्दाद् इष्ठनि वर्षादेशः ❀। उशती अनन्तरं स्वगतजनम् आकाङ्क्षन्ती सर्वं वा क्रमितुं कामयमाना रात्री अनुक्षणं वि तिष्ठते विशेषेण जगद् व्याप्नोति मित्र इव सूर्यो यथा स्वधाभिः यजमानादिप्रत्तैर्हवीरूपैरन्नैः साधनैः क्षणेक्षणे स्वतेजसा विश्वम् आक्रामति एवम् इयं रात्रिरिति ॥

यह दुष्प्रवेश रात्रि सब चराचरात्मक वस्तुओंको दबा व्याप्त होकर स्थित रहती है, सब इसकी स्तुति करते हैं, यह विशाल

वनस्पति पर्वत समुद्र आदिको व्याप्त करके स्थित है, और यह अपनेमें वर्तमान जनताको चाहती हुई व्याप्त रहती है। जैसे सूर्य यजमान आदिके दिये हुए अन्नरूपी साधनोंसे क्षण क्षणमें विश्व पर आरूढ़ होते हैं तिसी प्रकार यह आरूढ़ होती है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वर्ये वन्दे सुभगे सुजात आजगन् रात्रि सुमना इह स्याम् ।
अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥ ३ ॥

वर्ये । वन्दे । सुऽभगे । सुऽजाते । आ । अजगन् । रात्रि । सुऽमनाः । इह । स्याम् ।
अस्मान् । त्रायस्व । नर्याणि । जाता । अथो इति । यानि । गव्यानि । पुष्ट्या ॥ ३ ॥

हे वर्ये अनिरुद्धप्रभावे । ❀ "अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु" इति वृणोतेः अनिरोधेर्थे यत्प्रत्ययान्तत्वेन निपातनम् ❀। हे वदे सर्वैरभिष्टूयमाने । ❀ "घञर्थे कविधानम्" इति कर्मणि वदेः कप्रत्ययः । यजादित्वात् संप्रसारणे "संप्रसारणाच्च" इति परपूर्वत्वस्य छन्दसि विकल्पितत्वाद् अत्र परपूर्वत्वाभावः ❀ । हे सुभगे भगो भाग्यं सौभाग्यवति सर्वैः सुष्ठु संभजनीये वा । ❀ "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति भजतेर्घप्रत्ययः ❀ । हे सुजाते सुष्ठु प्रादुर्भूते हे रात्रि आ अजगन् आगतासि। ❀ गमेर्लङि मध्यमपुरुषे सिपि "बहुलं छन्दसि" इति शपः श्लुः । "मो नो धातोः" इति नत्वम् । "हल्ङ्या०" इत्यादिना सिपो

ोपः ❀ । इह अस्यां त्वय्यागतायाम् अहं सुमनाः सुमनस्कः
ियाम् भवेयम् । अनन्तरम् अस्मान् त्वदागमनेन सुमनस्कान् ।
ुत्रपश्वाद्यपेक्षया बहुवचनम् । त्रायस्व पालय । ❀ त्रैङ् पालने ।
ौवादिकः । "अनुदात्तङितः०" इति आत्मनेपदम् ❀ । तथा
जाता जातानि उत्पन्नानि नर्याणि नरहितानि वस्तूनि ।
❀ "तस्मै हितम्" इति नरशब्दाद् यत् ❀ । अथो अपि च पुष्टा
पुष्टानि पोषकाणि गव्यानि गोभ्यो हितानि । उपलक्षणम् एतत् ।
गवाश्वादिहितानि यानि वस्तूनि तान्यपि त्रायस्व । मनुष्यगवा-
दिहितरक्षणेन तेषां रक्षणं कैमुतिकसिद्धम् ॥

हे वे रोकटोक प्रभाव वाली ! हे सबसे स्तुति पाने वाली !
हे सौभाग्यवति ! हे सुन्दरतासे प्रादुर्भूत होने वाली रात्रि ! आप
आगई हैं । यहाँ आपके आने पर मैं सुन्दर मन वाला होऊँ ।
तदनन्तर आपके आनेसे प्रसन्न हुए पुत्र पशु आदि सहित हमारा
आप पालन करें । और मनुष्योंका हित करनेके लिये तथा गौ
आदि पशुओंका हित करनेके लिये प्रकट हुए पदार्थोंकी आप
रक्षा करिये [और कैमुतिकन्यायसे मनुष्य गौ आदिकी भी
रक्षा करिये] ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

सिंहस्य रात्र्युशती पींषस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च
आ ददे ।
अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे
विभाती ॥ ४ ॥

सिंहस्य । रात्री । उशती । पींषस्य । व्याघ्रस्य । द्वीपिनः । वर्चः ।
आ । ददे ।

अश्वस्य । ब्रध्नम् । पुरुषस्य । मायुम् । पुरु । रूपाणि । कृणुषे ।
विऽभाती ॥ ४ ॥

उशती कामयमाना रात्री देवता पिषस्य संचूर्णकस्य सामर्थ्याद् गजयूथस्य । ❀ पिष्लृ संचूर्णने । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" ❀ । सिंहस्य । द्वीपिनः द्विधा गता आपो यस्मिन् । ❀"अन्तरुपसर्गेभ्योऽपईत्"इति अप्शब्दाकारस्य ईकारादेशः ❀"। द्वीपम् अस्य निवासस्थानत्वेन अस्तीति । ❀ मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः ❀ । स्वाच्छन्द्येन द्वीपे उदकावेष्टिते दुर्गादौ संचरतो व्याघ्रस्य व्याजिघ्रतः शार्दूलस्य वर्चः तेजः पराभिधर्षणसामर्थ्यरूपम् आ ददे अपहृतवती । सिंहादेः परोपद्रवकारकं सामर्थ्यम् अपजहार । तथा अश्वस्य शीघ्रगामिनस्तुरंगस्य बुध्नम् मूलम् । अश्ववीर्यस्य वेगो हि मूलम् । तच्च । पुरुषस्य प्राणिनः मायुम् शब्दम् आह्वानादिलक्षणं च आ ददे । अश्वगतिनिरोधिका कुत्रापि पदार्थस्य अदर्शनात् तद्विषयवाग्व्यवहारनिरोधिका च बभूवेत्यर्थः ॥ अथ विभाती स्वयमेव विशेषेण भासमाना रात्री त्वं पुरु । ❀ सुपो लुक् ❀ । पुरूणि नानाविधानि रूपाणि कृणुषे करोषि। ❀ कृविहिंसाकरणयोश्च। "धन्विकृण्व्योर च" इति उप्रत्ययः ❀ ॥

यह कामना करने योग्य रात्रि चूरा करने वाले गजसमूहके, सिंहके, द्वीपमें स्वच्छन्दतापूर्व रहने वाले गेंडेके, दूसरेको दबाना रूप, तेजको खेंच लेती है । और अश्वके मूल (वेग)को और प्राणीके आह्वान आदि रूप शब्दको भी खेंच लेती है, इस प्रकार स्वयं ही विशेषरूपसे दमकती हुई हे रात्रि ! आप अनेक प्रकार के रूपोंको करती हैं ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

शिवां रात्रिमनुसूर्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु। अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ॥ ५ ॥

शिवाम् । रात्रिम् । अनुऽसूर्यम् । च । हिमस्य । माता । सुऽहवा । नः । अस्तु ।

अस्य । स्तोमस्य । सुऽभगे । नि । बोध । येन । त्वा । वन्दे । विश्वासु । दिक्षु ॥ ५ ॥

हे रात्रि त्वां शिवाम् शिवकारिणीम् । वन्दे इति उत्तरक्रियापदेन संबन्धः । तथा महि महान्तं सूर्यं रात्रेर्भर्तारं भगं च । वन्द इति संबन्धः । रात्री सवितुर्भगस्य योषा [१] इति पूर्वम् उक्तम् ॥ अवयुत्य रात्रीं परोक्षेण स्तौति द्वितीयपादेन । हिमस्य तुहिनस्य माता जननी हिमोत्पादिका रात्री । रात्रौ हिमं वर्धत इति सर्वलोकसंप्रतिपन्नम् । तादृशी रात्रिः नः अस्माकं सुहवा सुष्ठु ह्वातव्या अस्तु भवतु ॥ अथ प्रत्यक्षवद् उक्तिः। हे सुभगे सौभाग्यवति यद्वा भगः सूर्यः शोभनभगसंज्ञकपतियुक्ते त्वम् अस्य इदानीं क्रियमाणस्य अस्मदीयस्य स्तोमस्य स्तोत्रस्य स्तोत्रं नि बोध नितरां जानीहि। अनुग्रहानुकूलबुद्ध्या अनुमन्यस्व । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । "चतुर्थ्यर्थे बहुलम्" इति षष्ठी । बुधिर् अवगमने। भौवादिकः। अस्माल्लोटि मध्यमे हेलुक् ❀ । येन स्तोमेन विश्वासु सर्वासु दिक्षु व्याप्तां त्वा त्वां वन्दे अभिष्टौमि । ❀ वदि अभिवादनस्तुत्योः ❀ ॥

हे रात्रि ! मैं तुझ कल्याणकारिणीकी वन्दना करता हूँ, तथा रात्रिके भर्ता महान् सूर्यदेवकी मैं वन्दना करता हूँ। हिमकी उत्पादिका रात्रि सुन्दरतासे आह्वान करने योग्य होवे, हे सूर्यरूप पति से युक्ते सुभगे रात्रि ! आप हमारे इस किये हुए स्तोत्रको भली प्रकार जानें, अर्थात् अनुकूल बुद्धिसे अनुमति प्रदान करें। जिस से मैं सकल दिशाओंमें व्याप्त आपकी स्तुति करूँ ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे ।
असाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनूषसः

स्तोमस्य । नः । विभावरि । रात्रि । राजाऽइव । जोषसे ।
असाम । सर्वऽवीराः । भवाम । सर्वऽवेदसः । विऽउच्छन्तीः ।
अनु । उषसः ॥ ६ ॥

हे विभावरि विशेषेण भासमाने हे रात्रि नः अस्मदीयस्य स्तोमस्य स्तोत्रस्य स्तोत्रं जोषसे जुषस्व सेवस्व । तत्र दृष्टान्तः । राजेव यथा राजा स्तोतृभिः क्रियमाणां स्तुतिं प्रीत्या सेवते अवहितः शृणोति एवम् अवहिता अस्मदीयं स्तोत्रम् अवधारयेति । ❀ जुषी प्रीतिसेवनयोः । अस्माल्लेटि अडागमः । "छन्दस्युभयथा" इति तिङ आर्धधातुकत्वात् लघूपधगुणः ❀ । यदि स्तोत्रं शृणुयास्तर्हि व्युच्छन्तीः । ❀ उछी विवासे ❀ । तमो विवासयन्तीः अपसारयन्तीः प्रकाशमाना उषसः उषःकालान् अनु । ❀ लक्षणार्थे अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ । उषःकालबहुत्वात् सार्वकालं विवक्षितम् । सर्वदा सर्ववीरा असाम । वीरः कर्मणि कुशलः पुत्रादिः । सकलपुत्रमित्रादिसमेता असाम भवाम । ❀ अस्तेर्लोटि

"आडुत्तमस्य पिच्च" इति आडागमः ॥ । तथा सर्ववेदसः । वेद इति धननाम : संपूर्णधनयुक्ता भवाम । ॥ वेत्तेर्वा असुन् ॥ । सर्वविषयज्ञाना रात्रौ निद्रावशेन सर्वेन्द्रियव्यापाराणां विरामाद् मूढाः सन्तः उषःकाले तमोविगतेः सर्वेन्द्रियविषयज्ञानवन्तो भवामेति । ॥ भवतेः पूर्ववद् आडागमः ॥ ॥

हे विशेषरूपसे ढकने वाली विभावरि रात्रि ! जैसे राजा स्तोताओंकी की हुई स्तुतिको प्रीतिपूर्वक सुनता है इसी प्रकार आप हमारी स्तुतिसे प्रसन्न हूजिये । यदि आप हमारे स्तोत्रको सुनती हों तो हम प्रति दिन अंधकारको दूर करने वाले उषःकालोंमें पुत्र पौत्र आदि सब वीरोंसे संयुक्त रहें और सकल धनोंसे सम्पन्न रहें । वा—सब विषयोंके ज्ञानसे सम्पन्न रहें अर्थात् रात्रिमें निद्राके कारण सब इन्द्रियोंके व्यापारके विरामके कारण मूढ़ होनेसे उषः कालमें अंधकार दूर होने पर सकल इन्द्रियोंके ज्ञानसे सम्पन्न होजावें ॥ ६

सप्तमी ॥

शम्या ह नाम दधिषे मम दिप्सन्ति ये धना ।
रात्रीहि तानसुतपा य स्तेनो न विद्यते यत् पुनर्न विद्यते ॥ ७ ॥

शम्या । ह । नाम । दधिषे । मम । दिप्सन्ति । ये । धना ।
रात्रि । इहि । तान् । असुऽतपा । यः । स्तेनः । न । विद्यते ।
यत् । पुनः । न । विद्यते ॥ ७ ॥

हे रात्रि त्वं शम्या नाम शम्येति नामधेयं दधिषे । शत्रुशमनसमर्था शम्या । ॥ शपशब्दाद् अर्हार्थे यत् । शमयतेर्वा व्यत्ययेन

कर्तरि यत् ❀ । इत्थं शत्रुधर्षणसमर्थं शम्येति नामधेयं दधिषे धारयसि । हशब्दः प्रसिद्धौ । शम्येति नामधारणस्य प्रयोजनम् आह ममेत्यादिना । ये शत्रवः मम धना धनानि । ❀ शेर्लोपः ❀ । दिप्सन्ति दम्भितुं हिंसितुम् अपहर्तुम् इच्छन्ति । ❀ दन्भु दम्भे । अस्माद् इच्छार्थे सनि "सनीवन्तर्ध०" इति इडभावे "दन्भ इच्च" इति इकारः । "अत्र लोपोभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः ❀ । हे रात्रि त्वं तान् दिप्सून् शत्रून् असुतपा असून् प्राणान् शात्रवीयान् तपन्ती तापयन्ती सती इहि गच्छ प्राप्नुहि । ❀ असूपपदात् तपेर्मूलविभुजादित्वात् कप्रत्ययः । एतेर्लोटि अदादित्वात् शपो लुक् । हेरपित्वाद् गुणाभावः ❀ । यद्वा सुष्ठु तपतीति सुतपा । ❀ सुपूर्वात् तपेः कर्तरि कप्रत्ययः । न सुतपा असुतपेति नञ्समासः ❀ । दुःष्ठु तापयन्ती पाणिपादशिरोग्रीवादीनां व्यत्यासे हननेन विपरीतं क्लेशयन्ती सती तान् शत्रून् प्राप्नुहीति संबन्धः । तदेवाह । य स्तेनः चोरः न विद्यते सत्तां न लभते नाविर्भवति न दृश्यते तथा इहि । यश्च पुनर्न विद्यते पुनर्नोत्पद्यते। सपुत्रपशुबान्धवं शत्रुं मारयेत्यर्थः ॥

हे रात्रि ! आपने शम्या नामको धारण किया है । जो शत्रुओं को शान्त करनेमें समर्थ होती हैं वह शम्या कहलाती हैं । अत एव जो शत्रु मेरे धनका अपहरण करना चाहते हैं, हे रात्रि ! आप उनके प्राणोंको तपाती हुई आइये । अथवा--उनके हाथ पैर शिर गरदन आदिको विशेषरूपसे देती हुई उनको प्राप्त हूजिये । चोर जिस प्रकार प्रकट न हो सके तिस प्रकार आइये। और फिर भी प्रकट न होसके तिस प्रकार आइये । और फिर भी प्रकट न हो तिस प्रकार आइये अर्थात् उसको पुत्र पशु बांधव सहित नष्ट कर डालिये ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

भद्रासि रात्रि चमसो न विष्टो विष्वं गोरूपं युवतिर्बिभर्षि ।
चक्षुष्मती मे उशती वपूंषि प्रति त्वं दिव्या न क्षाममुक्थाः ॥ ८ ॥

भद्रा । असि । रात्रि । चमसः । न । विष्टः । विष्वङ् । गोऽरूपम् । युवतिः । बिभर्षि ।
चक्षुष्मती । मे । उशती । वपूंषि । प्रति । त्वम् । दिव्या । न । क्षाम् । अमुक्थाः ॥ ८ ॥

हे रात्रि त्वं भद्रा भन्दनीया कल्याणरूपा असि चमसो न । न उपमार्थीयः । चमन्ति अदन्ति अत्रेति चमसः पात्रं विष्टः भोजनार्थं परिविष्टश्चमसः पात्रमिव । विष्वङ् विषूची । ॐ स्त्रीप्रत्ययस्य लुक् ॐ । विषूची सर्वत्र व्याप्ता युवतिः यौवनवती उत्तरोत्तरवहलतमःपुञ्जयुता गोरूपम् धेन्वाकृतिं बिभर्षि धारयसि । रात्रेर्गोरूपत्वम् अन्यत्राम्नायते । "या प्रथमा व्यौच्छत् सा धेनुरभवद् यमे" [तै० सं० ४. ३. ११. ५] इति । प्रथमा रात्रिः व्यौच्छत् विवासितवती उषोरूपेण संपन्नेति तस्यार्थः । तथा "यां जनाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमिवायतीम्" [आप० गृ० २०] इति धेनोरुपमानत्वात् तत्समानधर्मसद्भावो रात्रेः प्रतिपादितो भवति । अत्र रूपशब्दो धर्मवाची । यतो गोरूपं बिभर्षि अतः उशती अस्मान् पोषयितुं कामयमाना चक्षुष्मती चक्षुर्दर्शनशक्तिः तद्वती अस्मद्विषयदर्शनशक्तिमती अस्मान् रक्षितुम् अनुग्रहबुद्ध्या सर्वदा लोकमाना । एवंविधा त्वं मे मम वपूंषि शरीराणि । बहु-

वचनेन पुत्रादिशरीराणि विवक्ष्यन्ते । तानि प्रति अभिलक्ष्य क्षाम् । पृथिवीनामैतत् । क्षियन्ति निवसन्ति भूतान्यत्रेति क्षा भूमिः । तां नामुक्थाः न मुञ्च । तत्र दृष्टान्तः दिव्या नेति । दिव्या दिव्यानि दिवि भवानि शरीराणीव यथा दिव्यशरीराणि न मुञ्चसि एवम् आस्माकानीति । ❀ मुञ्चतेश्छान्दसे लुङि स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम् । "झलो झलि" इति सिचो लोपः ❀ ॥

हे रात्री ! तू भोजनके पात्र चमसकी समान कल्याणमयी है। तू सर्वत्र व्याप्ति वाली है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक तमःपुञ्जसे सम्पन्न रहती है अत एव युवती है, ऐसी तू धेनुके रूप अर्थात् धर्मको धारण कर लेती है । तू गोरूपको धारण करती है, इस कारण हमैं पुष्ट करना चाहती हुई, हमैं चक्षुः प्रदान करती हुई अर्थात् हमको अनुग्रह बुद्धिसे देखती हुई मेरे अपने तथा पुत्र पौत्र आदिके शरीरको पृथ्वी पर इस प्रकार न छोड़ जिस प्रकार दिव्य शरीरोंको नहीं छोड़ती है ॥ ८ ॥

यो अद्य स्तेन आयत्यघायुर्मर्त्यो रिपुः ।

रात्री तस्य प्रतीत्य प्र ग्रीवाः प्र शिरो हनत् ॥ ९ ॥

यः । अद्य । स्तेनः । आऽअयति । अघऽयुः । मर्त्यः । रिपुः ।

रात्री । तस्य । प्रतिऽइत्य । प्र । ग्रीवाः । प्र । शिरः । हनत् ९

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत् ।

यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति ।

अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति ॥१०॥

प्र । पादौ । न । यथा । अयति । प्र । हस्तौ । न । यथा । अशिषत् ।

यः । मलिम्लुः । उपऽअयति । सः । सम्ऽपिष्टः । अप । अयति ।

अप । अयति । सुऽअपायति । शुष्के । स्थाणौ । अप । अयति ।

नवमी ॥ अथ इदानीं यः स्तेनः आयति आगच्छति । अस्मद्धनम् अपहर्तुम् इति शेषः । तथा अथायुः अघं हिंसालक्षणं पापं तत् परस्येच्छन् । ❀ अघशब्दात् क्यचि "अश्वाघस्यात्" इति आकारः ❀ । मर्त्यः मरणधर्मा रिपुः शत्रुश्च आयति । ❀ इ गतौ । भौवादिकः । अय पय गतौ इत्यस्माद् वा व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । हे सुरूपे शोभनरूपे रात्रि मम । समीपम् इति शेषः । यश्च शत्रुः आयति स सर्वः स्तेनादिः संपिष्टः त्वत्तेजसा सम्यक् चूर्णितः अर्दितः सन् अपायाति अपसृत्य अपक्रम्य अयतु गच्छतु । त्वया बाधितः शत्रुः अस्मत्तो दूरदेशं गच्छत्वित्यर्थः । ❀ अयतेर्लेटि आडागमः ❀ ॥

दशमी ॥ स संपिष्टो अपायतीत्युक्तम् । परोक्षवादेन संपेषप्रकारं विशिनष्टि । एवंमहिमोपेता रात्री देवता तस्य शत्रोः परोपद्रवकारित्वलक्षणम् अभिप्रायं प्रतीत्य सम्यग् ज्ञात्वा ग्रीवाः कन्धराः । अवयवापेक्षया बहुत्वम् । यद्वा तस्य पूर्वोक्तस्य स्तेनादेर्ग्रीवाः प्र हरत् प्रहरतु छिनत्तु । शिरश्च प्र हरत् प्रच्छिनत्तु । ❀ हरतेर्लेटि अडागमः ❀ । पादौ च । प्र हरत् इति क्रियानुषङ्गः । यथा नायति पुनर्नागच्छति तथा पादौ गमनसाधनभूतौ प्रच्छिनत्तु । हस्तौ बाहू च प्र हरत् यथा नाश्लिषत् न संश्लेषयेत् मिथो न संयोजयेत् । परं प्रहर्तुम् इति शेषः । तथा हस्तौ प्रच्छिनत्तु । ❀ श्लिष आलिङ्गने इति धातुः । "श्लिष आलिङ्गने" इति आलिङ्गनेर्थे क्सस्य विधानाद् अत्र तदर्थाभावात् च्लेः अङ् आदेश एव । ङित्वात् लघूपधगुणाभावः ❀ ॥

एकादशी ॥ यो मलिम्लुः मलिम्लुचस्तस्करः उपायति अस्म-

दीयधनम् अपहर्तुं बाधितुं वा समीपम् आगच्छति स शत्रुः संपिष्टः त्वया सम्यक् चूर्णितः सन् अपायति अस्मत्तः अपगच्छतु । आवश्यकत्वद्योतनार्थम् अपायतीति पुनर्वचनम् । स्वपायति सुष्ठु सम्यग् निःशेषम् अपगच्छतु । गन्तव्यस्थानेपि सुखलेशस्याप्यभावम् आह । शुष्के नीरसे स्थाणौ शाखोपशाखारहितवृक्षमूले आश्रये अपायति अपायतु अपगच्छतु । अस्मत्तोऽपगतः शत्रुश्छायारहितं नीरसवृक्षमूलम् आश्रयत्वित्यर्थः । ❀ अत्र सर्वत्र एतेर्लेट अडागमः ❀ ॥

इति षष्ठेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

इस समय जो चोर हमारा धन छीननेके लिये आ रहा हो और जो वधरूपी पापको चाहने वाला मरणधर्मी शत्रु आ रहा हो, हे सुरूपे रात्रि ! जो चोर मेरे पास आरहा हो वह आपके तेजसे भली प्रकार पीड़ा पाकर हमको छोड़ कर दूर चला जावे ऐसी महिमासे सम्पन्न रात्रिदेवता शत्रुके दूसरेको दबानेके अभिप्रायको समझ कर उसकी गरदनको काट डाले और उसके शिरको भी काट डाले, और जिस प्रकार यह फिर न आसके तिस प्रकार इसके चरणोंको भी काट डाले । और जिस प्रकार यह दूसरों पर प्रहार करनेके लिये अपनी दोनों भुजाओंको न मिला सके, तिस प्रकार इसके दोनों हाथोंको काट डाले ॥ जो चोर हमारे धनका अपहरण करनेके लिये वा बाधा देनेके लिये समीपमें आरहा है वह आपसे भली प्रकार पीड़ा पाकर हमारे पाससे भाग जावे–भाग जावे । भली प्रकार सोजाय-नाशको प्राप्त होजावे । सूखे शाखा और उपशाखारहित वृक्षकी जड़में चला जावे अर्थात् शत्रु हमसे दूर होकर छायारहित नीरस वृक्ष के नीचे आश्रय लेय ॥ ६ ॥ १० ॥

छठे अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (५६३)

"अध रात्रि तृष्टधूमम्" इति सूक्तस्य रात्रीकल्पे रात्र्युपस्थाने जपे च विनियोगः पूर्वसूक्तेन सह उक्तः ॥

"अध रात्रि तृष्टधूमम्" इस सूक्तका रात्रिकल्पके रात्र्युपस्थानमें और जपमें विनियोग है, यह बात पहिले सूक्तके साथ कह दी है।

तत्र प्रथमा ॥

अध रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु।
अक्षौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि ॥ १ ॥

अध। रात्रि। तृष्टऽधूमम्। अशीर्षाणम्। अहिम्। कृणु।
अक्षौ। वृकस्य। निः। जह्याः। तेन। तम्। द्रुऽपदे। जहि १

एषा ऋक् "आ रात्रि पार्थिवम्" इति सूक्ते व्याख्याता [४७. ८]। अक्षौ निर्जह्या इत्येतावान् विशेषः। अक्षौ अक्षिणी चक्षुषी निर्जह्याः। ❀ जहातिरत्र अन्तर्णीतण्यर्थः ❀। निर्हापयेः निर्मोचयेः। उत्पादयेरिति यावत्। ❀ ओहाक् त्यागे। जौहोत्यादिकः। "लोपो यि" इति यकारादौ प्रत्यये धातोराकारस्य लोपः ❀ ॥

हे रात्रि ! जिसका श्वासरूपी धूम ही तृषा (पीड़ा) देने वाला है, उस सर्पको आप शिररहित करिये। और भेड़ियेके दोनों नेत्रोंको नष्ट करिये और ऐसा करके उसको वृक्षके स्थानमें समाप्त कर दीजिये ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

ये ते रात्र्यनड्वाहस्तीक्ष्णशृङ्गाः स्वाशवः।
तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा ॥ २ ॥

ये । ते । रात्रि । अनड्वाहः । तीक्ष्णऽशृङ्गाः । सुऽआशवः ।

तेभिः । नः । अद्य । पारय । अति । दुःऽगानि । विश्वहा ॥२॥

हे रात्रि ते तव संबन्धिनो वाहनभूतास्तीक्ष्णशृङ्गाः । निशित-विषाणाः स्वाशवः अतिशयेन शीघ्रगामिनो ये अनड्वाहः पुंगवा अनोवहनशक्ताः पुंगवाः सन्ति । ❀ "चतुरनडुहोराम् उदात्तः" इति आम् आगमः ❀ । तेभिः तैः उक्तलक्षणोपेतैरन-डुद्भिः नः अस्मान् अद्य इदानीं विश्वहा विश्वेषु सर्वेषु अहःसु रात्रिषु च दुर्गाणि दुर्गमाणि कृच्छ्राणि दुर्जयानि अनर्थजातानि अति पारय अतिक्रामय । यथा दुस्तरं नद्यादिकम् अनड्वाहः पुरुषांस्तारयन्ति एवम् एभिः अस्मान् शत्रुकृतारिष्टेभ्यस्तारयेति ॥

हे रात्रि ! तेरे जो परम शीघ्रतासे चलने वाले तीक्ष्ण सींग वाले भारको उठानेमें समर्थ बैल हैं, उनके द्वारा तू हमें सब दिन दुर्जय अनर्थोंके पार लगा । तात्पर्य यह है, कि-जैसे बैल दुस्तर नदी आदिके पार पुरुषको पहुँचा देते हैं । इसी प्रकार तू शत्रु के किये हुए विघ्नोंसे इनके द्वारा पार उतार ॥ २ ॥

तृतीया ॥

रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम् ।

गम्भीरमप्लवा इव न तरेयुररातयः ॥ ३ ॥

रात्रिम्ऽरात्रिम् । अरिष्यन्तः । तरेम । तन्वा । वयम् ।

गम्भीरम् । अप्लवाःऽइव । न । तरेयुः । अरातयः ॥ ३ ॥

अत्र परोक्षवादः । रात्रिंरात्रिम् । ❀ "नित्यवीप्सयोः" इति द्विर्वचनम् ❀ । सर्वां रात्रिम् अरिष्यन्तः गमिष्यन्तः । ❀ आगा-मिरात्र्यपेक्षया भविष्यत्प्रयोगः । अर्तेः स्यप्रत्यये "ऋद्धनोः स्ये"

इति इडागमः ❀ । वयं तन्वा स्वशरीरेण । तनोति विस्तारयति कुलम् इति वा तनुशब्दः पुत्रवाची । पुत्रादिभिः सह तरेम । रात्रिरेव कर्म । सर्वस्या रात्रेः पारम् अश्नुवीमहीत्यर्थः ॥ अरातयः अस्मदीयाः शत्रवस्तु न तरेयुः रात्रिं नातिक्रामेयुः । रात्रावेव विनष्टा भवन्तु । अत्र दृष्टान्तः गम्भीरम् अप्लवा इवेति । प्लवः तरणसाधनम् उडुपम् तद्रहिता जना यथा गम्भीरम् अगाधं नद्यादिकं तरन्तो मध्येनदि निमज्जन्ति एवं स्वद्रक्षणरूपसंवराहित्यात् तेषाम् रात्रिमध्य एव विनश्यन्तु इत्यर्थः ॥

हम सारी रात्रि भर चलते हुए पुत्र आदिके साथ रात्रिके पार पहुँचें । और हमारे शत्रु रात्रिके पार न पहुँच सकें रात्रिमें ही इस प्रकार विनष्ट होजावें जिस प्रकार डौंगे नौका आदि पार उतारनेके साधनोंसे रहित पुरुष अगाध नदी आदिको तरते समय नदीके बीचमें जाकर डूब जाते हैं, क्योंकि उनके पास आपकी रक्षाशक्तिरूप डौंगा नहीं होता है ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

यथा शाम्याकः प्रपतन्नपवान् नानुविद्यते ।
एवा रात्रि प्र पातय यो अस्माँ अभ्यघायति ॥४॥

यथा । शाम्याकः । प्रऽपतन् । अपऽवान् । न । अनुऽविद्यते ।
एव । रात्रि । प्र । पातय । यः । अस्मान् । अभिऽअघायति ४

शाम्याकः श्यामाकाख्यो धान्यविशेषः । स यथा प्रपतन् पक्वः सन् निपतन् अपवान् अपकर्षवान् दुर्बलो निःसारो नानुविद्यते अवस्थितिं न लभते । नोपलभ्यते । विनश्यतीति यावत् । एव एवम् हे रात्रि त्वं प्र पातय प्रकर्षेण अवाङ्मुखं निपातय । तम् आह । यः शत्रुः अस्मान् अभिलक्ष्य अघायति अघं हिंसालक्षणं पापं कर्तुम् इच्छति हिनस्ति । तं प्रपातयेति संबन्धः ॥

जो शत्रु हमारे ऊपर पापको करनेकी इच्छासे आरहा है, हे रात्रि! उसको आप इस प्रकार गिरा दीजिये, जिस प्रकार पक्का हुआ श्यामाक धान्य दुर्बल होकर स्थितिको नहीं पाता गिर ही पड़ता है ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

अप॑ स्तेनं वासो॑ गोअजमुत तस्क॑रम् ।
अथो॒ यो अर्व॑तः शिरो॑ऽभिधाय निनी॑षति ॥ ५ ॥

अप॑ । स्तेनम् । वासः॑ । गोऽअजम् । उत । तस्करम् ।
अथो॒ इति॑ । यः । अर्व॑तः । शिरः॑ । अभिऽधाय॑ । निनीषति ५

यः स्तेन वासः वस्त्रं गोअजम् । ❀ द्वन्द्वैकवद्भावः । स्फोटायनव्यतिरिक्ताचार्यमते अवङादेशाभावः। "सर्वत्र विभाषा गोः" इति विकल्पितत्वात् पूर्वरूपत्वाभावः ❀ । गा अजांश्च निनीषति तं स्तेनम् अप । ❀ उपसर्गश्रुतेर्योग्यक्रियाध्याहारः ❀ । अपगमय । उत अपि च तस्करम् चोरम् अपसारय । अथो अपि च यस्तस्करः अर्वतः अश्वान् शिरः शिरांसि अभिधाय । ❀ अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने वर्तते । "अश्वाभिधानीम् आ दत्ते" [तै० सं० ५. १. २. १] इतिवत् ❀। रज्ज्वादिना बद्ध्वा निनीषति अपजिहीर्षति तं तस्करम् अपजहीति ॥ स्तेनतस्करयोः पर्यायत्वेपि अपहार्यद्रव्यगौरवेण पृथगपहननम् उक्तम् इति वेदितव्यम् ॥

जो चोर वस्त्रको लेजाना चाहता है, उसको दूर करो, जो गो और बकरीको लेजाना चाहता है, उसको दूर करो और जो घोड़ोंके शिरमें रस्सी बाँध कर उनको लेजाना चाहता है। उसको आप नष्ट कर डालिये ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

यदद्या रात्रि सुभगे विभजन्त्ययो वसु ।

यदेतदस्मान् भोजय यथेदन्यानुपायसि ॥ ६ ॥

यत् । अद्य । रात्रि । सुऽभगे । विऽभजन्ति । अयः । वसु ।

यत् । एतत् । अस्मान् । भोजय । यथा । इत् । अन्यान् । उपऽअयसि

सुभगे सौभाग्यवति भगस्य वा पत्नि हे रात्रि अद्य अस्मिन् काले यद् अयः अयोमयं वस्तु वसु कनकादिकं च विभजन्ति विश्लेषयन्ति पृथक्कुर्वन्ति अपहरन्ति । शत्रव इत्यर्थः । तद् एतत् वसु । यच्छब्दो वाक्यालंकारे । अस्मान् धनस्वामिनः भोजय तद्धनस्य भोक्तृत्वं संपादय । ❀ भुजेर्हेतुमण्णिच् ❀ । तद् धनम् अस्मभ्यम् आहरेति यावत् । यथा येन प्रकारेण । इच्छब्दः अवधारणे । अन्यान् पदार्थान् वासोगोजादीन् शत्रुभिरपहृतान् उपायसि । ❀ अयतिरत्र अन्तर्णीतण्यर्थः ❀ । उपगमयसि । ❀ इ गतौ । भौवादिकः । अयतेर्वा व्यत्ययेन परस्मैपदम् । लेटि वा अडागमः ❀

हे सौभाग्यवती रात्रि ! इस समय जो शत्रु लोहेकी बनी वस्तुओंको और सुवर्ण आदि धनको हमसे अलग करना चाहते हैं । उस धनका हमको भोक्ता बनाइये । जिस प्रकार शत्रुओंके लिये हुए पदार्थोंको आप हमारे पास पहुँचाते हैं, तिस प्रकार इनको भी हमारे पास पहुँचाइये ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

उषसे नः परि देहि सर्वान् रात्र्यनागसः ।

उषा नो अह्ने आ भजादहस्तुभ्यं विभावरि ॥ ७ ॥

उषसे । नः । परि । देहि । सर्वान् । रात्रि । अनागसः ।

उषाः । नः । अह्ने । आ । भजात् । अहः । तुभ्यम् । विभावरि

हे रात्रि अनागसः अनपराधान् त्वद्विषये अनादरम् अनाचरतः स्तुतिकर्तॄन् सर्वान् नः पशुपुत्रमित्रादिसकलान् अस्मान् उषसे प्रभातकालाय परि देहि रक्षणार्थं प्रयच्छ । उषःकालपर्यन्तं पालयेति यावत् । उषाश्च नः अस्मान् अह्ने प्रातरादिसायाह्नकालपर्यन्ताय दिवसाय प्रकाशवते आ भजत् आभजतु । परिपालयत्विति यावत् । अहरपि उक्तलक्षणम् हे विभावरि विशेषेण भासमाने रात्रि तुभ्यं परि ददातु । एवम् अनवरतं परस्परानुपदित्वेन आवर्तमानौ अहोरात्रौ अस्मान् शत्रुबाधापरिहारेण पशुधनादिसमेतान् कुरुताम् इति तात्पर्यार्थः ॥

इति षष्ठेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हे रात्रि ! आपका अनादर न करके स्तुति करने वाले पशु पुत्र आदि सहित हमको आप प्रभातकालके लिये रक्षार्थ प्रदान करिये अर्थात् उषःकाल तक हमारी रक्षा करिये और उषा भी प्रकाश वाले दिन तक हमारा पालन करे । और दिन भी हे विभावरि ! हमको आपको प्रदान करे । इस प्रकार परस्पर अनवरत आवर्तमान दिन रात हमको शत्रुओंकी बाधाओंसे बचाते हुए हमको पशु धन आदिसे सम्पन्न रक्खे ॥ ७ ॥

छठे अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (५९४) ॥

"अयुतोहम्" इति यजुर्मन्त्रात्मकं सूक्तम् । अस्य विनियोगो लिङ्गाद् अवगन्तव्यः ॥

"अयुतोऽहम्" यह यजुर्मन्त्रात्मक सूक्त है । इसका विनियोग लिङ्गसे समझना चाहिये ।

तत्पाठस्तु ॥

अयुतोहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्र-

मयुतो मे प्राणोयुतो मपानोयुतो मे व्यानोयुतोहं सर्वः ॥ १ ॥

अयुतः । अहम् । अयुतः । मे । आत्मा । अयुतम् । मे । चक्षुः । अयुतम् । मे । श्रोत्रम् । अयुतः । मे । प्राणः । अयुतः । मे । अपानः । अयुतः । मे । वि॒ऽआनः । अयुतः । अहम् । सर्वः १

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रसूत आ रभे ॥ २ ॥

देवस्य । त्वा । सवितुः । प्रऽसवे । अश्विनोः । बाहुऽभ्याम् । पूष्णः । हस्ताभ्याम् । प्रऽसूतः । आ । रभे ॥ २ ॥

अहं साङ्गशरीराभिमानी कर्मानुतिष्ठासुरहम् अयुतः संपूर्णः । मे मम आत्मा जीवः अयुतः संपूर्णः । अथ वा आत्मशब्देन शरीरम् उच्यते

आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि

इति अभिधातृभिः शरीरवाचकत्वेन प्रयुक्तत्वात् । तथा चक्षुः सर्वपदार्थविषयज्ञानसाधनं चक्षुरिन्द्रियं श्रोत्रम् वैदिकमन्त्रश्रवणसाधनं श्रवणेन्द्रियम् । प्राणः हृदयाद् आरभ्य नासिकारन्ध्रान्निर्गच्छद्वायुः प्राण इत्युच्यते । अपानः पायुद्वारान्निर्गच्छद्वायुः । अपानिति अवाङ्मुखं चेष्टत इति व्युत्पत्तेः । व्यानः प्राणापानसंधिरूपो वायुः । केचिच्छरीरवायोः प्राणादिपञ्चवृत्तित्वं समामनन्ति । अन्ये तु वृत्तित्रयवत्त्वम् । अयुतोहं सर्व इति उक्तानुक्तावयवेन्द्रियसाकल्याय उक्तम् ॥ सवितुः सर्वस्य प्रसवितुर्देवस्य प्रसवे अनुज्ञायाम् अश्विनोर्देवयोः अध्वर्य्वोः बाहुभ्यां पूष्णो देव-

स्य हस्ताभ्याम् । अंसप्रभृतिप्रकोष्ठपर्यन्तं बाहू । तदाद्यङ्गुल्यग्रपर्यन्तौ हस्तौ इति विभागः । प्रसूतः प्रेरितः अनुज्ञातो वा त्वा त्वाम् । क्रियमाणं कर्म संबोध्यते । आ रभे उपक्रमे प्रयोक्ता अहम् । सर्वेन्द्रियसंपूर्णः सवित्रा अनुज्ञातः अश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णश्च हस्ताभ्यां कर्मसु व्याप्रिय इत्यर्थः । ❀ रभ राभस्ये । भौवादिकः । आत्मनेपदी । राभस्यम् उपक्रमः ❀ ॥

इति षष्ठेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

कर्मका अनुष्ठान करना चाहने वाला सांगशरीराभिमानी मैं पूर्ण हूँ मेरा शरीर भी पूर्ण है, मेरी सर्वपदार्थविषयज्ञान साधन चक्षुइन्द्रिय भी पूर्ण है, और मेरी वैदिक विषयोंको सुनने की साधन श्रवणेन्द्रिय भी पूर्ण है, मेरा हृदयसे उठ कर नासिका से निकलनेवाला प्राणवायु भी पूर्ण है और मेरा पायुके द्वारा निकलने वाला अपान भी अयुत अर्थात् पूर्ण है और मेरा प्राण अपानकी सन्धिरूप व्यान भी पूर्ण है । मैं इन कही हुई और न कही हुई सब इन्द्रियोंसे पूर्ण हूँ ॥ मैं प्रयोक्ता पुरुष हे कर्म ! तुझको सर्वप्रेरक सवितादेवकी प्रेरणासे, अध्वर्यु अश्विनीकुमारोंकी बाहुओंसे और पूषाके हाथोंसे आरम्भ करता हूँ ॥ १ ॥ २ ॥

छठे अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (५९५) ॥

"कामस्तदग्रे" इति सूक्तेन प्रतिगृह्यमाणं द्रव्यम् अभिमन्त्र्य प्रतिगृहीता स्वीकुर्यात् । सूत्रितं हि संहिताविधौ । "क इदं कस्मा अदात् [३. २९. ७] कामस्तदग्रे [१९.५२] यदन्नं [६.७१] पुनर्मैत्विन्द्रियम् [७.६९] इति प्रतिगृह्णाति" [कौ० ५.९] इति ॥

सवयज्ञप्रतिग्रहेपि इदं सूक्तं विनियुक्तम् । सूत्रितं हि कौशिकेन । ददामीति नामग्राहम् उपस्पृशेत् सदक्षिणं कामस्तदग्र इत्युक्तम्" [कौ० ८. ९] इति ॥

तथा दर्शस्य पूर्णमासस्य वा व्यतिक्रमे जाते आज्यहोमे शान्त-

समिदाधाने वा विनियुक्तम्। सूत्रितं हि। "एतेनैवामावास्यो व्याख्यातः। ऐन्द्राग्नोत्र द्वितीयो भवति। तयोर्व्यतिक्रमे 'त्वमग्ने व्रतपा असि' [१९.५९] 'कामस्तदग्रे' [१९.५२] इति शान्ताः" इति [कौ० १. ६]॥

सौवर्णभूमिप्रतिकृतिदाने अनेन काममूक्तेन आज्यं जुहुयात्। "अथ रोहिण्याम्" इति प्रकृत्य उक्तं परिशिष्टे। "अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम् इत्यथ सुवर्णमयीं भूमिम्" इत्यादि [प० १०. १]॥

"कामस्तदग्रे" सूक्तसे प्रतिग्रहके द्रव्यका अभिमन्त्रण करके प्रतिगृहीता स्वीकार कर लेय इस विषयका कौशिकसूत्र ५।९ में प्रमाण है, कि—"क इदं कस्मा अदात् (३ । २९ । ७) कामस्तदग्रे (१९ । ५२) यदन्नं (६ । ७१) पुनर्मैत्विन्द्रियम् (७। ६९) इति प्रतिगृह्णाति" ॥

सवयज्ञप्रतिग्रहमें भी इस सूक्तका विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्र ८। ९ में कहा है, कि—"ददामीति नामग्राहं उपस्पृशेत् सदक्षिणं कामस्तदग्र इत्युक्तम्" ॥

तथा दर्श वा पूर्ण मासमें व्यतिक्रम होजाने पर घृतहोमके शान्तसमिदाधानमें भी इसका विनियोग होता है। इसी बातको कौशिकसूत्र १ । ६ में कहा है, कि—"एतेनैवामावास्यो व्याख्यातः। ऐन्द्राग्नोऽत्र द्वितीयो भवति । तयोर्व्यतिक्रमे 'त्वमग्ने व्रतपा असि' (१९ । ५९) 'कामस्तदग्रे' (१९ । ५२) इति शान्ताः" ॥

भूमिकी सुवर्णकी मूर्तिके दानमें इस कामसूक्तसे घृतकी आहुति देवे। इसी बातको "अथ रोहिण्याम्" का आरम्भ करके अथर्वपरिशिष्ट १० । १ में कहा है, कि—"अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तं इत्यथ सुवर्णमयीं भूमिम्" ॥

तत्र प्रथमा ॥

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ १ ॥

कामः । तत् । अग्रे । सम् । अवर्तत । मनसः । रेतः । प्रथमम् । यत् । आसीत् ।
सः । काम । कामेन । बृहता । सऽयोनिः । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ॥ १ ॥

एतत् सूक्तं कामप्रतिपादकत्वात् कामसूक्तम् इति अभिधीयते । प्रलयकाले सर्वेषु जगत्सु वासनाशेषेण मायायां विलीनेषु पुनरीश्वरस्य पर्यालोचनं जगतः पुनरुत्पत्तौ कारणं तदेव किंनिबन्धनम् इति तद् आह कामस्तदग्र इति । अग्रे अस्य विकारजातस्य सृष्टेः प्रागवस्थायां परमेश्वरस्य मनसि कामः समवर्तत सम्यग् अजायत । सिसृक्षा जातेत्यर्थः। अत्र मनोव्यतिरेकेण कामनाया उत्पत्त्यसंभवात् मनस्तत्त्वमपि प्रथमं मायातो जातम् इत्यर्थः । श्रूयते । "तद् असदेव सन्मनोऽकुरुत स्याम् इति" इति [तै० ब्रा० २. २. ६. १] । ईदृशस्य मनस उत्पत्तेरनन्तरं कामः समवर्ततेत्यर्थः । ईश्वरस्य सिसृक्षा किंहेतुकेत्यत आह मनस इति । मनसः अन्तःकरणस्य संबन्धि वासनाशेषेण मायायां विलीने अन्तःकरणे समवेतम् । ❀ सामान्यापेक्षम् एकवचनम् ❀ । सर्वप्राण्यन्तःकरणेषु समवेतम् इत्यर्थः । एतेन आत्मनो गुणाधारत्वं प्रत्याख्यातम् । तादृशमनःसंबन्धि रेतः भाविनः प्रपञ्चस्य बीजभूतं प्रथमम् अतीते कल्पे प्राणिभिः कृतं पुण्यापुण्यात्मकं कर्म यत् यतः कार-

णात् सृष्टिसमये आसीत् अभवद् भूष्णु वर्धिष्णु समजायत। परिपक्वं सत् फलोन्मुखम् आसीद् इत्यर्थः। तत् ततो हेतोः फलप्रदस्य सर्वसाक्षिणः कर्माध्यक्षस्य परमेश्वरस्य मनसि सिसृक्षाजायतेत्यर्थः। तस्यां च जातायां द्रष्टव्यं पर्यालोच्य ततः सर्वं जगत् सृजति। तथा च आम्नायते। "सोकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किं च" इति [तै० आ० ८. ६]। हे काम सः सर्वजगत्सर्जनार्थं परमेश्वरेण उत्पादितस्त्वं बृहता महता देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितेन काम्नेन कामयित्रा परमेश्वरेण। ❀ कामयतेः पचाद्यच् ❀। सयोनिः समानकारणः। परमेश्वरव्यतिरिक्तकारणान्तररहित इत्यर्थः। यजमानाय अन्नप्रदात्रे हविःप्रदात्रे वा पुरुषाय रायो धनस्य पोषम् पुष्टिं समृद्धिं धेहि स्थापय प्रयच्छ। अत्र कामो जगद्विषयकामरूपत्वेन स्वफलसिद्ध्यर्थं स्तूयते॥

[यह सूक्त कामप्रतिपादक होनेसे कामसूक्त कहलाता है। प्रलयके समय सब जगत्के वासनामात्र शेष अवस्थामें मायामें लीन होजाने पर, फिर ईश्वरका पर्यालोचन होकर जगत्की पुनरुत्पत्तिमें कारण होता है वह कारण किस कारणसे होता है तो कहते हैं, कि–] विकारजात सृष्टिकी पूर्वावस्थामें परमेश्वरके मनमें काम भली प्रकार प्रकट हुआ अर्थात् रचने की इच्छा हुई [मनके बिना कामनाकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है अतः मनस्तत्त्व भी पहिले मायासे प्रकट हुआ है। श्रुतिमें भी कहा है, कि—" तद् असद् एव सन् मनोऽकुरुत स्याम् इति" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।६।१) तात्पर्य यह है; कि–ऐसे मनकी उत्पत्तिके अनन्तर काम प्रवृत्त हुआ। ईश्वरकी रचनेकी इच्छामें क्या कारण है वह मायामें विलीन सब प्राणियोंका अन्तःकरणसम्बन्धीवासनाशेष है। इससे आत्माका गुणाधारत्व

होना छूट गया] ऐसे मनका जो भावी प्रपञ्चका बीजभूत बीते हुए कल्पमें प्राणियोंका किया हुआ पुण्य पापरूप जो कारण परिपक्व होकर फलोन्मुख हुआ इस कारण फलप्रद सर्वसाक्षी कर्माध्यक्ष परमेश्वरके मनमें रचनेकी इच्छा प्रकट हुई। उस इच्छा के होने पर वह द्रष्टव्यको देख कर उस सबकी रचना करते हैं। इसी बातको तैत्तिरीय आरण्यक ८। ६ में कहा है, कि-"सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्त्वा इदं सर्वं असृजत यत् इदं किं च।-उसने कामना की कि—मैं बहुत होकर प्रकट होऊँ, तब उसने तप किया और उसने तप करके इस सबको रचा, कि-जो यह सब कुछ है] हे काम ! वह सब जगत्की रचना करनेके लिये परमेश्वरसे उत्पन्न किया हुआ तू महान् देशकालवस्तुके परिच्छेदसे रहित कामना करने वाले परमेश्वरका सयोनि है, परमेश्वरके व्यतिरिक्त अन्तःकरणसे रहित है। ऐसा तू धनप्रदाता वा हविःप्रदाता यजमानके लिये धनकी पुष्टिको प्रदान कर। [यहाँ जगद्-विषयकामरूपत्वसे अपने फलकी सिद्धिके लिये कामकी स्तुति की गई है] ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते ।

त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि

त्वम् । काम । सहसा । असि । प्रतिऽस्थितः । विऽभुः । विभाऽवा । सखे । आ । सखीयते ।

त्वम् । उग्रः । पृतनासु । ससहिः । सहः । ओजः । यजमानाय । धेहि ॥ २ ॥

हे काम त्वं सहसा परधर्षणसामर्थ्येन प्रतिष्ठितोसि। विभुः सर्वविषयत्वाद् व्याप्तः विभावा विशेषेण दीप्यमानः। अल्पविषयत्वाभावात्। ❀ भातेः क्वनिप् ❀। हे सखे सखित्वद्धितकारिन् काम आ सखीयते अस्मान् अभिलक्ष्य सखिवद् आचरति। अत्रच्छन्दाध्याहारेण प्रथमपुरुषः। ❀ सखिशब्दात् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ्। "अकृत्सार्वधातुकयोः०" इति दीर्घः। ङित्त्वाद् आत्मनेपदम् ❀। किं च हे काम त्वम् उग्रः उद्गूर्णः पृतनासु शत्रुसंग्रामेषु सासहिः सोढा। ❀ सहेर्यङन्तात् किप्रत्ययः ❀। सहः शत्रुधर्षणसमर्थम् ओजः बलं यजमानाय यष्ट्रे जनाय धेहि विधेहि प्रयच्छ॥

हे काम! तू परधर्षणशक्तिसे प्रतिष्ठित है। सर्वविषय होनेसे विभु है, विशेषरूपसे दीप्त होनेके कारण विभावा है। हे सखे! तुम हमको लक्ष्यमें रख कर मित्रकी समान वर्ताव करते हो। हे काम! तुम प्रचण्ड बली हो, शत्रुओंको दबाने वाले हो, ऐसे तुम यजमानके लिये शत्रुधर्षण समर्थ ओज और बलको प्रदान करो॥२

तृतीया॥

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये।

आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः॥ ३॥

दूरात्। चकमानाय। प्रतिऽपानाय। अक्षये।

आ। अस्मै। अशृण्वन्। आशाः। कामेन। अजनयन्। स्वः॥३

दूरात् दूरविषयम् अत्यन्तदुर्लभं फलं चकमानाय कामयमानाय। ❀ कमतेर्लिटः कानच्। "आयादय आर्धधातुके वा" इति णिङभावः ❀। अस्मै जनाय प्रतिपाणाय सर्वतोरक्षणाय अभिमतफलप्रापणाय अक्षये क्षयराहित्ये निमित्ते अनिष्टनिवृत्तये च आशाः

दिशः सर्वा प्राच्यादयः आभृण्वन् आश्रवणं फलं प्रदातुम् अङ्गीकरणं कृतवत्यः। ❀ "प्रत्याङ्भ्यां श्रवः०" इति अस्मा इत्यत्र संप्रदानत्वाच्चतुर्थी ❀। न केवलं प्रतिश्रवणं किं तु कामेन अभिमतफलविषयेण स्वः। सुखनामैतत्। सुखम् अजनयन् उदपादयन्॥

अत्यन्त दुर्लभ फलकी कामना करने वाले इस यजमानके लिये पूर्व आदि सब दिशाओंने अभिमत फल प्राप्त करानेकी, क्षयरहितताकी अर्थात् अनिष्टनिवृत्तिकी प्रतिज्ञा की है प्रतिज्ञा ही नहीं की किंतु अभिमतफलसे सुखको भी प्रकट किया है ॥३॥

चतुर्थी ॥

कामेन मा काम आगन् हृदयाद्धृदयं परि ।

यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह ॥ ४ ॥

कामेन। मा। कामः। आ। अगन्। हृदयात्। हृदयम्। परि। यत्। अमीषाम्। अदः। मनः। तत्। आ। एतु। उप। माम्। इह ॥ ४ ॥

कामेन फलविषयया इच्छया कामः काम्यमानं फलं मा माम् आ अगन् आगच्छतु। ❀गमेर्लुङि च्लेर्लुकि मकारस्य नकारः❀। कामनाया मनोमूलत्वात् तन्मनः संपादयति। पूर्वं जगत्सृष्ट्यर्थं ब्रह्मणा उत्पादिता जगत्सृष्टिविषये कामयितारो नव ब्रह्माणः अमीषाम् इत्यदःशब्देन विवक्ष्यन्ते। तेषां विप्रकृष्टानां ब्रह्मणां यद् अदो मनः अस्तित्वभावनानिमित्तं तत् हृदयात्। प्रत्येकविवक्षया एकवचनम्। हृदयेभ्यः हृदयम् मदीयं हृदयप्रदेशं परि अभिलक्ष्य। ❀ लक्षणादिष्वर्थेषु परिः कर्मप्रवचनीयः ❀। तत् तदीयं सर्वविषयं मनः इह अस्मिन् फलकामे मां कामयितारम् उपैतु उपगच्छतु ॥

फलविषयक इच्छासे काम्यमान फल मुझको प्राप्त हो [कामना मनोमूलक है, अत एव उस मनका सम्पादन करते हैं, पहिले जगत्की सृष्टिके लिये ब्रह्माजीने जगत्की सृष्टिको चाहने वाले नौ ब्राह्मणोंको प्रकट किया था] उन ब्राह्मणोंका जो मन है उनका वह मन मुझ फल चाहने वालेको प्राप्त हो ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

यत्काम कामयमाना इदं कृण्वसि ते हविः ।

तन्नः सर्वं समृध्यतामथैतस्य हविषो वीहि स्वाहा ५

यत् । काम । कामयमानाः । इदम् । कृण्मसि । ते । हविः ।

तत् । नः । सर्वम् । सम् । ऋध्यताम् । अथ । एतस्य । हविषः ।

वीहि । स्वाहा ॥ ५ ॥

हे काम वयं यत् फलं कामयमानाः सन्तः ते त्वदर्थम् इदम् इदानीं दीयमानं हविः चरुपुरोडाशादिकं कृण्मसि कुर्मः प्रयच्छामः । ❀ "लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः" इति उप्रत्ययस्य लोपः ❀ । अथ अनन्तरम् एतस्य प्रत्तस्य हविषः । ❀ "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति कर्मणः संप्रदानत्वाच्चतुर्थी । चतुर्थ्यर्थे षष्ठी ❀ । हविषो भागं वा वीहि भक्षय स्वाहा इदं हविः सुहुतम् अस्तु । ❀ वीगतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु । आदादिकः ❀ । तत् काम्यमानं नः अस्मदीयं सर्वं फलं समृध्यताम् समृद्धं संपूर्णं भवतु ॥

इति षष्ठेनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे काम ! हम जिस फलको चाहते हुए आपके लिये इस समय जिस चरुपुरोडाश आदि हविको दे रहे हैं, उस दी हुई हविके

भागको आप स्वीकृत करिये, यह हवि भली प्रकार आहुत हो। यह हमारा अभिलषित सब फल समृद्ध होवे, पूर्ण होवे ॥ ५ ॥

छठे अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (५६७)

"कालो अश्वो वहति" इति सूक्तद्वयस्य सौवर्णभूमिदाने आज्यहोमे विनियोगः। उक्तं हि परिशिष्टे। "अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम्" इति [प० १०, १]। कालप्रतिपादकत्वात् कालसूक्तम् इत्युच्यते ॥

"कालो अश्वो वहति" इन दोनों सूक्तोंका सौवर्णभूमिदानके घृतहोममें विनियोग होता है। इसी बातको परिशिष्टमें कहा है, कि–"अन्वारभ्याथ जुहुयात् कामसूक्तं कालसूक्तं पुरुषसूक्तम्" (अथर्वपरिशिष्ट १० । १)। यह सूक्त कालका प्रतिपादक होने से कालसूक्त कहलाता है ॥

तत्र प्रथमा ॥

कालो अश्वो वहति सप्तरंश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा ॥ १ ॥

कालः। अश्वः। वहति। सप्तऽरश्मिः। सहस्रऽअक्षः। अजरः। भूरिऽरेताः।
तम्। आ। रोहन्ति। कवयः। विपःऽचितः। तस्य। चक्रा। भुवनानि। विश्वा ॥ १ ॥

अनेन सूक्तद्वयेन सर्वजगत्कारणभूतः कालरूपः परमात्मा स्तूयते। तत्र प्रथमया कालोऽश्वात्मना रूप्यते। सप्तरश्मिः सप्त

संख्याका रश्मयो रज्जवो मुखग्रीवापादावबद्धा यस्य सः सहस्राक्षः सहस्रलोचनः अजरः जरारहितः नित्ययुवा भूरिरेताः। रेतः शुक्ररूपः सप्तमो धातुः। प्रभूतवीर्यः रेतःसेचनसमर्थः अपत्योत्पादनशक्तः कालः कलयिता अश्वो वहति स्वारोहकान् अभिमतं प्रदेशं प्रापयति। तम् अश्वं विपश्चितः अश्वारोहणावरोहणादिषु कुशला अश्वशास्त्रनिष्णाताः कवयो धीमन्तः आ रोहन्ति। तस्य अश्वस्य चक्रा चक्राणि। ❀ चङ्क्रमणाच्चक्रम् इति यास्कः [नि० ४. २७] ❀। गन्तव्यानि स्थानानि विश्वा विश्वानि भुवनानि। इति अश्वपक्षेर्थः॥ विवक्षितस्तु। अश्वः अश्नुते व्याप्नोति भूतभविष्यद्वर्तमानकालवर्तीनि वस्तूनीति अश्वः। कालः कलयिता सर्वस्य जगतः अनवच्छिन्नकालरूपः परमेश्वरः। सप्त रश्मिः। रश्मिशब्देन ऋतव उच्यन्ते। सप्तर्तुः एकैक ऋतुर्मासद्वयात्मकः सप्तमस्तु त्रयोदशो मासः। तथा च दाशतय्याम् आम्नायते। "साकंजानां सप्तथम् आहुरेकजं षळिद्यमा ऋषयो देवजा इति" इति [ऋ० १. १६४. १५]। अत्रापि समाम्नातं प्राक् [९. १४. १६]। सहस्राक्षः। अत्र अक्षिशब्देन दिनानि रात्रयश्च उच्यन्ते। सहस्रसंख्याकाहोरात्रयुक्तः। अजरः जरारहितः सर्वदा एकरूपः। भूरिरेताः प्रभूतजगत्सर्जनसमर्थशक्तिसंपन्नः। एवंरूपः कालो वहति प्राणिजातं स्वस्वकर्मसु प्रापयति। तं कालं कवयः क्रान्तदर्शिनो विपश्चितः विद्वांसः आ रोहन्ति स्वाधीनं कुर्वन्ति। स्वाधीनकाला भवन्तीत्यर्थः। तस्य कालात्मकस्य रथस्य चक्रा चक्राणि विश्वा विश्वानि भुवनानि भूतजातानि। लोकान् अभिगच्छन्तीति शेषः॥ अथ वा अश्वशब्देन आदित्य उच्यते। तथा च यास्कः। "एको अश्वो वहति सप्तनामा। आदित्यः। सप्तास्मै रश्मयो रसान् अभिसंनामयन्ति सप्तैनम् ऋषय स्तुवन्तीति वा" इति [नि० ४. २७]। कालात्मकोऽश्वः सूर्यः सप्त

रश्मयः प्रधानभूता यस्य । ते चैव सप्त सूर्या इत्युच्यन्ते । "देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष नः" इति निगमः [ऋ० ६. ११४. ३] । तेषां च नामानि तैत्तिरीया अधीयते । "आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः" इति [तै० आ० १. ७. १] । असौ तु प्रधानभूतः कश्यपाख्य आदित्यः । "कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति" इति श्रुतेः [तै० आ० १. ७. १] । यद्वा रश्मिशब्देन च्छन्दांस्यभिधीयन्ते गायत्र्यादीनि च्छन्दांसि यस्य । तथा च निगमः । "ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः" इति [तै० ब्रा० ३. १२. ६. १] । यद्वा रश्मिमन्तोऽश्वा रश्मिशब्देन उच्यन्ते । ❀ मत्वर्थीयस्य लोपः ❀ । सप्ताश्वः । "सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम्" इति निगमः [६.१४.२] । सहस्राक्षः अक्षिवद् अक्षीणि किरणाः सहस्रकिरणोपेतः अजरः अविनश्वरो नित्यः भूरिरेताः । उदकवाची रेतःशब्दः । "यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्ततेथ वर्षति" इति श्रुतिः [तै० सं० २.४, १०.२] । एवंरूप आदित्या वहति कालचक्रं धारयति । तं कालात्मकं सूर्यं विद्वांसः अधिगतपरमार्थाः आ रोहन्ति सूर्यमण्डलं भित्त्वा उपगच्छन्ति

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ ।
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥

इति स्मृतेः । यद्वा स्वात्मभावेन अधितिष्ठन्ति । अत एव आदित्यं पुरुषं प्रकृत्य श्रूयते । "तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहं तद् उक्तम् ऋषिणा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" इति [ऐ० आ० २.२.४] । तस्य सूर्यस्य चक्रा चक्राणि चङ्क्रमणानि व्याप्तिस्थानानि सर्वाणि जगन्तीति ॥

[इन दो सूक्तोंसे सब जगत्के कारणभूत कालरूप परमात्मा

की स्तुति की गई है। पहिली ऋचासे कालका अश्वरूपसे निरूपण करते हैं, कि-] मुख ग्रीवा पाद आदिमें बँधी हुई सात रस्सियोंवाला, सहस्र लोचन वाला, अजर अर्थात् नित्य तरुण रहने वाला, भूरि वीर्य वाला अर्थात् सन्तान उत्पन्न करनेमें समर्थ कलयिता अश्व अपने सवारोंको अभिलषित स्थानों पर पहुँचा देता है। उस अश्व पर घोड़े पर चढ़ने उतरनेमें चतुर बुद्धिमान् पुरुष चढ़ते हैं। उस अश्वके चक्र अर्थात् गन्तव्य स्थान सकल भुवन हैं। [यह अश्वपक्षका अर्थ पूर्ण होगया। अब अभीष्ट अथको कहते हैं, कि-] जो भूत भविष्यत् और वर्तमान कालकी सब वस्तुओंको व्याप्त कर लेते हैं वह अश्व, अनवच्छिन्न कालरूप परमेश्वर सब जगत्के कलयिता हैं। सात रश्मि अर्थात् ऋतु वाले हैं [दो दो मासकी एक एक ऋतु तो प्रसिद्ध ही हैं और सातवीं ऋतु अधिमास तेरहवाँ महीना है इसी बात को ऋग्वेदसंहिता १। १६४। १५ में कहा है, कि-"साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजं षलिद्यमा ऋषयो देवजा'इति"] वह दिनरातरूप सहस्र नेत्रों वाले हैं, सदा एकरूप रहने वाले अजर हैं, प्रभूत जगत्को रचनेकी शक्तिसे सम्पन्न भूरिरेता हैं। ऐसे काल सब प्राणियोंको अपने २ कार्यमें लगाते हैं। उन कालको क्रान्तदर्शी विद्वान् पुरुष स्वाधीन कर लेते हैं अर्थात् वे स्वाधीनकाल होते हैं। उस कालात्मक रथके चक्र सब भुवनोंमें जाते हैं [अथवा-यहाँ अश्वशब्दसे आदित्यका ग्रहण किया जाता है। इसी बातको यास्कमुनिने कहा है, कि—"एको अश्वो वहति सप्तनामा। आदित्यः। सप्तास्मै रश्मयो रसान् अभिसंनामयन्ति सप्तैनं ऋषयः स्तुवन्तीति वा।—सबमें व्यापन शील एक सूर्य ही चराचरका पालन करते हैं, सात किरणें उनमें रस नमाती हैं-पहुँचाती हैं। वा सात ऋषि इनकी स्तुति करते

हैं। इस लिए ये सप्तनामा कहलाते हैं" निरुक्त ४ । २७. इस पक्षमें यह अर्थ होगा, कि-] इस कालात्मक अश्व सूर्यकी सात किरणें प्रधान हैं। [वे सात सूर्य कहलाते हैं। ऋग्वेदसंहिता ९।११४।३ में कहा है, कि-"देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष नः।-हे सोम ! जो सात आदित्य देव हैं, उनके द्वारा आप हमारी रक्षा करिये।" इन सात सूर्योंके नामका तैत्तिरीय आरण्यक १।७।१ में इस प्रकार वर्णन है, कि-"आरोगो भ्राजः पटरः पतंगः स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः।" और यह तो प्रधान कश्यप नामक सूर्य हैं। इसी बातका तैत्तिरीय आरण्यक १।७।१ में वर्णन किया है, कि-"कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति।-कश्यप आठवें हैं, वह महामेरुका त्याग नहीं करते हैं"] वा—इस सूर्यात्मक कालके गायत्री आदि सात छन्द हैं, [तैत्तिरीय ब्राह्मण-३।१२।९।१ में कहा है, कि-"ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते। यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः। सामवेदेनास्तमये महीयते। वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः।-यह सूर्यदेव पूर्वाह्णमें द्युलोक पर ऋग्वेदके मन्त्रोंसे चलते हैं। दिनके मध्यभागमें यजुर्वेदमें स्थित रहते हैं। अस्तके समय सामवेदके द्वारा प्रशंसा पाते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंसे भरे पुरे रहने वाले सूर्यदेव आरहे हैं"॥ अथवा रश्मिशब्दसे रश्मिवाले अश्वोंका ग्रहण होता है। इसी बातका ९।१४।२ में वर्णन है, कि-"सप्त युञ्जन्ति रथं एकचक्रम्"] यह सहस्र नेत्रकी समान सहस्र किरणों से सम्पन्न हैं। यह अविनाशी हैं। सदा बहुतसे रेत अर्थात् जल से सम्पन्न रहते हैं। [इसी बातका तैत्तिरीयसंहिता २।४।१०।२में वर्णन किया है, कि-"यदा खलु वा असावादित्यो न्यङ्रश्मिभिः पर्यावर्ततेऽथ वर्षति।-जब यह सूर्य तिरछे लौटते हैं, तब वर्षा करते हैं"] ऐसे आदित्य इस कालरूपी चक्रको धारण कर रहे

हैं। ऐसे कालात्मक सूर्यमें आत्मतत्त्वको जानने वाले विद्वान् भेद कर आरूढ़ होजाते हैं [कहा भी है, कि—"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥-अर्थात् इस लोकमें दो पुरुष सूर्यमण्डलको भेदते हैं। पहिला योगी संन्यासी और दूसरा रणमें डट कर मरा हुआ"] अथवा वे स्वात्मभावसे अधिष्ठित होजाते हैं [अत एव आदित्य पुरुषका आरम्भ करके ऐतरेय आरण्यक २। २। ४ में कहा है, कि—"तद् योऽहं सोऽसौ सोऽहं तद् उक्तम् ऋषिणा सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।—जो मैं हूँ, वह यह सूर्य है वह सूर्य स्थावर और जंगम चराचर जगत्‌की आत्मा है] ऐसे सूर्यके व्याप्तिस्थान सब भुवन हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सप्त चक्रान् वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत् कालः स ईयते प्रथमो
नु देवः ॥ २ ॥

सप्त। चक्रान्। वहति। कालः। एषः। सप्त। अस्य। नाभीः। अमृतम्। नु। अक्षः।

सः। इमा। विश्वा। भुवनानि। अञ्जत्। कालः। सः। ईयते। प्रथमः। नु। देवः ॥ २ ॥

अनया संवत्सररूपकालचक्रं वर्ण्यते। तस्य संवत्सरकालस्य चक्राणि एकं त्रीणि पञ्च षट् सप्त सप्त द्वादशेति तत्रतत्र आम्नायते। "सप्त युञ्जन्ति रथम् एकचक्रम्" [६.१४.२] "त्रिनाभि चक्रम्" [६. १४. २] "सप्तचक्रे षडरे" [६. १४. १२] "द्वादशा-

रम्" [६. १४. १३] इत्यादिषु । तथा च शौनकोप्याह ।

त्रिधा द्वादशधा षोढा पञ्चधा सप्तधा तथा ।
संवत्सरं चक्रवच्च पराभिः कीर्तयत्यृषिः ॥

इति [बृ० ४. ३२] ॥ एष सर्वजगत्कारणत्वेन अनुभूयमानः कालः परमात्मा सप्त चक्रा चक्राणि सप्त ऋतून् अनु अनुक्रमेण वहति धारयति । अस्य संवत्सरस्य सप्त नाभीः नाभयः । नह्यते नाभिः । अत्तबन्धकानि मध्यच्छिद्राणि सप्त ऋतुसंधिकालाः । अस्य अक्षः तनु संततं सूक्ष्मम् अमृतम् अमरणधर्मकम् अविनश्वरं तत्त्वम् । सप्तचक्रच्छिद्रेषु प्रोतः अनुस्यूतोऽक्षः सत्यम् अबाध्यं तत्त्वम् । सः पूर्वोक्तसंवत्सररूपः प्रथमः सर्वस्य आदिभूतो देवः द्योतमानः नित्यज्ञानरूपः कालः परमात्मा इमा इमानि नामरूपात्मना व्याकृतानि विश्वा विश्वानि भुवनानि भवनवन्ति चराचरात्मकानि जगन्ति अञ्जत् अञ्जन् । ❀ अनक्तेः शतरि "अनित्यम् आगमशासनम्" इति नुमभावः ❀ । व्यक्तीकुर्वन् स्वेन कालेन अवच्छिन्नानि कुर्वन् उत्पादयन् सः स्यति संहरतीति सः । ❀ षो अन्तकर्मणि । कर्तरि कप्रत्ययः । आतो लोपः ❀। संहरंश्च ईयते गच्छति व्याप्नोति सर्वम् आवृत्य वर्तते । ❀ ईङ् गतौ । दैवादिकः ❀ । नुशब्दः प्रसिद्धौ ॥ यद्वा अध्यात्मपरत्वेन योज्यः । कालः कलयिता सर्वेन्द्रियव्यापारकर्ता शरीराभिमानी देवः । बन्धकाः विषया रूपादयः । तनु सूक्ष्मं दुर्दर्शम् । अमृतम् चैतन्यम् । अक्षः सर्वेन्द्रियेषु तद्विषयेषु च अनुगतः । एवं सर्वाणि प्राणिजातानि अञ्जत् प्रेरयन् ईयते । सः उपसंहरंश्च स कालः ईयते तत्त्वज्ञैर्ज्ञायते। ❀इण् गतौ । कर्मणि यक् प्रत्ययः❀॥

[इस ऋचामें सम्वत्सररूप कालचक्रका वर्णन किया है । इस सम्वत्सरकालके तीन पाँच छः सात और बारह चक्रोंका वर्णन जहाँ तहाँ मिलता है । यथा-सप्त युञ्जन्ति रथं एकचक्रम्

(६ । १४ । २) त्रिनाभिचक्रम् (६ । १४ । २) सप्तचक्रे षडरे (६ । १४ । १२) द्वादशारम् (६ । १४ । १३)। इसी बातको शौनकने कहा है, कि—

त्रिधा द्वादशधा षोढा पञ्चधा सप्तधा तथा ।
सम्वत्सरं चक्रवच्च पराभिः कीर्तयत्यृषिः ॥
बृहद्देवतानुक्रमणिका (४ । ३२)]

यह सर्वजगत्कारणत्वसे अनुभवमें आने वाले कालरूपी परमात्मा सात (ऋतुरूपी) चक्रोंको क्रमशः धारण करते हैं । इस संवत्सरकी (ऋतुसंधिकालरूप अक्षबंधक सात नाभियें हैं । इसका (संतत सूक्ष्म अविनश्वर तत्त्व) अमृत अक्ष है । यह पूर्वोक्तसंवत्सररूप, सबका आदिभूत देव नित्यज्ञानरूपकाल—परमात्मा, इन अनेक नाम और रूपोंसे व्याकृत चराचरात्मक जगत्को प्रकट करता हुआ संहार कर डालता है और संहार करता हुआ भी सबमें व्याप्त होकर स्थिर रहता है ॥ [अध्यात्मपक्षमें इसकी व्याख्या इस प्रकार होगी] सकल इन्द्रियोंके व्यापारोंके कर्ता शरीराभिमानी देव सब भुवनोंमें व्याप्त हैं। रूप आदि इनके बंधक हैं । यह सूक्ष्म दुर्दर्श हैं, अमृत अर्थात् चैतन्य हैं, सब इन्द्रियोंमें और उनके विषयोंमें अनुगत हैं । यह सब प्राणियोंको प्रेरणा करते हैं और उपसंहार करते हैं । इस प्रकार इनको तत्त्वज्ञ पुरुष जानते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

पूर्णः कुम्भोधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः ।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन् ॥ ३ ॥

पूर्णः । कुम्भः । अधि । काले । आऽहितः । तम् । वै । पश्यामः ।

बहुऽधा । नु सन्तः ।

सः । इमा । विश्वा । भुवनानि । प्रत्यङ् । कालम् । तम् । आहुः ।

परमे विऽओमन् ॥ ३ ॥

काले सर्वजगत्कारणभूते नित्ये अनवच्छिन्ने परमात्मनि स्व-स्वरूपे । ❀ अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ । पूर्णः सर्वत्र व्याप्तः कुम्भः कुम्भवत् कुम्भः अहोरात्रमासर्तुसंवत्सरादिरूपः अवच्छिन्नो जन्यः कालः आ हतः निहितो वर्तते । सर्वस्य कार्यस्य स्वकारणेऽवस्थानात् । अत्र विद्वदनुभवश्रुतिं प्रमाणयति । तं जन्यं कालं सन्तः सत्पुरुषा बहुधा नानाप्रकारम् अहोरात्रादिभेदेन पश्यामो नु अनुभवामः खलु । अथवा तं जन्यकालाधारं परमात्मानं बहुधा बहुभिःश्रवणमनननिदिध्यासनैः पश्यामः साक्षात्कुर्मः। सन्तः सद्रूपब्रह्मोपासका वयम् । "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः"इति हि श्रुतिः [तै० आ० ८.६] । वैनुशब्दौ प्रसिद्ध्यर्थौ । स कालः इमा इमानि परिदृश्यमानानि विश्वा विश्वानि व्याप्तानि भुवनानि भूतजातानि प्रत्यङ् प्रत्यञ्चनः अभिमुखाञ्चनः आव्याप्नुवन् भवति । तं कालं परमे उत्कृष्टे सांसारिकसुखदुःखादिद्वन्द्वदोषरहिते व्योमन् व्योमनि आकाशवन्निर्लेपे सर्वगते विविधं रक्षके परमानन्दप्रदायके स्वस्वरूपे वर्तमानम् आहुः विद्वांसः । ❀ व्योमन्निति । "सुपां सुलुक्०" इति सप्तम्या लुक् । "न ङिसंबुद्ध्योः" इति नलोपप्रतिषेधः ❀ ॥

सब जगत्के कारणभूत नित्य अनवच्छिन्न परमात्मा स्वस्वरूपमें, दिन रात मास ऋतु सम्वत्सर आदिरूप अनवच्छिन्न जन्य कालसे पूर्ण कुंभकी समान सर्वत्र व्याप्त है। उस जन्यकाल

को हम सत्पुरुष दिन रात्रि आदिके भेदसे अनेक प्रकारका अनुभव करते हैं । अथवा-सद्रूप ब्रह्मके उपासक हम सन्त उस जन्यकालाधार परमात्माका बहुतसे श्रवण मनन आदिसे साक्षात्-कार करते हैं [इसी बातका तैत्तिरीय आरण्यक ८ । ६ में वर्णन किया है, कि-"अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तम् एनं ततो विदुः"] वह काल इन दीखते हुए प्राणियोंको अभिमुख होकर व्याप्त कर लेते हैं । विद्वान् पुरुष उस कालको उत्कृष्ट, सांसारिक सुख दुःख आदि दोषोंसे शून्य आकाशकी समान निर्लेप, अनेक प्रकारसे रक्षक परमानन्ददायक स्वस्वरूपमें वर्तमान बताते हैं ३

चतुर्थी ॥

स एव सं भुवनान्याभरत् स एव सं भुवनानि पर्यैत् । पिता सन्नभवत् पुत्र एषां तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः ॥ ४ ॥

सः । एव । सम् । भुवनानि । आ । अभरत् । सः । एव । सम् । भुवनानि । परि । ऐत् ।

पिता । सन् । अभवत् । पुत्रः । एषाम् । तस्मात् । वै । न । अन्यत् । परम् । अस्ति । तेजः ॥ ४ ॥

स एव कालः भुवनानि भूतजातानि सम् आ अभरत् आहरत् आहरति उत्पादयति । ❀"हृग्रहोर्भः०" ❀ । यद्वा । ❀भृञ् भरणे । भौवादिकः ❀ । स्वेनोत्पादितानि भुवनानि समन्तात् पुष्णाति । स एव कालः भुवनानि सं पर्यैत् सम्यक् परिगच्छति व्याप्नोति । ❀ इण् गतौ । छान्दसे लङि "आडजादीनाम्" इति

आडागमः । "आटश्च" इति वृद्धिः ❀ । स एव पिता एषां भुवनानां जनकः सन् एषां पुत्रोभवत् भवति । काल एव पितृत्वेन पुत्रत्वेन च व्यवह्रियते । यः पूर्वजन्मनि पितृत्वेन जातः स एव अस्मिन् जन्मनि पुत्रत्वेन व्यवह्रियते अवच्छेदककालाधीनत्वात् सर्वस्य । अथ वा एकस्मिन् जन्मन्येव पितुः पुत्रत्वम् आम्नायते। "अङ्गाद् अङ्गाद् संभवसि हृदयाद् अधि जायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्" इति [कौ० उ० २. ११]। तस्मात् सर्वोत्पादकात् सर्वगतात् पुत्रादिरूपेण भविष्यतश्च तस्मात् कालाद् अन्यत् परम् उत्कृष्टं तेजो नास्ति । वैशब्दः प्रसिद्धौ । तेजो नास्तीति निषेधात् स्वस्यापि तेजोरूपत्वम् अर्थसिद्धम् । "तस्य भासा सर्वम् इदं विभाति" इति श्रुतेः । [क० व० ५. १५]

वही काल प्राणियोंको प्रकट करते हैं, वा-उनका पोषण करते हैं । और वही काल भुवनोंमें (प्राणियोंमें) भली प्रकार व्याप्त हैं । वही इन प्राणियोंके जनक होकर इनके पुत्र होजाते हैं अर्थात् काल ही पितृरूपसे और पुत्ररूपसे माना जाता है जैसे जो पूर्वजन्ममें पितारूपसे व्यवहृत होता है, वही इस जन्ममें पुत्ररूपसे व्यवहृत होता है, क्योंकि-सब अवच्छेदक कालके अधीन है । [अथवा-एक जन्ममें ही पिताके पुत्र होनेका शास्त्रमें वर्णन मिलता है, कि-"अंगाद् अंगाद् संभवसि हृदयाद् अधि जायसे । आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ।-तू अंगसे प्रकट होता है, हृदयसे उत्पन्न होता है हे पुत्र ! तू आत्मा ही है तू सौ वर्ष तक जीवित रह" [कौषीतकि उपनिषत् २ । ११ ।] इस सर्वोत्पादक सर्वगत पुत्रादिरूपसे भविष्यत् कालसे श्रेष्ठ और कोई तेज नहीं है । [तेज नहीं है, कहनेसे अपने आप भी उसका तेजोरूपत्व सिद्ध है । "तस्माद् वै सर्वमिदं विभाति" (कठवल्ली ५ । १५)] ॥ ४ ॥

पञ्चमी ॥

कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत ।

काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते ॥ ५ ॥

कालः । अमूम् । दिवम् । अजनयत् । कालः । इमाः । पृथिवीः । उत

काले । ह । भूतम् । भव्यम् । च । इषितम् । ह । वि । तिष्ठते ५

कालः परमात्मा अमूं विप्रकृष्टां दिवम् द्युलोकम् अजनयत् उत्पादितवान् । उत अपि च इमाः परिदृश्यमानाः सर्वप्राण्याधारभूताः पृथिवीः । व्यत्ययेन बहुवचनं कक्ष्याभेदेन वा । तथा च मन्त्रवर्णः । "यद् इन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्याम् उत स्थः" इति [ऋ० १. १०८. ६] । तथा । हशब्दः एवार्थे । काल एव भूतम् भूतकाले आधारे अवच्छिन्नं भव्यम् भविष्यच्च इषितम् इष्टम् इष्यमाणं वर्तमानकालावच्छिन्नं च जगद् वि तिष्ठते विशेषेण आश्रितं वर्तते । ❀ 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् ❀ ॥

कालरूपी परमात्माने इस द्युलोकको प्रकट किया है और सब प्राणियोंकी आधारभूता पृथिवीको भी कालने ही प्रकट किया है। और इस कालमें ही भूतकाल भविष्यत्काल और अभिलषित वर्तमान कालावच्छिन्न विशेषरूपसे आश्रित रहता है ५

षष्ठी ॥

कालो भूतिमसृजत कालै तपति सूर्यः ।

काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति ॥ ६ ॥

कालः । भूतिम् । असृजत । काले । तपति । सूर्यः ।

काले । ह । विश्वा । भूतानि । काले । चक्षुः । वि । पश्यति ६

कालः कालरूपः परमात्मा भूतिम् भवनवज्जगद्व असृजत । ❀ सृज विसर्गे तौदादिकः । व्यत्ययेन आत्मनेपदम् । दैवादिकाद् वा आत्मनेपदिनो व्यत्ययेन शः ❀ । काले प्रेरके सति सूर्यः आदित्यः तपति जगत् प्रकाशयति । काल एव आश्रये विश्वा विश्वानि भूतानि वर्तन्ते काले चक्षुः । उपलक्षणम् एतत् । चक्षुरादीन्द्रियाणि वि पश्यति । इदमपि उपलक्षणम् । दर्शनादि कर्माणि कुर्वन्ति । यद्वा चक्षुः । चक्षुःशब्दो लुप्तमत्वर्थीयः । चक्षुष्मान् सर्वेन्द्रियाधिष्ठाता वि पश्यति स्वस्वेन्द्रियव्यापारं करोति ॥

कालरूपी परमात्माने इस उत्पत्तिशील जगत्की रचना की है । और कालके प्रेरक होनेसे ही आदित्य इस जगत्को प्रकाशित करते हैं । कालके ही आश्रयमें सब प्राणी रहते हैं । कालमें ही चक्षुष्मान् इन्द्रियादिका अधिष्ठाता अपनी अपनी इन्द्रियोंके व्यापारको करता ॥ ६ ॥

सप्तमी ॥

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् ।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः ॥ ७ ॥

काले । मनः । काले । प्राणः । काले । नाम । सम्ऽआहितम् ।
कालेन । सर्वाः । नन्दन्ति । आऽगतेन । प्रऽजाः । इमाः ॥७॥

काले परमात्मनि मनः जगत्सिसृक्षानिमित्तभूतं मनो वर्तते । तस्मिन्नेव प्राणः सूत्रात्मा सर्वजगदन्तर्यामी वर्तते । अन्तर्यमनोपाधिकत्वेन काले वर्तत इति आधारव्यपदेशः । यद्वा मनः । जात्येकवचनम् । सर्वेषां प्राणिनां मनांसि । प्राणः पञ्चवृत्तिकः प्राणा अपि परमात्मन्येव वर्तन्ते । तथा नाम नामधेयं सर्वेषां वस्तूनां संज्ञा अपि तत्रैव

समाहितम् । स्त्रीपुरुषादिसंज्ञाभिः काल एव उच्यत इत्यर्थः । यद्वा सर्वेषां रूपाणि कृत्वा तेषां नामान्यपि स्वयमेव व्यवहरतीत्येतद-भिप्रायेण काले नाम समाहितम् इत्युक्तम् । "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते" इति हि श्रुतिः [तै० आ० ३. १२. ७] । कालेन वसन्तादिरूपेण आगतेन सर्वा इमाः प्रजाः नन्दन्ति संतुष्यन्ति स्वस्वकार्यसिद्धेः ॥

कालरूपी परमात्मामें जगत्को रचनेकी इच्छाका निमित्त मन रहता है । उसमें ही सब जगत्का अन्तर्यामी सूत्रात्मा प्राण रहता है । वा—उसी काल परमात्मामें सब जगत्के मन और पञ्चवृत्तिक प्राण रहते हैं । और सब वस्तुओंके नाम भी उसीमें रहते हैं अर्थात् स्त्री पुरुष आदिकी संज्ञासे काल ही कहा जाता है । अथवा सबके रूपोंको करके उनके नामोंका भी अपने आप ही व्यवहार करता है । इस अभिप्रायसे यह बात कही है । [इसी लिये तैत्ति-रीय आरण्यक ३ । १२ । ७ में कहा है, कि—"सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते"] और वसन्त आदिरूपसे आये हुए कालसे ही यह सब प्रजायें अपने २ कार्य की सिद्धि होनेके कारण सन्तुष्ट होती हैं ॥ ७ ॥

अष्टमी ॥

कालै तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् ।

कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत् प्रजापतेः ॥८॥

काले । तपः । काले । ज्येष्ठम् । काले । ब्रह्म । सम्ऽआहितम् ।

कालः । ह । सर्वस्य । ईश्वरः । यः । पिता । आसीत् । प्रजाऽपतेः ॥ ८ ॥

काले परमात्मनि तपः जगत्सर्जनविषयं पर्यालोचनम् । ❀ तप पर्यालोचने । अस्माद् असुन् ❀ । "तपसा चीयते ब्रह्म" [मु० १. १. ८] । इत्यादौ तपःशब्दः पर्यालोचनार्थत्वेन व्याख्यातः । तथा ज्येष्ठम् सर्वस्य आदिभूतं हिरण्यगर्भाख्यं तत्त्वं वर्तते । तथा ब्रह्म साङ्गो वेदस्तत्प्रतिपादकः समाहितम् सम्यगाहितः । यद्वा तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् । तत्फलप्रदातृत्वात् तत्रैव वर्तनम् । एकः कालशब्दो यौगिकः कलयितरि काले ज्येष्ठं ब्रह्म हिरण्याख्यम् । "ज्येष्ठं ब्रह्म श्रेष्ठं ब्रह्म" इति हि श्रुत्यन्तरम् । हशब्दः अवधारणे । कालः सर्वस्य जगत ईश्वरः स्वामी । यः कालः प्रजापतेः प्रजानां स्रष्टुश्चतुर्मुखस्य ब्रह्मणः पिता जनक आसीत् ॥

कालरूपी परमात्मामें, जगत्को रचनेका पर्यालोचनरूपी तप प्रतिष्ठित है । तथा उसीमें सबका आदिभूत हिरण्यगर्भरूपी तत्व ज्येष्ठ समाहित है। सांग वेद भी उसीमें प्रतिष्ठित है ॥ ८ ॥

नवमी ॥

तेनेषितं तेन जातं तदु तस्मिन् प्रतिष्ठितम् ।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् ॥ ९ ॥

तेन । इषितम् । तेन । जातम् । तत् । ऊं इति । तस्मिन् । प्रति-ऽस्थितम् ।
कालः । ह । ब्रह्म । भूत्वा । बिभर्ति । परमेऽस्थिनम् ॥ ९ ॥

तेन कालेन इषितम् इष्टं सर्वं स्रष्टव्यं जगत् । कामितम् इत्यर्थः । ❀ "तीषुसह०" इति इडागमः ❀ । तेनैव जातम् उत्पादितं जगत् । तत् तज्जगत् । उशब्दः अवधारणे । तस्मिन्नेव काले प्रतिष्ठितम् । कालो ह काल एव ब्रह्म देशकालावच्छिन्नं सच्चित्सुखयितृरसम् अबाध्यं परमार्थतत्त्वं भूत्वा परमेष्ठिनम् परमे स्थाने सत्यलोके तिष्ठन्तं चतुर्मुखब्रह्माणं बिभर्ति ॥

यह सब स्रष्टव्य जगत् उसी कालसे कामित है, यह जगत् कालका उत्पन्न किया हुआ है और उसी कालमें प्रतिष्ठित है। काल ही सत् चित् सुखयितृरस अबाध्य परमार्थतत्त्व ब्रह्म होकर परमस्थान–सत्यलोकमें स्थित चतुर्मुख ब्रह्माको धारण करता है९

दशमी ॥

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।
स्वयंभूः कश्यपः कालात् तपः कालादजायत १०

कालः । प्रऽजाः । असृजत । कालः । अग्रे । प्रजाऽपतिम् ।
स्वयम्ऽभूः । कश्यपः । कालात् । तपः । कालात् । अजायत १०

कालः अग्रे सृष्ट्यादौ प्रजापतिम् ब्रह्माणम् असृजत उदपादयत् । कालः प्रजाश्च असृजत । स्वयंभूः स्वयम् आत्मना भवतीति स्वयंभूः । कालव्यतिरिक्तकालान्तरनिषेधकः स्वयंशब्दः । कश्यपः आरोगभ्राजादिसप्तसूर्यापेक्षया अष्टमः सूर्यः । "कश्यपोष्टमः स महामेरुं न जहाति" इति श्रुत्यन्तरम् [तै० आ० १. ७. १] । उदाहृतम् [१] । ❀ कश्यपशब्दनिर्वचनं यास्केन एवं कृतम् । कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात्" इति [तै० आ० १. ८. ८] ❀ । तादृशः सर्वस्य द्रष्टा सूर्यः तपः संतापकं तेजश्च कालाद् अजायत ॥

इति षष्ठेनुवाके अष्टमं सूक्तम् ॥

सृष्टिके आरम्भमें कालने प्रजापतिको उत्पन्न किया है। और प्रजाओंको भी कालने ही रचा है। यह काल स्वयंभू है अर्थात् कालके अतिरिक्त और कोई दूसरा काल नहीं है। सबके द्रष्टा कश्यप (पश्यक) सूर्य भी इसी कालसे प्रकट हुए हैं [कश्यप नामक सूर्य आरोग भ्राज आदि सूर्योंकी अपेक्षा आठवें सूर्य हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक १ ।७।१ में कहा है, कि–"कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति ।–कश्यप आठवें सूर्य हैं, वह महामेरुको नहीं त्यागते हैं" और कश्यप शब्दका निर्वचन यास्क मुनिने इस प्रकार किया है, कि–"कश्यपः पश्यको भवति यत् सर्वं परिपश्यतीति सौक्ष्म्यात् ।–कश्यप पश्यक होते हैं, क्योंकि–वे सूक्ष्मतापूर्वक सबको देखते है" (तैत्तिरीय आरण्यक १ । ८ । ८)]१०

छठे अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (५६७) ॥

"कालादापः" इति सूक्तं कालप्रतिपादकत्वात् कालसूक्तम् इत्युच्यते । तस्य पूर्वसूक्तेन सह उक्तो विनियोगः ॥

"कालादापः" यह सूक्त कालप्रतिपादक होनेसे कालसूक्त कहलाता है इसका विनियोग पहिले सूक्तके साथ कह दिया है ।

तत्र प्रथमा ॥

कालादापः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः ।
कालेनोदेति सूर्यः काले नि विशते पुनः ॥ १ ॥

कालात् । आपः । सम् । अभवन् । कालात् । ब्रह्म । तपः । दिशः ।
कालेन । उत् । एति । सूर्यः । काले । नि । विशते । पुनः ॥१॥

कालात् सर्वजगत्कारणात् परमात्मनः सकाशाद् आपः ब्रह्माण्डाधारभूताः समभवन् । स्मर्यते हि ।

अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अवाकिरत् ।
तद् अण्डम् अभवद्धैमम्

इति [म० स्मृ० १. ६] । ब्रततपः ब्रतम् । कर्मनामैतत् । यज्ञादि कर्म । तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकम् । ❀ द्वन्द्वैकवद्भावः ❀ । यद्वा ब्रततप इति पञ्चमी । जगत्सर्जनकर्मणे तप्यमानात् कालाद् दिशः प्राच्याद्याः समभवन् । कालेन प्रेरकेण सूर्य उदेति उदयं गच्छति ।

"भीषास्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः" इति हि निगमः [तै० आ० ८. ८]। पुनः सूर्यः काले नि विशते विलीयते। अस्तम् एतीत्यर्थः। ❀ "नेर्विशः" इति आत्मनेपदम् ❀ ॥

कालसे अर्थात् सब जगत्के कारण परमात्मासे ब्रह्माण्डके आधारभूत जल प्रकट हुए [मनुस्मृतिमें कहा भी है, कि-"अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यम् अवाकिरत्। तदण्डं अभवत् हैमम्"- उन्होंने पहिले जलकी सृष्टि की और उनमें अपने वीर्यको स्थापित किया, वह सुवर्णका अण्ड हुआ"] उस कालसे ही यज्ञकर्म, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तप और पूर्व आदि दिशाएँ प्रकट हुईं। प्रेरक कालके द्वारा ही सूर्य उदयको प्राप्त होता है [तैत्तिरीय आरण्यक ८। ८ में भी कहा है, कि-"भीषास्माद् वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः।-इसके डरसे ही वायु बहता है और इसके भयसे ही सूर्य उदित होता है और कालमें ही सूर्य फिर अस्त होजाता है ॥ १ ॥

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता ॥ २ ॥

कालेन। वातः। पवते। कालेन। पृथिवी। मही।
द्यौः। मही। काले। आऽहिता ॥ २ ॥

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत् पुरा।
कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत ॥ ३ ॥

कालः। ह। भूतम्। भव्यम्। च। पुत्रः। अजनयत्। पुरा।
कालात्। ऋचः। सम्। अभवन्। यजुः। कालात्। अजायत ३

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम् ।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥४॥

कालः । यज्ञम् । सम् । ऐरयत् । देवेभ्यः । भागम् । अक्षितम् ।
काले । गन्धर्वऽअप्सरसः । काले । लोकाः । प्रतिऽस्थिताः ॥४॥

कालेयमङ्गिरा देवोथर्वा चाधि तिष्ठतः ।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान् विधृतीश्च पुण्याः ।
सर्वाल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः ॥ ५ ॥

काले । अयम् । अङ्गिराः । देवः । अथर्वा । च । अधि । तिष्ठतः ।
इमम् । च । लोकम् । परमम् । च । लोकम् । पुण्यान् । च । लोकान् । विऽधृतीः । च । पुण्याः ।
सर्वान् । लोकान् । अभिऽजित्य । ब्रह्मणा । कालः । सः । ईयते । परमः । नु । देवः ॥ ५ ॥

द्वितीया ॥ कालेन प्रेरयित्रा परमात्मना वातो वायुः पवते । ❀ पवतिर्गतिकर्मा ❀ । सर्वदा वाति । "भीषास्माद्वातः पवते" इति श्रुतिरुदाहृता [१] । तेनैव मही महती पृथिवी आहिता दृढं स्थापिता वर्तते । मही महती द्यौश्च काले आधारे आहिता निहिता स्थापिता । कालेनैव पित्रा प्रेरकेण पुत्रः प्रजापतिः भूतम्

भूतकालावच्छिन्नं भव्यम् भविष्यत्कालावच्छिन्नम्। चशब्दः अनुक्तसमुच्चयार्थः। वर्तमानं पुरस्तात् पूर्वम् अजनयत् उत्पादितवान् ॥

तृतीया ॥ कालात् परमात्मनः ऋचः पादबद्धा मन्त्राः समभवन्। यजुः प्रश्लिष्टपादरूपो मन्त्रः अजायत। उपलक्षणम् एतत् सामवेदादीनाम्। तथा च पुरुषसूक्ते समाम्नातम् "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत" इति [१६. ६. १३]। तथा कालः काल एव देवेभ्य इन्द्रादिभ्यः अक्षितम् क्षयरहितं भागम् भागत्वेन परिकल्पितं यज्ञम् प्रकृतिविकृत्यात्मकं सोमयागं समैरयत् उदपादयत्। इन्द्रादिदेवभागत्वेन यज्ञं जनयामास। ❀ अक्षितम् इति। क्षि क्षये। "निष्ठायाम् अण्यदर्थे" इति ण्यदर्थपर्युदासेन अत्र दीर्घाभावः। अत एव "क्षियो दीर्घात्" इति नत्वाभावः। ण्यदर्थो भावकर्मणी इति व्याख्यातम् ❀ ॥

चतुर्थी ॥ गां वाचं धारयन्तीति गन्धर्वाः। ❀ "गवि गंधृञो वः" इति वप्रत्ययः। गोशब्दस्य गम् इति आदेशः। धातोर्गुणः ❀। गन्धर्वा गायकाः अप्सु उदकेषु अन्तरिक्षे वा सरन्ति गच्छन्तीति अप्सरसः मध्यमलोकस्थानाः काल एव आधारे वर्तन्ते। किं बहुना लोकः सर्वेपि काले प्रतिष्ठिताः। लोकशब्दो जनवाची भुवनवाची च। अयम् अथर्ववेदस्य स्रष्टा देवः दीप्यमानः अङ्गिराः परमात्माङ्गरसोद्भूतः अङ्गिरा नाम देवः। अथर्वा। "अथार्वाग् एनम् एतास्वेवाप्स्वन्विच्छ" इति [गो० ब्रा० १. ४] ब्राह्मणे अशरीरया वाचा स्वस्रष्टारवेन अप्सु अर्वाग् अभिमुखम् एनं परमात्मानम् अन्विच्छेति अभिहितः परमात्मा अथर्वशब्दवाच्य इति बहुधा प्रपञ्चितम्। सोयम् अथर्वा अथर्ववेदस्रष्टा देवश्च काले स्वजनके अधि तिष्ठति। ❀ अधिशब्दः सप्तम्यर्थानुवादी ❀ ॥

पश्वरी ॥ इमं च सर्वकर्मार्जनस्थानं लोकम् भूमिं परमम् फल-भोगस्थानं स्वर्गलोकं पुण्यान् पुण्यकर्मभिरार्जितान् लोकान् पुण्याः दुःखलेशासंस्पृष्टा विधृतीः लोकधारकान् सर्वान् उक्तान् अनुक्तांश्च लोकान् ब्रह्मणा स्वकारणेन देशकालवस्तुपरिच्छेदरहितेन सत्य-ज्ञानानन्तादिलक्षणेन परमात्मना अभिजित्य अभिव्याप्य सः एतत्सूक्तद्वयप्रतिपाद्यः परमः सर्वोत्तमः कालो देवः ईयते सर्वं स्थावरजङ्गमात्मकं जगद् व्याप्य वर्तते । नुशब्दः विद्वदविद्वदनुभवप्रमाणद्योतनार्थः ॥

एकोनविंशे काण्डे षष्ठेनुवाके नवमं सूक्तम् ॥

षष्ठोऽनुवाकः समाप्तः ॥

कालसे अर्थात् प्रेरक परमात्मासे वायु बहता है, कालने ही विशाल पृथिवीको दृढ़तासे स्थापित कर रक्खा है । और विशाल द्युलोक भी कालरूप आधारमें स्थापित है । कालरूपी प्रेरक पितासे ही पुत्र प्रजापतिने भूत भविष्यत् और वर्तमानको प्रकट किया है ॥ कालसे अर्थात् परमात्मासे पादबद्ध मन्त्र (ऋचाएँ) प्रकट हुए हैं और उससे ही प्रश्लिष्ट पाठरूप मन्त्र यजुः प्रकट हुए हैं। (यह सामवेद आदिका उपलक्षण है । इसी अभिप्रायसे पुरुषसूक्तमें कहा है, कि-"तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद् अजायत ।" १६। ६ । १३] तथा कालने ही इन्द्र आदि देवताओंके भागरूपमें कल्पित प्रकृतिविकृत्यात्मक सोमयज्ञको उत्पन्न किया है ॥ वाणी की विशेषताको धारण करने वाले गायक गन्धर्व, तथा जल वा अन्तरिक्षमें विचरण करने वालीं मध्यस्थानीय अप्सराएँ भी कालरूपी आधारमें ही रहती हैं । अधिक क्या सब ही लोक काल में प्रतिष्ठित हैं। यह अथर्ववेदके स्रष्टा दीप्यमान, परमात्माके अंग-रससे प्रकट हुए अङ्गिरा अथर्वा भी अपने जनक इस कालमें

ही प्रतिष्ठित हैं ॥ सब कर्मोंको अर्जित करनेके स्थान इस भूलोक को, फलभोगके स्थान परमलोक अर्थात् स्वर्गलोकको पुण्यकर्मों से अर्जित पुण्यलोकोंको और दुःखके लेशसे अछूते लोकधारक सब उक्त और अनुक्त लोकोंको, अपने कारण देश काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित, सत्य ज्ञान अनन्त आदि लक्षणोंवाले परमात्मा–ब्रह्मके द्वारा व्याप्त करके वह सूक्तद्वयप्रतिपाद्य सर्वोत्तम कालदेव स्थावर जंगमात्मक सब जगत्को व्याप्त करके स्थित रहता है। इस बातको विद्वान् और अविद्वान् सब ही अनुभवसे जान सकते हैं ॥ २—५ ॥

उन्नीसवें काण्डके छठे अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (५९८) ॥

छठा अनुवाक समाप्त

सप्तमेनुवाके चतुर्दश सूक्तानि। तत्र "रात्रिंरात्रिम्" इति प्रथमसूक्तस्य प्रातरग्न्युपस्थाने लिङ्गतो विनियोगोऽवगन्तव्यः ॥

सातवें अनुवाकमें चौदह सूक्त हैं। इनमें "रात्रिं रात्रिम्" इस प्रथमसूक्तका लिंगानुसार प्रातःकालके समय अग्निके उपस्थानमें विनियोग समझना चाहिये ॥

तत्र प्रथमा ॥

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ १ ॥

रात्रिम्ऽरात्रिम्। अप्रऽयातम्। भरन्तः। अश्वायऽइव। तिष्ठते। घासम्। अस्मै।

रायः। पोषेण। सम्। इषा। मदन्तः। मा। ते। अग्ने। प्रतिऽवेशाः। रिषाम ॥ १ ॥

हे अग्ने तिष्ठते सर्वदा यजनीयत्वेन संनिहिताय। ❀ तिष्ठते। चतुर्थ्येकवचने रूपम् ❀। अस्मै गार्हपत्याद्यायतनेषु वर्तमानाय तुभ्यं घासवत् घासम् अदनीयं हविः। यथा अश्वाय घासं तृणादिकम्। रात्रिंरात्रिम्। वीप्सया सर्वेषु कालेष्वित्यर्थः। ❀ अत्यन्तसंयोगे द्वितीया ❀। अप्रयावम् अप्रच्छिद्य। सांतत्येनेत्यर्थः। ❀ यौतेर्घञन्तः प्रयावशब्दः। णमुलन्तो वा ❀। भरन्तः हरन्तः प्रयच्छन्तो वयं रायः धनस्य पोषेण पुष्ट्या इषा इष्यमाणेन अन्नेन च सं मदन्तः सम्यक् माद्यन्तः ते तव प्रतिवेशाः। संनिहितगृहं प्रतिवेश इत्युच्यते। तत्र वर्तमानास्त्वत्समीपवर्तिनो मा रिषाम मा हिंसिता भूम। यतो रक्षकस्य संनिधौ वर्तामहे अतो लब्धकाङ्क्षितफला निरुपद्रवाश्च भूयास्मेति आशास्यते॥

हे अग्ने! सदा पूजनीय अवस्थामें पासमें स्थितगार्हपत्य आदि स्थानोंमें वर्तमान आपके लिये भक्षणीय हविको सदा अनवच्छिन्नरूपमें प्रदान करते हुए हम धनकी पुष्टिसे और अभिलषित अन्नसे आनन्द पाते हुए आपके पास रहते हुये विनष्ट न हों [तात्पर्य यह है, कि—हम रक्षकके पास रहते हैं अतः अभिलषित फल हमको प्राप्त हो और हम निरुपद्रव रहें]॥ १॥

द्वितीया॥

या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ २॥

या। ते। वसोः। वातः। इषुः। सा। ते। एषा। तया। नः। मृड।

रायः । पोषेण । सम् । इषा । मदन्तः । मा । ते । अग्ने । प्रतिऽवेशाः । रिषाम ॥ २ ॥

हे अग्ने वासकस्य तव या अनुग्रहबुद्धिः अन्नप्रदस्य या च अनुग्रहबुद्धिः तया अस्मान् सुखय इति तात्पर्यार्थः ॥ रायस्पोषेणेत्यर्धं व्याख्यातम् ॥

हे अग्ने ! आप वासककी जो अनुग्रहबुद्धि है और आप अन्नप्रदकी जो अनुग्रहबुद्धि है उससे आप हमको सुख दीजिये । हे अग्ने ! आपके समीप रहने वाले हम धनपुष्टिसे और अन्नसे प्रसन्न रहें, नष्ट न हों ॥ २ ॥

तृतीया ॥

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ३

सायम्ऽसायम् । गृहऽपतिः । नः । अग्निः । प्रातःऽप्रातः । सौमनसस्य । दाता ।
वसोःऽवसोः । वसुऽदानः । एधि । वयम् । त्वा । इन्धानाः । तन्वम् । पुषेम ॥ ३ ॥

गृहपतिः गृहस्य स्वामी यजमानरूपः । गृहपतिना आहितो वा गृहपतिः । ❀ तद्धितप्रत्ययस्य लुक् ❀ । गार्हपत्योऽग्निः नः अस्माकं सर्वेषु सायंकालेषु प्रातःकालेषु च सौमनसस्य सुखस्य दाता भवति ॥ अथ प्रत्यक्षकृतः । हे अग्ने वसोर्वसोः सर्वस्य प्रभूतस्य धनस्य वसुदानः धनदाता एधि भव । वृत्त्यवृत्तिभ्यां

स्वामित्वं बहुत्वं च विवक्ष्यते । त्वा त्वाम् इन्धानाः हविर्भिर्दीपयन्तो वयं तन्वम् । ❀ एकवचनम् अतन्त्रम् ❀ । सर्वाणि पुत्रमित्रादिशरीराणि पुषेम पोषयेम । ❀ पुषेः "लिङ्याशिष्यङ्" इति अङ् प्रत्ययः ❀ ॥

घरका स्वामी गार्हपत्य अग्नि हमें सब प्रातःकालोंमें और सब सायङ्कालोंमें सुखके देने वाले होते हैं। हे अग्ने ! आप सबके धनको हमें प्रदान करते हुए हमारे पास बढ़िये । हवि आदिसे आपको दिपाते हुए हम पुत्र मित्र आदि सबके शरीरोंको पुष्ट रख सकें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम ४

प्रातःऽप्रातः । गृहऽपतिः । नः । अग्निः । सायम्ऽसायम् । सौमनसस्य । दाता ।
वसोःऽवसोः । वसुऽदानः । एधि । इन्धानाः । त्वा । शतम्ऽहिमाः । ऋधेम ॥ ४ ॥

पूर्वमन्त्रे शरीरपुष्टिः प्रार्थिता । अस्मिन् मन्त्रे जीवनं प्रार्थ्यत इत्येतावान् विशेषः । शतम् शतसंख्याका हिमाः हेमन्तर्तून् ऋधेम ऋध्यास्म । अग्निपरिचर्यया शतसंवत्सरजीवनवन्तो भूयास्म । ❀ ऋधु वृद्धौ । पूर्ववद् आशीर्लिङि अङ् प्रत्ययः । ङित्त्वाद् गुणाभावः ❀ ॥

घरके स्वामी गार्हपत्य अग्निदेव हमें सदा प्रातःकालके समय

और सायंकालके समय सुख देते हैं। ऐसे हे अग्ने! आप सबके धनको हमें प्रदान करते हुए बढ़िये आपको हवि आदिसे प्रदीप्त करतेहुए हम सौ हेमन्त ऋतुओं तक अर्थात् सौ वर्षों तक जीवित रहें

पञ्चमी ॥

अपश्चा दग्धान्नस्य भूयासम् ।
अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये ।
सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः ॥५॥

अपश्चा । दग्धऽअन्नस्य । भूयासम् ।
अन्नऽअदाय । अन्नऽपतये । रुद्राय । नमः । अग्नये ।
सभ्यः । सभाम् । मे । पाहि । ये । च । सभ्याः । सभाऽसदः ॥५

अन्नस्य अपश्चा दग्धा पश्चाद्भागे अदग्धा स्थालीपृष्ठभागे दग्धान्नरहितो भूयासम् । अल्पान्नस्य स्थालीपृष्ठभागे दुःश्रृतान्नसद्भावः प्रभूतान्नस्य तु तादृग्दोषसंभवो नास्तीति बह्वन्नलाभ आशास्यते । ❀ "पश्च पश्चा च च्छन्दसि" इति पश्चाशब्दो निपातितः । दहतेस्तृचि प्रत्यये रूपं दग्धेति । नञ्समासः ❀ । बह्वन्नलाभे कारणम् आह । अन्नादाय अन्नस्य भोक्त्रे भोजयित्रे वा अन्नपतये अन्नस्य स्वामिने रुद्राय रोदयित्रे रुद्रात्मकाय वा अग्नये नमः । "रुद्रो वा एष यद् अग्निः" इति तैत्तिरीयश्रुतेः [तै० ब्रा० १. १. ८. ४]। अग्निपरिचर्यया अन्नलाभो भवतीत्यर्थः। सभ्यःसभार्हस्त्वम्। ❀ "सभाया यः" इति यप्रत्ययः ❀। मे मदीयां सभाम् पुत्रमित्रपश्वादिसंघं पाहि रक्ष । अग्निरेव संबोध्यः। येच सभासदः सभायां समाजे सीदन्तस्ते सभ्याः सभार्हाः सन्ति ते च अस्मदीयं प्रजासंघं रक्षन्तु इति ॥

मैं स्थालीके नीचे जले हुए अन्नरससे रहित होऊँ । [अल्प अन्नसे बटलोईके नीचे अन्न जल सकता है और बहुतसे अन्न में यह दोष नहीं होसकता है अतः बहुतसे अन्नकी प्राप्तिकी यहाँ प्रार्थना की है । अब बहुतसे अन्नकी प्राप्तिका कारण कहते हैं, कि–] अन्नके भक्षक वा अन्नपति रुद्रात्मक ‡ अग्निके लिये प्रणाम है । सभामें बैठने योग्य आप पशु पुत्र मित्र आदिरूप मेरी सभाकी रक्षा करिये । और जो सभामें बैठने वाले सभ्य हैं वे हमारे प्रजासङ्घकी रक्षा करें ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्य१श्नवत् ।
अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने ।६।

त्वम् । इन्द्र । पुरुऽहूत । विश्वम् । आयुः । वि । अश्नवत् ।
अहःऽअहः । बलिम् । इत् । ते । हरन्तः । अश्वायऽइव । तिष्ठते ।
घासम् । अग्ने ॥ ६ ॥

हे पुरुहूत बहुभिराहूत इन्द्र ऐश्वर्यसंपन्न अग्ने त्वं विश्वम् संपूर्णम् आयुः अन्नं जीवनं वा व्यश्नवत् प्रापय । ❀ पुरुषव्यत्ययः । अश्नोतेर्लेटि अडागमः ❀ । कस्यायुःप्रापणम् इति तम् आह । तिष्ठते अश्वाय घासं तृणादिकमिव इत्ये प्राप्तव्ये गृहे वर्तमानाय अग्नये तुभ्यं प्रतिदिवसं बलिं हरन्तो भवन्ति तेषाम् आयुः प्रापयेति संबन्धः । ❀ इत्य इति । इण् गतौ । "एतिस्तुशास्वृ०" इति क्यप् प्रत्ययः । पित्त्वात् धातोस्तुगागमः ❀ ॥

इति सप्तमेनुवाके प्रथमं सूक्तम् ॥

---

‡ रुद्रात्मक अग्निका प्रमाण तैत्तिरीय ब्राह्मण१ । १ । ८ । ४ में है "रुद्रो वा एष यद् अग्निः" तात्पर्य यह है, कि–अग्निका पूजन करनेसे अन्नका लाभ होता है ।

हे बहुतोंसे आहूत ऐश्वर्य सम्पन्न पुरुहूत इन्द्र अग्ने ! आप सम्पूर्ण आयु भर हमको अन्न वा जीवन प्रदान करिये । जो पुरुष घोड़ेको ग्रास देनेकी समान घरमें वर्तमान आपके लिये प्रतिदिन बलि देते हैं उनको आप जन्मभर अन्न प्रदान करिये ६

सप्तम अनुवाकमें प्रथम सूक्त समाप्त (५९९)

"यमस्य लोकात्" इति सूक्तस्य दुःस्वप्ननाशनकर्मणि लैङ्गिकविनियोगोऽवगन्तव्यः ॥

"यमस्य लोकात्" सूक्तका लिंगानुसार दुःस्वप्ननाशनकर्ममें विनियोग समझना चाहिये ।

तत्र प्रथमा ॥

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान् प्र युनक्ति धीरः ।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ ॥ १ ॥

यमस्य । लोकात् । अधि । आ । बभूविथ । प्रऽमदा । मर्त्यान् । प्र । युनक्ति । धीरः ।
एकाकिना । सऽरथम् । यासि । विद्वान् । स्वप्नम् । मिमानः । असुरस्य । योनौ ॥ १ ॥

अस्मिन् सूक्ते दुःस्वप्नप्रभावो वर्ण्यते । हे दुःस्वप्नाभिमानिन् क्रूर पिशाच त्वं यमस्य लोकात् । ❀ अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी ❀ । आ बभूविथ आगतोसि । भूलोकं कर्म । ❀ भू प्राप्तौ इति धातुः । व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । आगत्य च धीरः धृष्टः कस्मादपि न

भीतस्त्वं प्रमदाः स्त्रियः मर्त्यान् मरणधर्मणः पुरुषांश्च प्र युनक्षि स्वात्मना संयोजयसि। भूलोकनिष्ठान् स्त्रीपुंसान् प्रति मृत्युसूचकदुःस्वप्नं करोषीत्यर्थः। ❀ प्रपूर्वाद् युनक्तेर्व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀। अथ विद्वान् देहिनाम् आयुर्वृद्ध्यवृद्धी जानन् त्वम् असुरस्य असुः प्राणः। ❀ रो मत्वर्थीयः ❀। प्राणवत आत्मनो योनौ उपलब्धिस्थाने हृदये स्वप्नम् कष्टम् अनिष्टफलं मिमानः निर्मिमाणः कुर्वन् एकाकिना त्यक्तपुत्रकलत्रबन्धनादिकेन दृष्टदुःस्वप्नेन म्रियमाणेन पुरुषेण एकाकिना असहायेन सरथम् समानो रथो रंहणसाधनं यस्मिन् कर्मणि तथा यासि गच्छसि। दुःस्वप्नदर्शिनम् एकं पुरुषं यमलोकं प्रापयसीति यावत्। ❀ "एकाद् आकिनिच् चासहाये" इति एकशब्दाद् आकिनिच् प्रत्ययः ❀ ॥

[इस सूक्तमें दुःस्वप्नके प्रभावका वर्णन किया जाता है, कि-] हे दुःस्वप्नके अभिमानी क्रूर पिशाच ! तू यमके लोकसे भूलोक पर आया है और आकर ढीट तू कदापि न डरता हुआ स्त्रियों के और मरणधर्मी मनुष्योंके पास पहुँच जाता है। तात्पर्य यह है, कि-भूलोकमें रहने वाले स्त्री पुरुषोंको मृत्युसूचक दुःस्वप्न प्रदान करता है। प्राणियोंकी आयुकी वृद्धि और अवृद्धिको जानने वाला प्राण वाले आत्माके प्राप्तिस्थान हृदयमें अनिष्टफलप्रद स्वप्नको देता हुआ तू स्त्री पुत्र आदिसे त्यागे हुए एकाकी और दुःस्वप्नको देखनेसे एकाकी पुरुषके रथ पर साथ ही बैठ कर जाता है अर्थात् दुःस्वप्नको देखने वाले एक ही पुरुषको यम लोकमें प्राप्त करा देता है ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत् पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि ।

ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः २

बन्धः । त्वा । अग्रे । विश्वऽचयाः । अपश्यत् । पुरा । रात्र्याः ।

जनितोः । एके । अह्नि ।

ततः । स्वप्न । इदम् । अधि । आ । बभूविथ । भिषग्ऽभ्यः ।

रूपम् । अपऽगूहमानः ॥ २ ॥

दुःस्वप्नस्य अहोरात्रसृष्टेः पूर्वभावित्वम् उच्यते । हे दुःस्वप्नाभिमानिन् त्वा त्वाम् अग्रे सृष्टेः प्राक्काले विश्वचयाः सर्वस्य चेता संचेता स्रष्टा बन्धुः प्राणिनः स्वस्वकर्मभिर्बध्नन् विधाता अपश्यत् दृष्टवान् । एके मानसप्रजापत्यादयः रात्र्या अह्नि । ❀ विभक्तिव्यत्ययः ❀ । अह्नः अहोरात्रयोः जनितो जननाद् अहोरात्रकालसृष्टे पुरा पूर्वम् । अपश्यन्नित्यर्थः । ❀ जनी प्रादुर्भावे । "भावलक्षणे स्थेण्०" इति तोसन् प्रत्ययः ❀ । ततः । आरभ्येति शेषः । हे स्वप्न इदं सर्वं जगद् अध्या बभूविथ । ❀ अधिरनर्थकः कर्मप्रवचनीयः ❀ । व्याप्तवान् असि । आगते दुःस्वप्ने चिकित्सकैः प्रतीकारः कर्तुं शक्यत इत्यत आह भिषग्भ्यः इति । भिषग्भ्यः चिकित्सकेभ्यो रूपम् स्वकीयाम् आकृतिम् अपगूहमानः संवृण्वन् आच्छादयन् । चिकित्सका हि रोगस्वरूपं तस्य निदानं च ज्ञात्वा औषधादिभिः प्रतीकारं कुर्वन्ति न तथा दुःस्वप्नस्य स्वरूपं निदानं च ज्ञात्वा प्रतिकुर्युरिति स्वरूपाच्छादनाभिप्रायः ॥

[अब यह दिखाते हैं, कि—दुःस्वप्नकी सृष्टि दिन और रात्रि की सृष्टिसे भी प्राचीन है] हे दुःस्वप्नके अभिमानी देवता ! सबकी सृष्टि करने वाले, प्राणियोंको अपने २ कर्मोंसे बाँधने वाले विधाताने सृष्टिके आरंभमें तुझको देखा था । और मानस

प्रजापति आदि मुख्य २ व्यक्तियोंने दिन और रात्रिकी सृष्टिसे भी पहिले तुझको देखा था हे स्वप्न ! उस समयसे ही तू इस सब जगत् पर आरूढ़ है । [अब यह दिखाते हैं, कि-दुःस्वप्नके होने पर चिकित्सक उसका प्रतीकार कर सकते हैं अतः] तू चिकित्सकोंसे अपने रूपको छिपा लेता है । [तात्पर्य यह है, कि चिकित्सक पुरुष रोगके स्वरूप और निदानको जान कर उसका प्रतीकार करते हैं इसी प्रकार दुःस्वप्नके रूप और निदान को जान कर प्रतीकार न कर सकें । इस लिये स्वरूपका आच्छादन है] ॥ २ ॥

तृतीया ॥

बृहद्गावासुरेभ्योधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन् ।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः

बृहत्ऽगावा । असुरेभ्यः । अधि । देवान् । उप । अवर्तत ।
महिमानम् । इच्छन् ।
तस्मै । स्वप्नाय । दधुः । आधिऽपत्यम् । त्रयःऽत्रिंशासः । स्वः ।
आनशानाः ॥ ३ ॥

बृहद्गावा बृहतो महतो दुष्प्रधर्षानपि पुरुषान् गाते गच्छतीति बृहद्गावा । ❀ गाङ् गतौ । "आतो मनिन्क्वनिप्०" इति क्वनिप् प्रत्ययः ❀ । बृहत् अधिकं गच्छति सर्वं व्याप्नोतीति वा तथाविधः स्वप्नः पूर्वम् असुरेभ्योधि असुरेभ्यः सकाशात् स्वयम् असुरपक्षीयः सन् तेभ्यः सकाशाद् देवान् उपावर्तत समीपं प्राप्तवान् । किमर्थम् । महिमानम् महत्त्वं प्रभावम् इच्छन् कामयमानः । महत्त्वैषणाद्धेतोरित्यर्थः । पूर्वम् असुरेषु साधारणपुरुषत्वेन वर्त-

मानः ततोऽप्यधिकं श्रेयः कामयमानो देवान् प्राप्नोत् । यथा लोके परराष्ट्रराजसमीपवर्त्ती बलवान् पुरुषः स्वस्माद् राज्ञो बहुमानम् अलभमानः स्वराजशत्रुभूतराजसमीपं बहुमानार्थं गच्छति एवं दुःस्वप्नोपि आगत इति तस्मै स्वसमीपम् आगताय स्वप्नाय कष्टफलकारिणे दुःस्वप्नाय स्वः स्वर्गम् आनशानाः व्याप्नुवन्तः । ❀ अश्नोतेर्लिटः कानचि "अश्नोतेश्च" इति नुडागमः ❀ । त्रयस्त्रिंशासः त्रयस्त्रिंशत्संख्याकाः "अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च वषट्कारश्च" इति [ऐ० ब्रा० १.१०] समाम्नाता देवाः । ❀ सर्वेषां त्रयस्त्रिंशत्संख्यापूरणत्वात् डट् प्रत्ययः कृतः । "आज्जसेरसुक्" ❀ । आधिपत्यम् सर्वलोकानिष्टकारित्वलक्षणं स्वामित्वं दधुः विदधुः कृतवन्तः । दत्तवन्त इत्यर्थः ॥

दुष्प्रधर्ष पुरुषोंके पास जाने वाला स्वप्न स्वयं असुरपत्नीय होनेसे पहिले असुरोंके पाससे देवताओंके पास महत्त्व पानेकी इच्छासे आया [पहिले असुरोंमें साधारणपुरुषरूपसे रहता हुआ, उससे भी अधिक श्रेयको चाहता हुआ देवताओंके पास पहुँचा । जैसे, कि—संसारमें परराष्ट्रसमीपवर्ती बली पुरुष अपने राजासे अधिक सत्कारको न पाता हुआ अपने राजाके शत्रुभूत, राजाके समीप, अधिक सत्कारको चाहता हुआ जाता है इसी प्रकार असुर दुःस्वप्न भी देवताओंके पास आगया] उस अपने समीप आये हुए कष्टप्रद फल देने वाले दुःस्वप्नके लिये स्वर्गमें रहने वाले, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, प्रजापति और वषट्कार इन ऐतरेयब्राह्मण १ । १० में वर्णित तैंतीस देवताओंने सब लोकोंका अनिष्ट करना रूप स्वामित्व प्रदान किया ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

नैनां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम् ।

त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानु-
शिष्टाः ॥ ४ ॥

न । एताम् । विदुः पितरः । न । उत । देवाः । येषाम् । जल्पिः । चरति । अन्तरा । इदम् ।

त्रिते । स्वप्नम् । अदधुः । आप्त्ये । नरः । आदित्यासः । वरुणेन । अनुऽशिष्टाः ॥ ४ ॥

एषां त्रयस्त्रिंशत्संख्याकानां देवानां या जल्पिः दुःस्वप्नाय प्राणिनां तत्तत्कर्मानुसारेण दुःस्वप्नदर्शननिबन्धनानिष्टफलकारित्वलक्षणाधिपत्यप्रदानरूपं यद् वाक्यम् इदं जगत् अन्तरा मध्ये चरति भक्षयति । आधिपत्यप्रदानरूपं वाक्यं जगत् संहरति । ❀ चरतिर्भक्षणार्थः ❀ । एतां जल्पिं पितरो न विदुः न जानन्ति । उत अपि च देवाः त्रयस्त्रिंशद्देवव्यतिरिक्ता अन्ये देवा न विदुः । केवलं स्वप्नस्य आधिपत्यप्रदातारो देवा दुःस्वप्नश्च एतम् अर्थं जानन्तीत्यर्थः ॥ एवं देवेभ्यो लब्धाधिपत्यो दुःस्वप्नः प्रबलः सन् स्वस्य आधिपत्यप्रदातृषु देवेषु मध्ये आदित्यान् नाम देवान् अनिष्टफलदु स्वप्नदर्शनेन जग्राह । तदा आदित्याः परस्परं विचार्य स्वेभ्य एव लब्धप्रभावो दुःस्वप्नः अस्मानेव गृहीतवान् अस्य क उपाय इति वरुणं पृष्टवन्तः । स पृष्टो वरुणः स्वप्नप्रतीकारमपि इमम् उपदिदेश । तद् अत्र उत्तरार्धेन उच्यते । नरः नेतारः आदित्यासः एतत्संज्ञका देवा वरुणेन पापनिवारकेण एतत्संज्ञकेन देवेन अनुशिष्टाः सम्यग् उपदिष्टाः सन्तः आप्त्ये अपां पुत्रे त्रिते एतत्संज्ञके महर्षौ स्वप्नम् अनिष्टफलसूचकं दुःस्वप्नम् अदधुः स्थापितवन्तः । निमार्जयन्निति यावत् । तथा च शाकला दाश-

तद्यथा समामनन्ति। "त्रिते दुःष्वप्न्यं सर्वम् आप्त्ये परि दद्मस्य-नेहसो व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः" इति [ऋ०८.४७.१५]॥

इन तैंतीस देवताओंका दुःस्वप्नको अपने अपने कर्मानुसार दुःस्वप्न देखनेसे होने वाले अनिष्टफलको देनेका आधिपत्यप्रदान रूप जो वाक्य इस जगत्‌के मध्यमें भक्षण करता है—जगत्‌का संहार करता है, उस वाक्यको पितर नहीं जानते हैं और तैंतीस देवताओंके अतिरिक्त अन्य देवता भी नहीं जानते हैं [तात्पर्य यह है, कि-केवल स्वप्नके अधिपतित्वको प्रदान करने वाले देवता और दुःस्वप्न इस अर्थको जानते हैं इस प्रकार देवताओंसे अधिपतित्वको पाकर दुःस्वप्न प्रबल होकर अपनेको अधिकार प्रदान करने वाले देवताओंमेंसे आदित्य नामक देवताओंको ही अनिष्टफलजनक दुःस्वप्नदर्शन से पकड़ने लगा। तब "यह हमसे ही प्रभाव पाकर हमको ही ग्रहण करना चाहता है" यह विचार कर आदित्योंने वरुणसे उपाय बूझा, तब वरुणने स्वप्नप्रतीकारका जो उपदेश दिया उसका उत्तरार्धमें वर्णन करते हैं, कि-] नेता आदित्योंने पापनिवारक वरुणसे उपदेश पाकर अप्‌पुत्र त्रित नामक महर्षिमें अनिष्टफलसूचक स्वप्नको स्थापित कर दिया-उतार दिया। [इसी बातका शाकलोंने ऋग्वेदसंहितामें वर्णन किया है, कि-"त्रिते दुःस्वप्न्यं सर्वं आप्त्ये परिदद्मस्यनेहसो व ऊतयः सु ऊतयो व ऊतयः" ऋग्वेदसंहिता ८। ४७। १५]॥ ४॥

पञ्चमी॥

यस्य॑ क्रूरमभ॑जन्त दुष्कृतो॑ऽस्वप्ने॑न सुकृतः॒ पुण्य॒मायुः॑।
स्व॑र्मदसि परमेण॑ बन्धुना॑ तप्यमा॑नस्य मनसोऽधि॑ जज्ञिषे॑

यस्य । क्रूरम् । अभजन्त । दुःऽकृतः । अस्वप्नेन । सुऽकृतः । पुण्यम् । आयुः ।

स्वः । मदसि । परमेण । बन्धुना । तप्यमानस्य । मनसः । अधि । जज्ञिषे ॥ ५ ॥

दुष्कृतः दुष्कर्माणः पापिनः पुरुषा यस्य दुःस्वप्नस्य क्रूरम् भयंकरम् अनिष्टं फलम् अभजन्त प्राप्नुवन्ति । सुकृतः सुकर्माणः अस्वप्नेन दुःस्वप्नदर्शनाभावेन पुण्यम् पुण्यकर्मनिमित्तम् आयुः जीवनम् । अभजन्तेति ॥ अथ प्रत्यक्षकृतः । हे दुःस्वप्न स्वः स्वर्गे लोके परमेण सर्वोत्तरेण बन्धुना सृष्टेः प्राक्काले त्वां दृष्टवता विधात्रा सह मदसि माद्यसि । ❀ माद्यतेर्व्यत्ययेन शप् प्रत्ययः ❀ । तप्यमानस्य मृत्युपाशेन संतप्यमानस्य पुंसो दुष्कर्मणः पुरुषस्य मनसोऽधि मनसः सकाशात् जज्ञिषे मृत्युसूचनार्थं प्रादुर्भूतो भवसि । ❀ जनी प्रादुर्भावे इति धातुः ❀ ॥

दुष्कर्मी पापी पुरुष जिस दुःस्वप्नके भयङ्कर फलको पाते हैं, और पुण्यात्मा दुःस्वप्न न दीखनेसे पुण्यकर्मनिमित्तक आयुको पाते हैं । ऐसे हे दुःस्वप्न! तू स्वर्गमें परमोत्कृष्ट सृष्टिसे पूर्वकाल के बन्धु विधाताके साथ आनन्द पाता है और मृत्युपाशसे तपते हुए दुष्कर्मी पुरुषके मनसे मृत्युकी सूचनाके लिये प्रादुर्भूत हुआ करता है ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद् विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते ।

यशस्विनो नो यशसेह पाह्याराद् द्विषेभिरप याहि दूरम् ॥ ६ ॥

विद्म । ते सर्वाः । परिऽजाः । पुरस्तात् । विद्म । स्वप्न । यः । अधिऽपाः । इह । ते ।

यशस्विनः । नः । यशसा । इह । पाहि । आरात् । द्विषेभिः । अप । याहि । दूरम् ॥ ६ ॥

हे स्वप्न ते तव पुरस्तात् सर्वाः परिजाः पुरस्ताद्भाविनः सर्वान् परिजनान् विद्म । ❀ परिपूर्वात् जायतेः "जनसनखनक्रमगमः०" इति विट् । "विड्वनोः०" इति अनुनासिकस्य आकारः ❀ । तथा इह इदानीं ते तव यः अधिपाः स्वामी तं च विद्म जानीमः । एवं तव स्वरूपं स्वामिनं परिजनांश्च जानतो यशस्विनः नः अस्मान् इह दुःस्वप्नप्रसङ्गे यशसा अन्नेन कीर्त्या वा निमित्तेन आरात् समीपे पाहि रक्ष द्वेष्टॄः द्विषोभिः द्वेष्टृभिर्बाधकैः सह अस्मत्तो दूरं देशम् अप याहि अपसृत्य गच्छ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके द्वितीयं सूक्तम् ॥

हे स्वप्न ! पहिले हम तेरे सब परिजनोंको जानते हैं । फिर तेरा जो स्वामी है उसको भी जानते हैं । इस प्रकार तेरे स्वरूप स्वामी और परिजनोंको जानते हुए हमको इस कीर्तिके कारण इस दुःस्वप्न देखनेके अवसर पर रक्षा कर । हमारे द्वेष्टाओं सहित तू दूर भाग जा ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वितीय सूक्त समाप्त (६००) ॥

"यथा कलां यथा शफम्" इति सूक्तेन पुरोहितो दुःस्वप्न-दर्शिनं राजानम् अभिमन्त्रयेत । उक्तं परिशिष्टे । "कुञ्जरं वा मत्तम् अश्वं श्वेतं गोवृषं वा यानं युक्तं वाजिभिर्यथारोहयेत् स्वप्न-कालेपुण्यविद्यान्मानसो यामभीष्टां तस्मात् तां रात्रिं प्रयतः स्व-पेत् । स्वप्नं दृष्ट्वा ऋत्विग्भ्यो निवेदयेत् । परोपेहि [६. ४५]

यो न जीवोसि [६. ४६] विद्म ते स्वप्न जनित्रं [६. ४६.२] यथा कलां यथा शफम् [१९. ५७] इति राजानम् अभिमन्त्र्य यथागतं गच्छेत्" इति ॥

"यथा कलां यथा शफम्" इस सूक्तसे पुरोहित दुःस्वप्नदर्शी राजाका अभिमन्त्रण करे ।इसी बातको अथर्वपरिशिष्टमें कहा है, कि-"कुञ्जरं वा मयत्तं अश्वं श्वेतं गोवृषं वा यानं युक्तं वाजिभिर्यथा रोहयेत् स्वप्नकालेऽमुष्य विद्यान्मानसो याममभीष्टां तस्मात्तां रात्रिं प्रयतः स्वपेत् । स्वप्नं दृष्ट्वा ऋत्विग्भ्यो निवेदयेत् । परोऽपेहि (६ । ४५) यो न जीवोऽसि (६ । ४६) विद्म ते स्वप्न जनित्रम् (६ । ४६ । २) यथा कलां यथा शफम् (१९ । ५७) इति राजानं अभिमन्त्र्य यथागतं गच्छेत् ॥"

तत्र प्रथमा ॥

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति ।

एवा दुष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि ॥ १ ॥

यथा । कलाम् । यथा । शफम् । यथा । ऋणम् । सम्ऽनयन्ति ।

एव । दुःऽस्वप्न्यम् । सर्वम् । अप्रिये । सम् । नयामसि ॥ १ ॥

यथा अवदानार्थं संस्कुर्वन्त ऋत्विजः हतस्य पशोः कलां शफम् इति अनवदानीयान्यङ्गानि सहादाय अन्यत्र संनयन्ति । यथा वा प्रवृद्धम् ऋणं संनयन्ति अपगमयन्ति उत्तमर्णाय प्रत्यर्पयन्ति एवं दुष्वप्न्यम् कुस्वप्ननिमित्तकं सर्वम् अनर्थजातम् आप्त्ये अपां पुत्रे त्रिताख्ये महर्षौ सं नयामसि संनयामः स्थापयामः समार्जयामः

जैसे अवदानके लिये संस्कार करते हुए ऋत्विज हत पशुके शफको अन्य अनवदानीय अङ्गोंके साथ लेकर अन्यत्र लेजाते हैं । वा बढे हुए ऋणको कर्जदारको देकर उतार देते हैं । इसी

प्रकार हम दुःस्वप्नसे होने वाले सब अनर्थोंको जलके पुत्र त्रित नामक महर्षि पर मार्जित करते हैं—उतारते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अगुः सं कला अगुः ।

सम॒स्मासु यद्दुष्वप्न्यं निर्द्विषते दुष्वप्न्यं सुवाम २

सम् । राजानः । अगुः । सम् । ऋणानि । अगुः । सम् । कुष्ठाः । अगुः । सम् । कलाः । अगुः ।

सम् । अस्मासु । यत् । दुःऽस्वप्न्यम् । निः । द्विषते । दुःऽस्वप्न्यम् । सुवाम ॥ २ ॥

यथा राजानः परराष्ट्रं विनाशयितुं समगुः संयन्ति संहता भवन्ति । ऋणानि बहूनि संयन्ति । एकस्मिन्नृणे अनपसारिते उपर्युपरि ऋणानि बहूनि भवन्तीति प्रसिद्धिः । कुष्ठाः । कुष्ठो नाम त्वग्दोषः । तदुपलक्षिता बहवो रोगाः । एकस्मिन् कुष्ठरोगे अचिकित्सिते तस्योपरि पिटकव्रणादीनि भवन्तीति प्रसिद्धिः । कलाः अनुपादेयावयवोपलक्षणम् । यथा वर्जनीयाः पश्वाद्यवयवा जीर्णकूपादिषु संहता भवन्ति । एवम् अस्मासु यद् दुःस्वप्न्यम् दुःस्वप्ननिमित्तकम् अनर्थजातं सम् । अगात् इति एकवचनेनानुषङ्गः समितं संहतं वर्तते तद् दुःष्वप्न्यम् अरिष्टजातं द्विषते अस्मद्द्वेष्ट्रे निः सुवाम अस्मत्तो निःसार्य प्रेरयाम । ❀ षू प्रेरणे । तौदादिकः ❀ ॥

जैसे राजा शत्रुके राज्यको नष्ट करनेके लिए संगत होते हैं, और जैसे बहुतसे ऋण एकत्रित होते जाते हैं । और जैसे कुष्ट

आदि बहुतसे रोग होजाते हैं अर्थात् एक कुष्ठकी चिकित्सा न करने पर उसके ऊपर फुंसी घाव बहुतसे रोग होजाते हैं। जैसे त्यागने योग्य खुर आदि पुराने कूप आदिमें एकत्रित होजाते हैं इसी प्रकार हममें जो दुःस्वप्नको देखनेसे अनर्थोंका समूह भर गया है, उसको हम अपने शत्रुओं पर उतारते हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न ।
स मम यः पापस्तद्द्विषते प्र हिण्मः ।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम् ॥ ३ ॥

देवानाम् । पत्नीनाम् । गर्भ । यमस्य । कर । यः । भद्रः । स्वप्न ।
सः । मम । यः । पापः । तत् । द्विषते । प्र । हिण्मः ।
मा । तृष्टानाम् । असि । कृष्णऽशकुनेः । मुखम् ॥ ३ ॥

हे देवानां पत्नीनां गर्भ । दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवा गन्धर्वाः । पत्नीशब्देन अप्सरसः । गन्धर्वाप्सरसां गर्भ पुत्र । ता हि महाजलवृक्षादिस्थानेषु स्थित्वा पुरुषान् उन्मादयन्तीति तैत्तिरीयश्रुतिप्रसिद्धिः [तै० सं० ३. ४. ८. ४]। अत्रापि उन्मादनयोगात् तत्पुत्रत्वेन स्वप्नस्य व्यपदेशः । ❀ "सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे" इति षष्ठ्यामन्त्रितसमुदायस्य पाष्ठिकम् आद्युदात्तत्वम् ❀ । हे यमस्य कर । यथा प्रेताधिपतिः स्वीयेन हस्तेन यंकंचन वध्यं गृहीत्वा घातयति एवं दुःस्वप्नेनापि तथा करोतीति स्वप्नस्य तत्करत्वव्यपदेशः । एवं प्रभाव हे स्वप्न त्वदीयो भद्रः मङ्गलकारी यः अंशोस्ति सोंऽशो ममास्तु । यः पापः क्रूरः अनिष्टकारी अंशः तं द्विषते शत्रवे प्र हिण्मः प्रेरयामः । ❀ हि गतौ वृद्धौ

च। स्वादिः। "हिनु मीना" इति णत्वम्। "लोपश्चास्य०" इति श्नुप्रत्ययस्य अन्त्यलोपः ❀। कृष्णशकुनेः। कृष्णः पक्षी वायसः। तस्य मुखम् मुखवन्मुखं वायसमुखभूतः स्वप्नस्त्वं बाधको मा भवेत्यर्थः ॥

हे क्रीड़ा करने वाले देव अर्थात् गन्धर्वोंके, और पत्नी अप्सराओंके गर्भ! अर्थात् हे गन्धर्व और अप्सराओंके पुत्र! [ये ही महाजल और वृक्ष आदिक स्थानोंमें स्थित होकर पुरुषों को उन्मादित करती हैं। यह बात तैत्तिरीयसंहिता ३।४।८।४ में कही है यहाँ भी उन्मादनके योगसे स्वप्नको उनका पुत्र बताया है] हे यमके हाथ! [जैसे प्रेतराज अपने हाथसे चाहे जिस वध्यको पकड़ कर मार डालता है, इसी प्रकार दुःस्वप्न भी वैसा ही करता है अत एव उसको यमका हाथ कहा है] हे ऐसे प्रभाव वाले स्वप्न! तेरा जो मङ्गल करने वाला अंश है वह मेरा हो, और तेरा जो अनिष्टकारी क्रूर अंश हो उसको हम शत्रुके लिये प्रेरित करते हैं। कृष्ण-शकुनि (कौए) का जो मुखकी समान बाधक स्वप्नरूपी मुख है वह मुझे बाधा न देवे ३

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्वं इव कायमश्वं इव नीनाहम्।

अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे ॥ ४ ॥

तम्। त्वा। स्वप्न। तथा। सम्। विद्म। सः। त्वम्। स्वप्न। अश्वःऽइव। कायम्। अश्वःऽइव। नीनाहम्।

अनास्माकम् । देवऽपीयुम् । पियारुम् । वप । यत् । अस्मासु ।
दुःऽस्वप्न्यम् । यत् । गोषु । यत् । च । नः । गृहे ॥ ४ ॥

अनास्माकस्तद् देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव प्रति मुञ्चताम् ।
नवारत्नीनपमया अस्माकं ततः परि ।
दुष्वप्न्यं सर्वं द्विषते निर्दयामसि ॥ ५ ॥

अनास्माकः । तत् । देवऽपीयुः । पियारुः । निष्कम्ऽइव । प्रति । मुञ्चताम् ।
नव । अरत्नीन् । अपऽमयाः । अस्माकम् । ततः । परि ।
दुःऽस्वप्न्यम् । सर्वम् । द्विषते । निः । दयामसि ॥ ५ ॥

चतुर्थी ॥ हे स्वप्न तं तादृशं त्वा त्वां तथा तेन प्रकारेण तदर्थम् उत्पन्न आगत इति सर्वं सं विद्म जानीमः । हे स्वप्न स त्वम् अश्वो यथा स्वकीयं रजोधूसरं काय धुनोति यथा च अश्वः नीनाहम् पल्याणकवचादिकम् अवकिरति एवम् अस्माकं पियारुम् । ❀ पीयतिर्हिंसाकर्मा ❀ । बाधकम् न केवलम् अस्माकमेव बाधकं किं तु देवपीयुम् देवानां बाधकं यज्ञविघातिनम् अव वप । तिरस्कुर्वित्यर्थः । दुःस्वप्नफलं तस्यास्त्विति यावत् ॥

पञ्चमी ॥ अस्मासु अस्माकं वपुषि यद् दुष्वप्न्यं वर्तते यच्च गोषु गवाम् अनर्थसूचकं दुष्वप्न्यं यच्च नः अस्मदीये गृहे वर्तते तद् अस्माकम् अरिष्टम् अव । गमयेति शेषः । तद् अरिष्टजातं देवपीयुः पियारुः शत्रुः निष्कमिव सौवर्णम् आभरणमिव प्रति मुञ्चतात् । स्वशरीरे धारयत्वित्यर्थः ॥

षष्ठी ॥ अस्माकं संबन्धि दुष्वप्न्यं नवारत्निपर्यन्तम् अपसारय । यथा तत्संस्पर्शो न भवति तथा कुर्विति वक्तुं नवारत्निप्रमाणम् उक्तं वेदितव्यम् । ततः अनन्तरं सर्वम् उत्पन्नं दुष्वप्न्यम् अप्रिये द्वेष्ये प्रेरयामः ॥

इति सप्तमेनुवाके तृतीयं सूक्तम् ॥

हे स्वप्न ! इस प्रकार उत्पन्न हुए और आने वाले तुझको हम भली प्रकार जानते हैं । घोड़ा जिस प्रकार धूलिधूसरित शरीरको झाड़ता है और काठी कवच आदिको गिरा देता है । इसी प्रकार तू हमारे बाधकको और देवता तथा यज्ञोंके बाधक को तिरस्कृत कर । अर्थात् दुःस्वप्नका फल उसको प्राप्त हो हमारे शरीरमें जो दुःस्वप्न है और गौओंके अनर्थको सूचित करने वाला जो दुःस्वप्न्य हमारे घरमें है उस हमारे अरिष्टको आप दूर करिये । उस अरिष्टको देवविरोधी हमारा शत्रु आभूषणकी समान आपने शरीरमें धारण करे ॥ हमारा जो दुःस्वप्न-सम्बन्धी कुफल है उसको आप नौ (कनअँगुलीरहित मुट्ठीमात्र स्थान) अरत्नि तक दूर हटाइये । इसके अतिरिक्त हम सब उत्पन्न हुए दुःस्वप्न्यको हम अप्रिय द्वेष्टा पर उतारते हैं ।४।५।

सप्तम अनुवाकमें तृतीय सूक्त समाप्त (६०१)

"घृतस्य जूतिः" इति सूक्तस्य विनियोगो लिङ्गाद् अवगन्तव्यः । तत्र दर्शपूर्णमासयोराज्यभागहोमात् पूर्वं "यज्ञस्य चक्षुः" इत्यनया आज्यं जुहुयात् । सूत्रितं हि दर्शपूर्णमासौ प्रक्रम्य "अग्नावग्निः [४. ३९. ९] हृदा पूतम् [४. ३९ १०] पुरस्ताद्युक्तः [५. २९ १] यज्ञस्य चक्षुः [१९. ५८. ५] इति जुहोति" इति [कौ० १. ३] ॥

"घृतस्य जूतिः" सूक्तका विनियोग लिंगानुसार समझना चाहिये। तहाँ दर्शपूर्णमास होमोंके आज्यभागहोमसे पहिले" यज्ञ-

स्य चक्षुः" ऋचासे घृतकी आहुति देय । दर्शपूर्णमासोंका आरंभ करके कौशिकसूत्र १ । ३ में कहा है, कि-"अग्नावग्निः (४ । ३६ । ६) हृदा पूतम् (४ । ३६ । १०) पुरस्ताद्युक्तः (५ । २६ । १) यज्ञस्य चक्षुः (१६ । ५८ । ५) इति जुहोति" (कौशिकसूत्र १ । ३) ॥

तत्र प्रथमा ॥

घृतस्य जूतिः समना सदेवा संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती । श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः ॥ १ ॥

घृतस्य । जूतिः । समना । सऽदेवा । सम्ऽवत्सरम् । हविषा । वर्धयन्ती ।

श्रोत्रम् । चक्षुः । प्राणः । अच्छिन्नः । नः । अस्तु । अच्छिन्नाः । वयम् । आयुषः । वर्चसः ॥ १ ॥

अस्मिन् सूक्ते मनसा निर्वर्त्यो यज्ञः स्तूयते । घृतस्य । ❀ घृ क्षरणदीप्त्योः ❀ । दीप्तस्य परतेजसो जूतिः । ❀ जु इति सौत्रो धातुः । "ऊतियूतिजूति०" इति क्तिन्प्रत्ययान्तत्वेन निपातितः ❀। सर्वेषां गत्यर्थानां ज्ञानार्थत्वात् जूतिशब्देन सर्वत्र प्रसृतं ज्ञानम् उच्यते । अत एव ऐतरेयकाः "मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति" इति [ऐ० आ० २. ६. १] समामनन्ति । घृतस्य जूतिरिति परमात्मनः स्वरूपविषयं ज्ञानम् । कीदृशी । समनाः समानमनस्का सर्वेषां प्राणिनां मनांसि यस्मिन् प्रज्ञाने समाश्रि-

तानि। सदेवा देवाः इन्द्रियाणि सर्वप्राणिसंबन्धीनि तत्सहिता परमात्मविषया बुद्धिः संवत्सरम् संवसन्त्यत्र भूतानीति संवत्सरः परमात्मा तं हविषा शब्दस्पर्शादिरूपप्रपञ्चेन हूयमानेन वर्धयन्ती पुष्णती भवति। वस्तुकृतपरिच्छेदपरिहार एव परमात्मनः पोष इत्यर्थः। शब्दादिविषयाणां ज्ञानाग्नौ होमो भगवतापूयुक्तः।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयान् अन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।

इति [भं० गी० ४. २७]॥ एवं ज्ञानयज्ञप्रवर्तकानां नः अस्माकं श्रोत्रं चक्षुः प्राणः। एतद् उपलक्षणं ज्ञानेन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च। प्राणः शरीरधारको वायुः अच्छिन्नः अविनश्वरः अस्तु। वयं च आयुषो जीवनस्य वर्चसस्तेजसः अच्छिन्नाः छिन्नं छेदः विनाशः तद्रहिता भूयास्म इन्द्रियादीनां बाह्यविषयप्रवर्तनपरिहारेण आत्मविषयत्वकरणेन तेषां विच्छेदाभाव आशास्यते॥

[इस सूक्तमें मनसे सम्पन्न होने वाले यज्ञकी स्तुति की गई है, कि—] परमदीप्तिमान् परमात्मस्वरूपका ज्ञान, और सब प्राणियोंके मन तथा सब इन्द्रियें जिसमें समाश्रित हैं। ऐसी परमात्मविषया बुद्धि, जिसमें भूत भली प्रकार वसते हैं उस सम्वत्सर-परमात्माको हूयमान शब्दस्पर्शप्रपञ्चादिरूप हविसे पुष्ट करती रहती है अर्थात् वस्तु कृतपरिच्छेदका अभाव ही परमात्मा का पोष है [भगवान्‌ने भी शब्दविषयोंके ज्ञानाग्निमें होमका वर्णन किया है, कि—"श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति। शब्दादीन् विषयानन्ये इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे। आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥—कोई साधक पुरुष यम नियम आसन और प्राणा-

याम इन चार योगके अंगोंको सिद्ध करके प्रत्याहार आदिको सिद्ध करनेके लिये श्रवण आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंको अपने २ शब्द आदि विषयोंसे निवृत्त करके संयम (एक वस्तुको विषय करने वाले धारणा ध्यान और समाधि) रूप अग्निमें होमते हैं। संयमसे पीछे होने वाले जो सम्प्रज्ञात योग हैं धर्ममेघसमाधि और असम्प्रज्ञात योग उनका समास भी संयम में समझनेके लिये मूलमें संयमाग्निषु यह बहुबचन दिया है। दूसरे समाधिसे उठे हुए कोई २ योगी पुरुष शास्त्रविहित विषयोंका रागद्वेषरहित इन्द्रियोंमें होम करते हैं ॥ और वेदान्तमें निष्ठा रखने वाले कोई २ पुरुष तो पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंको पाँचों कर्मेन्द्रियोंको तथा मन और बुद्धि इन दो को, इन सबके कर्मोंको तथा पाँच प्राणोंके कर्मोंको वेदान्तके तत्त्वमसि आदि महावाक्योंसे प्रकाशमान हुए आत्मसंयमरूप योगाग्निमें होम देते हैं" भगवद्गीता ४ २६–२७] इस प्रकार ज्ञानयज्ञ प्रवर्तकोंका, हमारा श्रोत्र, चक्षु, प्राण अच्छिन्न रहे, और हम भी आयुके छेद अर्थात् विनाशसे रहित रहें। [इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंकी प्रवृत्तिसे हटाकर आत्माभिमुखी करके उनके अविच्छेदकी प्रार्थना की है] १

द्वितीया ॥

उपास्मान् प्राणो ह्वयतामुप वयं प्राणं हवामहे।
वर्चो जग्राह पृथिव्यन्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधत्ता ॥ २ ॥

उप । अस्मान् । प्राणः । ह्वयताम् । उप । वयम् । प्राणम् । हवामहे
वर्चः । जग्राह । पृथिवी । अन्तरिक्षम् । वर्चः । सोमः । बृहस्पतिः ।
विऽधत्ता ॥ २ ॥

अस्मान् मानसयज्ञप्रवर्तकान् प्राणः शरीरधारकः पञ्चवृत्तिको वायुः उप ह्वयताम् चिरकालजीवनाय अनुजानातु । वयं च प्राणम् उप ह्वयामहे अस्मदीयेषु शरीरेषु चिरकालावस्थानाय प्रार्थयामहे । पृथिवी अन्तरिक्षं च वर्चस्तेजः जग्राह स्वीकृतवती । अस्मभ्यं दातुम् इति शेषः । अत्र वर्चःशब्देन शरीरधारक ओजो नाम अष्टमो धातुर्विवक्षितः । तथा सोमः बृहस्पतिः विधत्ता विशेषेण धर्ता अग्निः सूर्यो वा वर्चो जग्राह अस्मभ्यं दातुम् इति शेषः ॥

हम मानसयज्ञके प्रवर्तकोंको शरीरधारक पञ्चवृत्तिक वायु प्राण चिरकालके जीवनकी अनुज्ञा प्रदान करे, और हम भी चिरकाल तक अपने शरीरोंमें विराजमान रहनेके लिये प्राणसे प्रार्थना करते हैं । पृथिवी और अन्तरिक्षने हमको प्रदान करनेके लिये तेजको स्वीकार कर लिया है । [यहाँ वर्चशब्दसे वा तेजशब्दसे शरीरधारक अष्टमधातु ओजका ग्रहण किया है] तथा सोम बृहस्पति और विशेषरूपसे पुष्ट करने वाले सूर्यने भी हमको देनेके लिये वर्चको स्वीकार कर लिया है ॥ २ ॥

तृतीया ॥

वर्च॑सो द्यावा॑पृथि॒वी सं॒ग्रह॑णी ब॒भूव॒थुर्वर्चो॑ गृही॒त्वा पृ॑थि॒वीमनु॒ सं च॑रेम ।
यश॑सं गावो॒ गोप॑ति॒मुप॑ तिष्ठन्त्याय॒तीर्यशो॑ गृही॒त्वा पृ॑थि॒वीमनु॒ सं च॑रेम ॥ ३ ॥

वर्च॑सः । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । सं॒ग्रह॑णी इति॑ स॒म्ऽग्रह॑णी । ब॒भू॒वथुः । वर्चः॑ । गृ॒ही॒त्वा । पृ॒थि॒वीम् । अनु॑ । सम् । च॒रे॒म॒ ।

यशसम् । गावः । गोऽपतिम् । उप । तिष्ठन्ति । आऽयतीः ।

यशः । गृहीत्वा । पृथिवीम् । अनु । सम् । चरेम ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ युवां वर्चसः संग्रहणी संग्रहण्यौ दात्र्यौ बभूवथुः भवतम् । वर्चः युवाभ्यां दत्तं तेजो गृहीत्वा अवलम्ब्य पृथिवीम् । द्युलोकस्य उपलक्षणम् । भूलोकं द्युलोकं च अनु उद्दिश्य । ❀ लक्षणे अनुः कर्मप्रवचनीयः ❀ । सं चरेम संचारं कुर्याम । ततः गावो धेनवः गोपतिम् गवां स्वामिनं मां यशसा अन्नेन कीर्त्या वा सह उप तिष्ठन्ति समीपं प्राप्नुवन्तु । ततो वयम् आयतीः आगच्छतीर्धेनूः यशश्च गृहीत्वा पृथिवीम् अनु सं चरेम उभयोर्लोकयोः संचारिणो भवेम । यद्वा पृथिवीम् भूलोकमेव अनु सं चरेम इत्युभयत्रार्थः ॥

हे द्यावापृथिवी ! तुम वर्चके देने वाले होओ तुम्हारे दिये हुए तेजको ग्रहण करके हम भूलोक और द्युलोकमें विचरण करें । और गौएँ मुझ गोपतिको अन्न वा कीर्तिके साथ प्राप्त होवें । तब हम आती हुई धेनुओंको और यशको पाकर दोनों लोकों में विचरने वाले बनें । वा—पृथिवी पर ही विचरण करें ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि ।

पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा व सुस्रोच्चमसो दृंहता तम् ।

व्रजम् । कृणुध्वम् । सः । हि । वः । नृऽपानः । वर्म । सीव्यध्वम् ।

बहुला । पृथूनि ।

पुरः । कृणुध्वम् । आयसीः । अधृष्टाः । मा । वः । सुस्रोत् । चमसः । दृंहत । तम् ॥ ४ ॥

अस्या ऋचस्त्रेधार्थो नीयते इन्द्रियपरत्वेन ऋत्विक्परत्वेन योद्धृपरत्वेनेति । हे इन्द्रियाणि यूयं व्रजं कृणुध्वम् अस्मिन् मानसयज्ञप्रवर्तनाधिष्ठानभूते शरीरे व्रजम् संघातं कृणुध्वम् संघीभूय तिष्ठत । स हि हि यस्मात् कारणात् स देहः वः युष्माकं नृपाणः नृणां नेतॄणां स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां रक्षकः । शरीरसद्भावे हि तेषाम् अवस्थानम् । यद्वा नृणां युष्माकं पानस्थानम् । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयप्रवर्तनमेव पानम् इत्युच्यते । ❀ "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्तरि अधिकरणे वा ल्युट् ❀ । वर्म वर्माणि वारकाणि विपयाण्यानि वस्तूनि सीव्यध्वम् संबध्नीत । स्वस्वव्यापारविषयान् शब्दादीन् कुरुत । कीदृशानि । बहुला बहुलानि अधिकानि पृथूनि विस्तीर्णानि । तथा आयसीः अयोवत् सारभूता अधृष्टाः परैर्धृष्यमाणाः पुरः पूरयित्रीः स्वस्वविषयग्रहणशक्ताः कृणुध्वम् कुरुत । एतत् सर्वं शरीरसद्भावे भवतीति तस्य विनाशाभावो दार्ढ्यं च प्रार्थ्यते । वः युष्माकं संबन्धी चमसः चमसवच्चमसः भागसाधनभूतो देहः मा सुस्रोत् मा स्रवतु मा विनश्यतु । ❀ स्रवतेर्लङि व्यत्ययेन शपः श्लुः ❀ । तं देहं दृंहत दृढीकुरुत स्वावस्थानेनेति इन्द्रियाणि स्तूयन्ते । ❀ दृह दृहि वृद्धाविति धातुः ❀ ॥ यद्वा हे ऋत्विजः व्रजं कृणुध्वम् गोष्ठं कुरुत । घर्माशिरादिविनियोगार्थं गोस्थानं कुरुत । स हि स खलु नृपाणः नेतॄणां देवानां पातव्यः देवपानसाधनभूत इति सांनाय्यरूपेण वा आशिररूपेण वा गोपयःप्रभृतिकं देवाः पिबन्ति । वर्म वर्माणि सीव्यध्वम् वर्मवत् प्रधानस्य उभयत आच्छादकत्वात् प्रयाजादीनि प्राच्यानि प्रतीच्यानि च अङ्गानि वर्माणि । तानि सीव्यध्वम् संतानयत । बहुलानि पृथूनीति वर्मविशेषणम् । तथा पुरः पुराणि होतृधि-

ण्यादीनि यष्टव्यानां देवानां वा पुरः शरीराणि अयोवत् सार-भूतानि अधृष्टानि च । पुर इति पूरणीया ग्रहा वा विवक्ष्यन्ते । तान् कुरुत । वः युष्मदीयश्चमसो यज्ञाख्यः भक्षणसाधनभूतश्चमस एव वा । चमसपक्षे सामान्येन एकवचनम् । मा सुस्रोत् मा स्रवेत् । तं दृंहत दृढीकुरुत । यथा विकलो न भवति तथा कुरुत ॥ यद्वा हे योद्धारः व्रजम् संघातात्मकं ग्रामं कुरुत । स खलु युष्मदीयः संग्रामो नृपाणः । नरो योद्धारः पिबन्ति प्रत्यर्थिनां प्राणान् इति नृपाणः । वर्म कवचानि देहावरणानि सीव्यध्वम् । यथा परकीयशस्त्रैः शरीरभेदो न भवति तथा संनह्यध्वम् । आयसीः अयोनिर्मिताः पुरः नगराणि कृणुध्वं शत्रुबाधापरिहारार्थं स्वरक्षार्थं च एतादृशो वः युष्माकं चमसः अदनसाधनभूतः संग्रामो मा सुस्रोत् माऽपगच्छतु । तं दृंहतेति मन्त्रद्रष्टा ऋषिर्ब्रूते ॥

[इन्द्रियपरत्व, ऋत्विक्परत्व और भटपरत्व भेदसे इस ऋचा का अर्थ तीन प्रकारका है ।] हे इन्द्रियो ! तुम व्रजको बनाओ अर्थात् इस मानसयज्ञप्रवर्तनके अधिष्ठानभूत शरीरमें मिल कर स्थित रहो । क्योंकि-अपने २ विषयोंमें प्रवृत्त होने वाली तुम नृ-नेताओंका यह देह रक्षक है अथवा तुम नृ-इन्द्रियोंका (अपने अपने विषयमें प्रवर्तनरूप) पानस्थान है । वर्मोंको अर्थात् वारक विषय नामक वस्तुओंको भली प्रकार बाँधो अर्थात् अपने २ व्यापार विषय शब्द आदिको करो ये अधिक हैं और विस्तीर्ण हैं तुम इनको लोहेकी समान सारभूत दूसरोंसे अधृष्य अपने २ विषयोंको ग्रहण करनेमें समर्थ करो । [यह सब शरीरके होने पर ही होसकता है अतः उसके विनाशके अभावकी और दृढ़ताकी प्रार्थना करते हैं, कि] तुम्हारा यह चमसकी समान भागसाधन-भूत देह विनष्ट न होवे । उस देहको तुम अपनी स्थितिसे दृढ़ रक्खो [इस प्रकार इन्द्रियोंकी स्तुति की, अब] हे ऋत्विजो !

तुम व्रजको बनाओ अर्थात् घर्माशिरादि विनियोगके लिये गो-स्थानको करो, वही नृपाण है अर्थात् नेता देवताओंका पान-साधन है। अर्थात् सांनाय्यरूपसे वा आशिररूपसे देवता गोपय आदिका पान करते हैं। प्रधानके दोनों ओरसे वर्मकी समान आच्छादक होनेसे प्रयाजादि प्राच्य और प्रतीच्य अंगोंको तुम विस्तृत करो, ये बहुल और पृथु हैं। और ये होतृधिष्ण्यादि यष्टव्य देवताओंके शरीर हैं इनको तुम लोहेकी समान सार और अधृष्ट करो। तुम्हारा यह भक्षण करनेका पात्र चमस नष्ट न हो इसको दृढ़ करो वा—चमसकी समान जीविकाका साधन चमस अर्थात् यज्ञ विकल न रहे तैसा करो॥ हे योधाओं! तुम संघा-तात्मक ग्रामको बनाओ वही तुम्हारी मनुष्योंके द्वारा शत्रुओंके प्राणोंको पीनेका स्थान नृपाण है, तुम अपने कवचोंको पहिरो शत्रुके शस्त्रोंसे तुम्हारा शरीर छिन्न भिन्न न हो अतः कवचोंको पहिरो। शत्रुकी बाधाको रोकनेके लिये और अपनी रक्षा करने के लिये लोहेके नगरोंको बनाओ। यह तुम्हारे भक्षण करने का साधन चमस—युद्ध निष्फल न जावे। उसको दृढ़ करो॥४॥

पञ्चमी॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्य-मानाः॥ ५॥

यज्ञस्य। चक्षुः। प्रऽभृतिः। मुखम्। च। वाचा। श्रोत्रेण। मनसा। जुहोमि।

इमम् । यज्ञम् । विऽततम् । विश्वऽकर्मणा । आ । देवाः । यन्तु ।

सुऽमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

एषा ऋक् पूर्वमेव व्याख्याता [२. ३५.५] चक्षुरादीन्द्रियाणि मनोयज्ञस्य संबन्धित्वेन जुहोमि तत्प्रवणानि करोमि । इमं यज्ञं विश्वस्रष्ट्रा देवेन विततं विस्तीर्णम् इमं मानसं यज्ञं देवाः सुमनस्यमानाः सुमनस इव आचरन्तो यन्तु प्राप्नुवन्तु इति संग्रहार्थः ॥

यह अग्नि यज्ञको नेत्रकी समान दिखाने वाले हैं । यज्ञके अधिष्ठात्री देवताके नेत्रेन्द्रिय हैं । सब यज्ञ अग्निको स्थापित करके ही किये जाते हैं अत एव अग्नि यज्ञकी आदि हैं । और अग्निदेव यज्ञके मुख हैं और प्रयाज आदिमें सब देवताओंसे पहिले इनका पूजन होता है अतः यह मुखकी समान मुख्य हैं ऐसे अग्निदेवके उद्देश्यसे मैं अनन्य व्यापार वाले श्रोत्र आदि युक्त मनसे पूजनीय देवताका ध्यान करता हुआ घृतकी आहुति देता हूँ । अब विश्वकर्माके द्वारा उत्पन्न किये हुए इस अनुष्ठीयमान यज्ञमें पूजनीय इन्द्र आदि देवता अनुग्रहबुद्धि रख कर आवें ॥ [इस मन्त्रका प्रसंगपरक अर्थ यह है, कि-चक्षु आदि इन्द्रियोंका मैं मनोयज्ञके सम्बन्धसे होम करता हूँ अर्थात् उन इन्द्रियोंको मनःप्रवण करता हूँ । विश्वस्रष्टा देवसे विस्तृत इस मानस यज्ञमें देवता सुन्दर मन रख कर प्राप्त होवें] ॥ ५ ॥

षष्ठी ॥

ये देवानामृत्विजो ये च यज्ञिया येभ्यो हव्यं क्रियते भागधेयम् ।

इमं यज्ञं सह पत्नीभिरेत्य यावन्तो देवास्तविषा मादयन्ताम् ॥ ६ ॥

ये । देवानाम् । ऋत्विजः । ये । च । यज्ञियाः । येभ्यः । हव्यम् । क्रियते । भागऽधेयम् ।

इमम् । यज्ञम् । सह । पत्नीभिः । आऽइत्य । यावन्तः । देवाः । तविषाः । मादयन्ताम् ॥ ६ ॥

देवानां मध्ये ये ऋत्विजः ऋतौ काले यष्टारः ऋत्विग्भूता वर्तन्ते । ये च यज्ञिया यज्ञार्हा यष्टव्या वर्तन्ते । येभ्य उभयेभ्यो देवेभ्यः भागधेयम् भागरूपं हव्यं हविः क्रियते दीयते । यावन्तो यत्परिमाणा देवाः सन्ति तावन्तस्तविषा महान्तो देवाः पत्नीभिः स्वस्वनारीभिः इन्द्राण्यादिभिः सह इमं यज्ञम् एत्य आगत्य मादयन्ताम् हविःस्वीकारेण तृप्ता भवन्तु ॥

इति सप्तमेनुवाके चतुर्थं सूक्तम् ॥

देवताओंमें जो ऋत्विज हैं अर्थात् ऋतुकालमें यष्टा ऋत्विक्रूप हैं, और जो यज्ञार्ह पूजनीय हैं, जिन दोनोंके निमित्त भागरूप हवि दीजाती है । जितने परिमाण वाले विशाल २ देवता हैं वे सब अपनी २ पत्नी इन्द्राणी आदिके साथ इस यज्ञमें आ हविको स्वीकार करके प्रसन्न हों ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाकमें चतुर्थ सूक्त समाप्त (६०२) ॥

"त्वमग्ने व्रतपाः" इति सूक्तस्य दर्शस्य पूर्णमासस्य वा व्यतिक्रमे आज्यहोमे शान्तसमिदाधाने वा विनियुक्तम् । सूत्रितं हि कौशिकेन संहिताविधौ । "एतेनैवामावास्यो व्याख्यातः । ऐन्द्राग्नोत्र द्वितीयो भवति । तयोर्व्यतिक्रमे त्वमग्ने व्रतपा असि [१९. ५९] कामस्तदग्रे [१९. ५२] इति शान्तः" इति [कौ० १.६] ॥

"त्वमग्ने व्रतपाः" इस सूक्तका दर्श वा पूर्णमासके व्यतिक्रम के घृतहोममें वा शान्तसमिदाधानमें विनियोग किया जाता है ।

इसी बातको कौशिकसूत्रमें कहा है, कि-"एतेनैवामावास्यो व्याख्यातः। ऐन्द्राग्नोऽत्र द्वितीयो भवति। तयोर्व्यतिक्रमे त्वमग्ने व्रतपा असि (१९ । ५९) कामस्तदग्रे (१९ । ५२) इति शान्ताः।" (कौशिकसूत्र १ । ६) ॥

तत्र प्रथमा ॥

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ मर्त्येष्वा ।
त्वं यज्ञेष्वीड्यः ॥ १ ॥

त्वम् । अग्ने । व्रतऽपाः । असि । देवः । आ । मर्त्येषु । आ ।
त्वम् । यज्ञेषु । ईड्यः ॥ १ ॥

हे अग्ने त्वं व्रतपाः व्रतस्य कर्मणः पालयिता असि भवसि। मर्त्येषु मरणधर्मसु मनुष्येषु देवः द्योतमानः जाठराग्निरूपः आ अभिभवसि समन्ताद् व्याप्नोषि । द्वितीय आकारः आभिमुख्यार्थो वा। किं च यज्ञेषु दर्शपूर्णमासादिषु त्वमेव ईड्यः स्तोतव्यो भवसि ॥

हे अग्ने ! आप व्रत अर्थात् कर्मके पालक हैं। मरणधर्मी मनुष्यों में जठराग्निरूपसे व्याप्त हैं। और दर्श पूर्णमास आदि यज्ञोंमें आप स्तुति पाते हैं ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

यद् वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः ।
अग्निष्टद् विश्वादा पृणातु विद्वान्त्सोमस्य यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥ २ ॥

यत् । वः । वयम् । प्रऽमिनाम । व्रतानि । विदुषाम् । देवाः । अविदुःऽतरासः ।
अग्निः । तत् । विश्वऽआ । आ । पृणातु । विद्वान् । सोमस्य ।
यः । ब्राह्मणान् । आऽविवेश ॥ २ ॥

हे देवाः विदुषाम् जानतां वः युष्माकं व्रतानि कर्माणि अविदुष्टरासः अत्यर्थं कर्ममार्गम् अविद्वांसो वयं यत् प्रमिनाम प्रकर्षेण हिंसाम विनाशितवन्तः । ❀ "मीनातेर्निगमे" इति ह्रस्वः ❀ । तद् विश्वम् लुप्तकर्म विद्वान् जानानः अग्निः आ पृणाति आपूरयति अविकलं करोति । योग्निः सोमस्य यष्टृत्वेन संबन्धिनो ब्राह्मणान् आविवेश आविष्टः अभिमुखं गतवान् भवति ॥

हे देवताओं ! आप ज्ञानवानोंके जिन कर्मोंको हम अनजानोंने नष्ट कर दिया है उस लुप्तकर्मको जानने वाले अग्निदेव अविकल (पूर्ण) कर देते हैं। यह अग्निदेव सोमके पूजक सम्बन्धी ब्राह्मणों के अभिमुख होरहे हैं ॥ २ ॥

तृतीया ॥

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम् अग्निर्विद्वान्त्स यजात् स इद्धोता सोऽध्वरान्त्स ऋतून् कल्पयाति ॥ ३ ॥

आ । देवानाम् । अपि । पन्थाम् । अगन्म । यत् । शक्नवाम ।
तत् । अनुऽप्रवोढुम् ।
अग्निः । विद्वान् । सः । यजात् । सः । इत् । होता । सः । अध्वरान् । सः । ऋतून् । कल्पयाति ॥ ३ ॥

देवानाम् यष्टव्यानां पन्थाम् पन्थानं येन देवान् प्राप्नोति तं पन्थानमपि आ अगन्म । तत्र प्रविष्टा इत्यर्थः । किमर्थम् । यद् वयम् अनुष्ठानं शक्नवाम शक्नुयाम तद् अनुष्ठानम् अनुक्रमेण प्रवोढुम् प्रापयितुं कर्तुम् देवानां पन्थानम् अनुगताः स्म इति । ❀ गमेर्लुङि च्लेर्लुकि "मो नो धातोः" इति मकारस्य नकारः। वहतेस्तुमुनि "सहिवहोरोदवर्णस्य" इति अवर्णस्य ओकारः ❀। अथ सोग्निः विद्वान् तं पन्थानम् यजात् यजतु देवान् । सेत् स एव होता मनुष्याणाम् देवानाम् आह्वाता वा स एव अध्वरान् हिंसारहितान् यज्ञान् स ऋतून् यज्ञकालांश्च कल्पयाति कल्पयतु ॥

इति सप्तमेनुवाके पञ्चमं सूक्तम् ॥

हम जिस अनुष्ठानको करना चाहते हैं उसको अनुक्रमसे यथास्थान पर पहुँचानेके लिये हम (जिस मार्गसे देवताओंको प्राप्त होसकते हैं उस) देवयानमार्गको प्राप्त होगए हैं । उस मार्गको जानने वाले अग्निदेव देवताओंका यजन करें । वही देवताओंके होता वा आह्वाता हैं । वही हिंसारहित यज्ञोंको और यज्ञकालों को कल्पित करें ॥ ३ ॥

सप्तम अनुवाकमें पञ्चम सूक्त समाप्त (६०२)

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः ।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् १

वाक् । मे । आसन् । नसोः । प्राणः । चक्षुः । अक्ष्णोः । श्रोत्रम् । कर्णयोः ।

अपलिताः । केशाः । अशोणाः । दन्ताः । बहु । बाह्वोः । बलम् १

मेरी वाणी मुखमें रहे, प्राण नासिकाके नथुनोंमें रहे, नेत्रोंमें

चक्षुः रहे, मेरे केश श्वेततारहित रहें, दाँत अशोण (विना गिरे वा पीडारहित) रहें, और मेरी भुजाओंमें बहुतसा बल रहे १

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥ २ ॥

ऊर्वोः । ओजः । जङ्घयोः । जवः । पादयोः ।
प्रतिऽस्था । अरिष्टानि । मे । सर्वा । आत्मा । अनिऽभृष्टः ॥२॥

मेरी ऊरुओंमें ओज रहे, जंघाओंमें वेग रहे और पैरोंमें प्रतिष्ठा–खड़े रहनेकी शक्ति–रहे, मेरा आत्मा सबसे अधृष्य रहे मेरे सब अंग पापरहित रहें ॥ २ ॥

तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय ।
स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे ॥ १ ॥

तनूः । तन्वा । मे । सहे । दतः । सर्वम् । आयुः । अशीय ।
स्योनम् । मे । सीद । पुरुः । पृणस्व । पवमानः । स्वःऽगे ॥१॥

मैं अपने शरीरसे शत्रुओंके शरीरोंको दबा सकूँ और आयु भर दाँतोंसे खाता रहूँ, हे पवमानाग्ने ! आप सुखपूर्वक मेरे यहाँ बैठिये और स्वर्गमें मुझको सुखसे पूरित रखिये ॥ १ ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

प्रियम् । मा । कृणु । देवेषु । प्रियम् । राजऽसु । मा । कृणु ।
प्रियम् । सर्वस्य । पश्यतः । उत । शूद्रे । उत । आर्ये ॥ १ ॥

हे अग्निदेव ! आप मुझको देवताओंमें प्रिय करिये और राजाओंमें मुझको प्रिय बनाइये । सब देखने वालोंका मैं प्रिय रहूँ शूद्र और आर्योंमें भी मैं प्रिय रहूँ ॥ १ ॥

उत् तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय ।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय ॥

उत् । तिष्ठ । ब्रह्मणः । पते । देवान् । यज्ञेन । बोधय ।
आयुः । प्राणम् । प्रऽजाम् । पशून् । कीर्तिम् । यजमानम् । च । वर्धय ॥ १ ॥

हे ब्रह्मणस्पते ! आप उठिये और यज्ञसे देवताओंको बोधित करिये तथा यजमानकी आयु प्राण प्रजा पशु और कीर्तिको तथा यजमानको भी बढ़ाइये ॥ १ ॥

"अग्ने समिधम्" इति सूक्तेन ब्रह्मचारिकर्तव्ये अग्निकार्ये प्रत्यृचं चतस्रः समिध आदध्यात् । सूत्रितं हि संहिताविधौ । "इदम् आपः प्रवहत [७. ६४. ३] इति पाणी प्रक्षालयते । सं मा सिञ्चन्तु [७. ३४] इति त्रिः पर्युक्षति । अग्ने समिधम् आहार्षम् [१६.६४] इत्यादधाति चतस्र." [कौ० ७.८] इति ॥

"अग्ने समिधम्" सूक्तसे ब्रह्मचारीके कर्तव्य अग्निकार्यमें प्रत्येक ऋचासे चार समिधाओंको रक्खे। इसी बातको संहिता-विधिमें भी कहा है, कि-"इदं आपः प्रवहत (७ । ६४ । ३) इति पाणी प्रक्षालयति । सं मा सिञ्चतु (७ । ३४) इति त्रिः पर्युक्षति । अग्ने समिधं आहार्षम् (१६ । ६४) इत्यादधाति चतस्र." (कौशिकसूत्र ७ । ८) ॥

तत्र प्रथमा ॥

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे ।

स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु ॥१॥

अग्ने। सम्ऽइधम् । आ । अहार्षम् । बृहते । जातऽवेदसे ।

सः । मे । श्रद्धाम् । च । मेधाम् । च । जातऽवेदाः । प्र । यच्छतु१

बृहते महते जातवेदसे जातानां वेदित्रे जातैः प्राणिभिर्ज्ञायमानाय जातधनाय वा अग्नये समिधम् समिन्धनसाधनं काष्ठम् आहार्षम् आहृतवान् अस्मि । सः समिधा समिद्धो जातवेदा अग्निः मे मह्यं श्रद्धां मेधां च अधीतवेदधारणां च प्र यच्छतु ददातु ॥

मैं महान् जातवेदा (जिनको प्राणी जानते हैं) अग्निके लिये समिधाओंको ले आया हूँ, यह समिधासे समिद्ध हुए जातवेदा अग्नि मुझको श्रद्धा और पढे हुए वेदकी धारणा-मेधाको प्रदान करें ॥ १ ॥

द्वितीया ॥

इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि ।

तथा त्वमस्मान् वर्धय प्रजया च धनेन च ॥ २ ॥

इध्मेन । त्वा । जातऽवेदः । सम्ऽइधा । वर्धयामसि ।

तथा । त्वम् । अस्मान् । वर्धय । प्रऽजया । च । धनेन । च २

हे जातवेदस्त्वा त्वाम् इध्मेन इन्धनसाधनेन समिधा काष्ठेन वर्धयामसि प्रवृद्धं कुर्मः । तथा तेन प्रकारेण त्वम् अस्मान् समिदाधातॄन् प्रजया धनेन च वर्धय ॥ दीर्घम् आयुश्च मे कृणोतु करोतु । इति चरमः पादः परोक्षवादः । भवच्छब्दाध्याहारो वा ॥

हे जातवेदा अग्ने ! हम आपको प्रदीप्त करनेके साधन समिधासे बढ़ाते हैं, इस प्रकार आप हम समिधा धरने वालोंको प्रजा और धनसे बढ़ाइये । [और मेरी आयुको लम्बी करिये] २

तृतीया ॥

यद॑ग्ने यानि॒ कानि॑ चि॒दा ते॒ दारू॑णि द॒ध्मसि॑ ।
सर्वं॒ तद॑स्तु मे शि॒वं तज्जु॑षस्व यविष्ठ्य ॥ ३ ॥

यत् । अग्ने॒ । यानि॑ । कानि॑ । चि॒त् । आ । ते॒ । दारू॑णि । द॒ध्मसि॑ ।

सर्व॑म् । तत् । अ॒स्तु॒ । मे॒ । शि॒वम् । तत् । जु॒ष॒स्व॒ । य॒वि॒ष्ठ्य॒ ३

हे अग्ने ते तुभ्यं यानि कानि चिद् दारूणि यज्ञियानि अयज्ञियानि वा काष्ठानि यद् आ दध्मसि आदध्मः तत् सर्वं मे मम शिवम् श्रेयःप्रदम् अस्तु भवतु । हे यविष्ठ युवतम । ❀ "स्थूलदूरयुव०" इति युवशब्दस्य यणादिलोपः ❀ । तादृश अग्ने तत् आहितं काष्ठजातं जुषस्व सेवस्व ॥

हे अग्ने ! हमने आपके लिये जो यज्ञिय वा अयज्ञियं काष्ठ रखे हैं, वे सब मेरे लिये कल्याणप्रद होवें । हे तरुणतम अग्ने ! आप उन काष्ठोंका सेवन करिये ॥ ३ ॥

चतुर्थी ॥

ए॒तास्ते॑ अग्ने स॒मिध॒स्त्वमि॒द्धः स॒मिद् भ॑व ।
आयु॑र॒स्मासु॑ धे॒ह्यमृ॑त॒त्वमा॑चा॒र्या॑य ॥ ४ ॥

ए॒ताः । ते॒ । अ॒ग्ने॒ । स॒म्ऽइध॑ः । त्वम् । इ॒द्धः । स॒म्ऽइत् । भ॒व॒ ।

आयु॑ः । अ॒स्मासु॑ । धे॒हि॒ । अ॒मृ॒त॒ऽत्वम् । आ॒ऽचा॒र्या॑य ॥ ४ ॥

हे अग्ने ते तुभ्यम् एताः समिध आहृताः । ताभिः समिद्भिस्त्वम् इद्धः प्रज्वलितो भव । ततः अस्मासु समिध आहितवत्सु आयुः जीवनं धेहि । आचार्याय अस्मदुपाध्यायाय उपनयनकर्त्रे गायत्रीप्रदात्रे वेदाध्यापकाय अमृतत्वम् अविनाशं च धेहि प्रयच्छ ॥

इति सप्तमेनुवाके षष्ठं सूक्तम् ॥

हे अग्निदेव ! आपके लिए ये समिधायें लाई गई हैं, उनसे आप प्रज्वलित हूजिये । तदनन्तर हम समिधा लगाने वालोंको आयु प्रदान करिये, तथा हमारे उपनयनकर्ता गायत्रीप्रदाता वेदाध्यापक आचार्यके लिये अविनाशको प्रदान करिये ॥ ४ ॥

सप्तम अनुवाकमें छठा सूक्त समाप्त (६०८) ॥

"हरिः सुपर्णः" "अयोजालाः" "पश्येम शरदः" इति एकर्चानां त्रयाणां सूक्तानां सूर्योपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

"हरिः सुपर्णः" "अयोजालाः" "पश्येम शरदः" इन एक२ ऋचा वाले तीन सूक्तोंका सूर्योपस्थानमें लैङ्गिक विनियोग समझना चाहिये ।

तत्र प्रथमा ॥

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम् ।
अव तां जहि हरसा जातवेदोबिभ्यदुग्रोर्चिषा दिवमा रोह सूर्य ॥ १ ॥

हरिः । सुऽपर्णः । दिवम् । आ । अरुहः । अर्चिषा । ये । त्वा । दिप्सन्ति । दिवम् । उत्ऽपतन्तम् ।
अव । तान् । जहि । हरसा । जातऽवेदः । अबिभ्यत् । उग्रः । अर्चिषा । दिवम् । आ । रोह । सूर्य ॥ १ ॥

हे सूर्य हरिः । तमो हरतीति हरिः । सुपर्णः सुपतनस्त्वम् अर्चिषा तेजसा दिवम् द्युलोकम् आरुढः । ❀ रोहतेर्लुङि "कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि" इति च्लेरङ् । ङित्त्वाद् गुणाभावः ❀ ।

दिवम् द्युलोकम् उत्पतन्तम् उद्गच्छन्तं त्वा त्वां ये शत्रवः मन्देहादयो दिप्सन्ति दम्भितुं तिरस्कर्तुं प्रतिरोद्धुम् इच्छन्ति तान् प्रतिबन्धकान् शत्रून् हे जातवेदः जातैः प्राणिभिर्ज्ञायमान यद्वा जातानां प्राणिनां कर्माणि तत्कर्मफलं च जानन्। सायंकाले सूर्यस्याग्नावनुप्रवेशात् जातवेदःशब्देन सूर्यस्य व्यवहारः। तथाविध त्वं हरसा शत्रुनिहारकेण तेजसा अव जहि यथा अवस्तात् ते भवन्ति तथा घातयेत्यर्थः। ततः अबिभ्यत् शत्रुभ्यो भीतिम् अकुर्वन् उग्रः उद्गूर्णबलः सन् हे सूर्य अर्चिषा तेजसा दिवम् द्युलोकम् आ रोह आतिष्ठ ॥

इति सप्तमेऽनुवाके सप्तमं सूक्तम् ॥

हे अंधकारका हरण करने वाले हरि अर्थात् सूर्य! सुन्दरता से पतन करने वाले आप अपने तेजसे द्युलोक पर आरूढ़ होते हैं। द्युलोक पर आरूढ़ होते हुए आपको जो मन्देह आदि शत्रु संहार करना चाहते हैं, उन प्रतिबन्धक शत्रुओंको, हे उत्पन्न हुए प्राणियोंके कर्मफलको जानने वाले जातवेदा सूर्यदेव! आप अपने शत्रुनिहारक तेजसे नष्ट करिये और तब शत्रुओंसे न डरते हुए प्रचण्ड बली बनते हुए आप अपने तेजसे द्युलोक पर अधिष्ठित हों ॥ १ ॥

सप्तम अनुवाकमें सप्तम सूक्त समाप्त (६०९)

"अयोजालाः" इत्येकर्चस्य सूक्तस्य सूर्योपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

"अयोजालाः" इस एक ऋचा वाले सूक्तका सूर्योपस्थानमें लिङ्गानुसार विनियोग समझना चाहिये।

तत्र प्रथमा ॥

अयोजाला असुरा मायिनोयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति ।

तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रऋष्टिः सपत्नान् प्रमृणन् पाहि वज्रः ॥ १ ॥

अयःऽजालाः । असुराः । मायिनः । अयस्मयैः । पाशैः । अङ्किनः । ये । चरन्ति ।

तान् । ते । रन्धयामि । हरसा । जातऽवेदः । सहस्रऽऋष्टिः । सऽपत्नान् । प्रऽमृणन् । पाहि । वज्रः ॥ १ ॥

अयोजालाः । जालम् आनायः । अयोमयवागुरावन्तो मायिनः कुटिला ये असुराः सुरविद्वेषिणः अयस्मयैः पाशैः । ❀ "अयस्मयादीनि च्छन्दसि" इति भसंज्ञत्वेन निपातनात् पदसंज्ञानिबन्धनरुत्वाभावः ❀ । एतादृशैः पाशैः अङ्किनः लक्षणवन्तः पाशहस्ताश्चरन्ति । सत्कर्मकारिणो हिंसितुम् इति शेषः । तांस्तथाविधान् असुरान् हे जातवेदः ते तव हरसा तेजसा रन्धयामि । ❀ रध्यतिर्वशगमने इति यास्कः [नि० १०. ४०] ❀ । वशयामि । पुरुषव्यत्ययो वा । रन्धय वशयेति । स्वाधीनान् कृत्वा च सहस्रऋष्टिः । ऋष्टिरायुधविशेषः । सहस्रसंख्याकायुधविशेषयुक्तो वज्रः । ❀ अर्शआदित्वाद् मत्वर्थीयः अच् प्रत्ययः ❀ । वज्रवान् त्वं सपत्नान् शत्रून् प्रमृणन् प्रकर्षेण हिंसन् पाहि पालय अस्मान् उपद्रवात् ॥

इति सप्तमेऽनुवाकेऽष्टमं सूक्तम् ॥

लोहेके पाशों वाले जो सुरविद्वेषी कुटिल असुर लोहेके पाशों से पहिचानमें आते हुए सत्कर्म करने वालोंका संहार करनेके लिये विचरण करते हैं, ऐसे असुरोंको हे जातवेदा सूर्य ! मैं आप

के तेजसे वशमें करता हूँ ॥ सहस्र ऋष्टियोंसे सम्पन्न वज्र वाले आप शत्रुओंको मसल कर हम उपस्थाताओंकी रक्षा करिये १

सप्तम अनुवाकमें अष्टम सूक्त समाप्त (६१०) ॥

"पश्येम शरदः शतम्" इति सूक्तस्य सूर्योपस्थाने लैङ्गिको विनियोगः ॥

"पश्येम शरदः शतम्" इस सूक्तका सूर्योपस्थानमें लैंगिक विनियोग समझना चाहिये ॥

तत्पाठस्तु ॥

पश्येम शरदः शतम् ॥ १ ॥ जीवेम शरदः शतम् २ बुध्येम शरदः शतम् ॥ ३ ॥ रोहेम शरदः शतम् ४ पूषेम शरदः शतम् ॥ ५ ॥ भवेम शरदः शतम् ६ भूयेम शरदः शतम् ॥ ७ ॥ भूयसीः शरदः शतात्

पश्येम । शरदः । शतम् ॥ १ ॥ जीवेम । शरदः । शतम् ॥२॥ बुध्येम । शरदः । शतम् ॥ ३ ॥ रोहेम । शरदः । शतम् ॥४॥ पूषेम । शरदः । शतम् ॥ ५ ॥ भवेम । शरदः । शतम् ॥ ६ ॥ भूयेम । शरदः । शतम् ॥ ७ ॥ भूयसी । शरदः । शतात् ॥ ८ ॥

हे सूर्य त्वां शरदः शतम् शतसंख्याकान् संवत्सरान् पश्येम । अत एव शत शरदो जीवेम । बुध्येम । ❀ व्यत्ययेन परस्मैपदम् ❀ । बुध्येमहि कार्यजातम् । रोहेम उत्तरोत्तरं मरूढाः मवृद्धा भवेम । पूषेम शतसंवत्सरपरिमितकालपर्यन्तं पुष्टिं लभेमहि । ❀ पूष पुष्टौ । भौवादिकः ❀ । भवेम । भवनं संभवनम् । पुत्रादिमवाहेण संभूताः स्याम । भूयेम भूयास्म । इति भवनम् आशा-

स्यते। ❀ आशीर्लिङि छान्दसी रूपसिद्धिः ❀। भूयसीः न केवलं शतसंख्याकाः शरदः भूयसीः अधिकाः शरदः अनेककालपर्यन्तम्। ❀ "कालाध्वनोः०" इति सर्वत्र द्वितीया ❀॥

इति सप्तमेनुवाके नवमं सूक्तम्॥

हे सूर्य! हम आपको सौ वर्ष तक देखते रहें अत एव सौ वर्ष तक जीवित रहें, कार्योंको समझते रहें, सौ वर्ष तक वृद्धिको प्राप्त होते रहें, सौ वर्ष तक पुष्टिको प्राप्त करते रहें, सौ वर्ष तक पुत्र आदिके प्रवाहसे सम्पन्न रहें, सौ ही वर्ष तक नहीं, किन्तु बहुत समय तक जीवित रहें॥ १-८॥

सप्तम अनुवाकमें नवम सूक्त समाप्त (६१२)॥

"अव्यसश्च" इति एकर्चं सूक्तं श्रौतस्मार्तसकलकर्मादौ जपेत् उपाकर्मणि च। सूत्रितं हि। "अभिजिति शिष्यान् उपनीय" इति प्रक्रम्य "अव्यसश्च [१६. ६८] इति जपित्वा सावित्रीम् ब्रह्म जज्ञानम् [४. १. १] इत्येकाम् त्रिषप्तीयं [१, १] च पच्छो वाचयेत्" इति [कौ० १४. ३]॥

"अव्यसश्च" इस एक ऋचा वाले सूक्तका श्रौत स्मार्त आदि सब कर्मोंके आरम्भमें और उपाकर्ममें भी जप करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि—"अभिजिति शिष्यान् उपनीय" का आरम्भ करके कौशिकसूत्र १४। ३ में कहा है, कि—"अव्यसश्च (१६। ६८) इति जपित्वा सावित्रीं ब्रह्मजज्ञानम् (४। १। १) इत्येकां त्रिषप्तीयं (१। १) च पच्छो वाचयेत्"॥

तत्पाठस्तु॥

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे॥ १॥

अव्यसः। च। व्यचसः। च। बिलम्। वि। स्यामि। मायया।

ताभ्याम् । उत्ऽहृत्य । वेदम् । अथ । कर्माणि । कृण्महे ॥ १ ॥

व्यचसः । ॐ व्यचतिर्व्याप्तिकर्मा ॐ । व्याप्तस्य सर्वशरीरव्यापकस्य व्यानवायोः समष्टिरूपस्य अव्यसः अव्यचसः । ॐ वर्णलोपश्छान्दसः ॐ । अव्याप्तस्य व्यष्टिरूपस्य प्राणात्मकस्य वायोः । ॐ परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ । "व्यचेः कुटादित्वम् अनसीति वक्तव्यम्" इति पर्युदासाद् ङित्वाभावेन संप्रसारणाभावः ॐ । तयोर्वि ब्रम् बिलवद्बिलं मूलाधारं मायया । कर्म नामैतत् । कर्मणा अभिभवनव्यापारेण वि ष्यामि विवृत करोमि । ॐ स्यतिरुपसृष्टो विमोचने इति नैरुक्ताः [नि० १. १७] ॐ । शब्दं विवक्षोः पुरुषस्य प्रयत्नजनितवायुवशाद् मूलाधारे स्पन्दो भवतीति आगमिका आहुः "मूलाधारात् प्रथमम् उदितो यस्तु भावः पराख्यः" इति । ताभ्यां व्यानप्राणाभ्याम् । ॐ करणे तृतीया ॐ । वेदम् अक्षरात्मकमन्त्रसंघम् उद्धृत्य बिलरूपाद् मूलाधारात् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीक्रमेण उद्गमय्य अथ अनन्तरं कर्माणि श्रौतानि स्मार्तानि च कृण्महे कुर्महे ॥ यद्वा अव्यचसः अव्याप्तस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः व्यचसः व्याप्तस्य परमात्मनश्च बिलम् उपलब्धिस्थानं हृदयं मायया अज्ञानेन वि ष्यामि विमुक्तं विरहितं करोमि । हृदये अज्ञानावृते सति कर्तव्याकर्तव्यविभागो न भवति । अतः कार्याकार्यविभागैकज्ञानपरिपन्थिनं मूढभावम् अपसारयामीत्यर्थः । ताभ्यां जीवपरमात्मभ्यां वेदम् चिकीर्षितकर्मविषयं ज्ञानम् उद्धृत्य संपाद्य अथ अनन्तरं कर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यानि कृण्महे कुर्महे । चिकीर्षितस्य कर्मणः स्वरूपम् तत्साधनकलापम् तदङ्गकलापम् तत्फलम् तत्कर्मप्रतिपादकमन्त्रब्राह्मणयोरर्थं च विदित्वा कर्माण्यध्यवस्यम् इत्युक्तं भवति ॥

इति सप्तमेनुवाके दशमं सूक्तम् ॥

मैं सब शरीरमें व्याप्त रहने वाले समष्टिरूप व्यान वायु

(व्यच्) और अव्यच् अर्थात् व्याप्तिरूप प्राणात्मक अव्याप्त प्राणवायु इन दोनोंके मूलाधारको अभिभवनव्यापारसे विवृत करता हूँ [शास्त्र जानने वाले कहते हैं, कि–शब्दको कहना चाहने वाले पुरुषके प्रयत्नसे उठी हुई वायुके वशसे मूलाधारमें स्पन्द होता है, यथा "मूलाधारात् प्रथमं उदितो यस्तु भावः पराख्यः।–मूलाधारसे प्रथम प्रकट हुआ जो परा नामक भाव है"] उन व्यान और प्राणोंसे अक्षरात्मक मन्त्रसमूहरूप वेदको मूलाधारमेंसे परा पश्यन्ती मध्यमा और वैखरीके क्रमसे निकाल कर हम श्रौत और स्मार्त कर्मोंको करते हैं। [अथवा–] अव्याप्त परिच्छिन्न जीवात्मा (अव्यच्) के और व्याप्त परमात्मा (व्यच्) के बिल अर्थात् प्राप्तिके स्थान हृदयको अज्ञानसे रहित करता हूँ, तात्पर्य यह है, कि–हृदयमें अज्ञान होने पर कर्तव्य और अकर्तव्यका ज्ञान नहीं होता है। अतः कार्य और अकार्यके जाननेके निश्चित भावके विरोधी मूढभावको दूर करता हूँ। उन जीव और परमात्मा से वेदको–चिकीर्षित कर्मविषयक ज्ञान को–सम्पादित करके हम नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको करते हैं। तात्पर्य यह है, कि–जिस कर्मको करनेकी इच्छा हो उस कर्मके स्वरूपको उसके साधनकी सामग्रीको, उसके अंगोंको, उसके फलको और उस कर्मका प्रतिपादन करने वाले मन्त्र और ब्राह्मणके अर्थको समझ कर कर्मका आरम्भ करना चाहिये ॥

सप्तम अनुवाकमें दशम सूक्त समाप्त (६१२) ॥

"जीवा स्थ" इति पञ्चमन्त्रात्मकेन सूक्तेन आयुष्कामः अङ्गिरासम्य आत्मानम् अनुमन्त्रयेत। सूत्रितं हि। "शुद्धा न आपः [१२. १. ३०] इति निष्टीव्य जीवाभिः [१६. ६६, ७०] आचम्य एहि जीवम् [४. ६] इत्याञ्जनमणिं बध्नाति" इति [कौ० ७. ६] ॥

"जीवा स्थ" इस पाँच मन्त्र वाले सूक्तसे आयुको चाहने वाला जलोंसे आचमन करके आत्माका अनुमन्त्रण करे। इस विषयमें सूत्रका प्रमाण भी है, कि-"शुद्धा न आपः (१२ । १ । ३०) इति निष्ठीव्य जीवाभिः (१६ । ६६, ७०) आचम्य एहि जीवम् (४ । ६) इत्याञ्जनमणिं वध्नाति" (कौशिकसूत्र ७।६) ॥

तत्पाठस्तु ॥

जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥

जीवाः । स्थ । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥ १ ॥

उपजीवा स्थोप जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥२॥

उपऽजीवाः । स्थ । उप । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् २

संजीवा स्थ सं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥३॥

सम्ऽजीवाः । स्थ । सम् । जीव्यासम् । सर्वम् आयुः । जीव्यासम् ३

जीवला स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ ४ ॥

जीवलाः । स्थ । जीव्यासम् । सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ४

इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम् ।
सर्वमायुर्जीव्यासम् ॥ १ ॥

इन्द्र । जीव । सूर्य । जीव । देवाः । जीवाः । जीव्यासम् । अहम् ।
सर्वम् । आयुः । जीव्यासम् ॥ १ ॥

निगदव्याख्यातम् इदम् । इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा इति

मन्त्रे समाम्नाता इन्द्रसूर्यदेवाः संबोध्यन्ते । हे इन्द्रादयो यूयं जीवाः जीवनवन्तः आयुष्मन्तः स्थ भवथ । भवदनुग्रहाद् अहमपि जीव्यासम् जीवनवान् आयुष्मान् भूयासम् । अनेनाचमनकर्मणा इति विनियोगाद् अवगम्यते । कतिपयकालावस्थानमपि जीवनं भवेद् इति तत्राह सर्वम् इति । सर्वं संपूर्णं शतसंवत्सरपरिमितम् आयुर्जीव्यासम् प्राणाय धारयेयम् । एवम् उत्तरे मन्त्रा व्याख्येयाः ॥ उपजीव्याः । उपशब्दः अधिकार्थः । अधिकं जीवनवन्तः । उपजीवयन्ति संनिहितान् भजकान् आयुष्मतः कुर्वन्तीति वा उपजीव्याः ॥ संजीव्याः समीचीनजीवनवन्तः जीवनकाले एकः क्षणोपि वैयर्थ्येन न नीयते किं तु परोपकारित्वेनेति आयुषः सम्यक्त्वम् ॥ जीवलाः जीवः प्राणधारणम् । ❀ भावे घञ् । "सिध्मादिभ्यश्च" इति मत्वर्थीयो लच् ❀ ॥ हे इन्द्र परमैश्वर्यसंपन्न सर्वेन्द्रियप्रकाशक त्वं जीव आयुष्मान् भव । हे सूर्य सर्वस्य प्रसवितस्त्वं जीव । हे देवाः इन्द्रसूर्यव्यतिरिक्ता अग्न्यादयो यूयं जीवाः । भवतेति अनुषक्तक्रियापदस्य बहुवचनान्तत्वेन परिणामनम् । युष्मत्प्रसादाद् अहम् आचमनकर्मकर्ता चिरकालपर्यन्तं प्राणान् धारयेयम् इति आयुराशास्यते ॥

इति सप्तमेनुवाके एकादशं सूक्तम् ॥

(हे पञ्चममन्त्रमें कहे हुए इन्द्र सूर्य और देवताओं) तुम आयुष्मान् हो, (इस आचमन कर्मसे) आपके अनुग्रहसे मैं भी आयुष्मान् होऊँ (कब तक जीवित रहूँ इसको स्पष्ट करते हैं, कि–) सम्पूर्ण आयु भर अर्थात् सौ वर्ष तक प्राणोंको धारण किये रहूँ उपजीव्य रहूँ, सम् उपजीव्य रहूँ अर्थात् मेरी आयु परोपकारमें ही बीते, एक क्षण भी व्यर्थ न जावे । हे इन्द्र आदि देवताओं ! तुम जीवन वाले हो, मैं भी जीवनसम्पन्न रहूँ । हे परमैश्वर्यसम्पन्न सर्वेन्द्रियप्रकाशक इन्द्र ! आप जीवित रहें, हे सब

के प्रसविता सूर्य ! आप जीवित रहें, हे इन्द्र और सूर्यसे भिन्न अग्नि आदि देवताओं ! तुम जीवित रहो और आपके प्रसादसे आचमन करने वाला मैं भी चिरकाल तक प्राणोंको धारण किये रहूँ। [इस प्रकार इस सूक्तमें आयुकी प्रार्थना की है] १—१

सप्तम अनुवाकमें एकादश सूक्त समाप्त (६१४)

"स्तुता मया वरदा" इति एकर्चस्य सूक्तस्य अधीतस्य वेदस्य गायत्र्या वा उपस्थाने लैङ्गिको विनियोगो द्रष्टव्यः ॥

"स्तुता मया वरदा" इस एक ऋचावाले सूक्तका पढ़ेहुए वेदके वा गायत्रीके उपस्थानमें लिंगानुसार विनियोग समझना चाहिये

ऋक्पाठस्तु ॥

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ १ ॥

स्तुता । मया । वरदा । वेदऽमाता । प्र । चोदयन्ताम् । पावमानी । द्विजानाम् ।
आयुः । प्राणम् । प्रऽजाम् । पशुम् । कीर्तिम् । द्रविणम् । ब्रह्मऽवर्चसम् ।
मह्यम् । दत्त्वा । व्रजत । ब्रह्मऽलोकम् ॥ १ ॥

स्वानुष्ठितकर्मणो निरभिसंधिना स्वार्थं फलाशासने स्वस्याविकलं भवतीत्यभिप्रायेण मन्त्रद्रष्टा ऋषिः स्वानुष्ठितवेदाध्ययनेन

गायत्रीजपेन वा द्विजानाम् आयुरादिफलम् आशास्य तन्मध्य-वर्तिनः स्वस्यापि फलं सिद्धवद् अनुवदति । मया वेदाध्यायकेन सावित्रीं जपता वा स्तुता अभिष्टुता स्वभ्यस्ता वरदा इष्टकामप्रदात्री पावमानी । पवमानः पापात् परिशोधकः सूत्रात्मा । "वायुरेव पवमानो दिशो हरित आविष्टः" इति ऐतरेयकश्रुतेः [ऐ० आ० २. १. १] । तत्प्रतिपादिका पावमानी वेदमाता वेदस्य ऋगादिरूपस्य माता सर्ववेदसारत्वेन मातृवत्प्रधानभूता सावित्री वेद एव वा माता मातृवद्धितकारित्वात् ।

वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः ।

इति स्मृतेः । द्विजानाम् द्विजन्मनां ब्राह्मणानां त्रैवर्णिकानां वा आयुरादिफलानि प्र चोदयन्ताम् । ❀ पूजायां बहुवचनम् ❀ । प्रेरयतु प्रयच्छतु । ब्रह्मवर्चसम् ब्रह्मणां वर्चः ब्राह्मं तेजः । ❀ "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" इति अच् समासान्तः ❀ । अथ मह्यं स्तोत्रे सर्वेषां फलप्रार्थकाय दत्त्वा आयुरादिकं फलं वितीर्य ब्रह्मलोकम् ब्रह्मणो लोकः सत्यलोकः ब्रह्मैव वा लोकः लोक्यमानं विद्वद्भिरनुभूयमानं परतत्त्वं व्रजत । इति प्रत्यक्षवादः । ❀ अत्रापि पूर्ववद् बहुवचनम् ❀ । शब्दावगम्यब्रह्माकारं परित्यज्य वाङ्मनसातीतार्थब्रह्मरूपा भवेति मन्त्रदर्शिना ऋषिणा साक्षात्कृतपरत्वेन उच्यते ॥

इति सप्तमेनुवाके द्वादशं सूक्तम् ॥

अपने अनुष्ठित कर्मोंका निरभिसंधि होकर सबके लिये फल की प्रार्थना करना अपने लिये अविकल होता है इस अभिप्राय से मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपने अनुष्ठित वेदाध्ययनसे वा गायत्रीमन्त्रके जपसे द्विजोंके आयु आदि फलकी प्रार्थना करके उनके मध्यमें वर्तमान अपने फलको भी सिद्धवत् कहता है, कि—मुझ वेदाध्यापक वा गायत्रीका जप करने वालेसे स्तुत और भली प्रकार

अभ्यस्त इष्ट प्रयोजनको देने वाली; पापसे शुद्ध करने वाले परि-शोधक– सूत्रात्मा) का प्रतिपादन करने वाली पावमानी † ऋक् आदि रूप वेदकी माता अर्थात् सब वेदोंका सार होनेसे माता की समान प्रधानभूत सावित्री वा वेदस्वरूप माता वेदमाता, त्रैवर्णिकोंको आयु आदि फल प्रदान करे फिर मुझ सबके लिये फलकी प्रार्थना करने वाले स्तोताको ब्रह्मतेज प्रदान करके विद्वानोंसे अनुभूयमान परतत्त्व ब्रह्मलोकको चली जावे अर्थात् शब्दावगम्य ब्रह्माकारको त्याग कर वाणी और मनसे अतीत अर्थ वाली ब्रह्मरूपा होजावे ॥ १ ॥

सप्तम अनुवाकमें द्वादश सूक्त समाप्त (६१५)

"यस्मात् कोशात्" इति एकर्चं सूक्तं सर्वेषु श्रौतस्मार्तकर्मसु ब्रह्मोत्थापनानन्तरं जपेत् । स्वाध्यायोत्सर्जनकर्मणि च अन्ते जपेत् । सूत्रितं हि कौशिकेन संहिताविधौ । "पौषस्यापरपक्षे त्रिरात्रं नाधीयीत तृतीयस्याः प्रातःसमासं संदिश्य यस्मात् कोशादित्यन्तः" इति [कौ॰ १४. ३] ॥

"यस्मात् कोशात्" इस एक ऋचा वाले सूक्तको सब श्रौत और स्मार्त कर्मोंमें ब्रह्मोत्थापनके अनन्तर जपे । और स्वाध्यायोत्सर्जनकर्ममें भी अन्तमें जपे । कौशिकमुनिने संहिताविधिमें सूत्रित भी किया है, कि–"पौषस्यापरपक्षे त्रिरात्रं नाधीयीत तृतीयस्याः प्रातः समासं संदिश्य यस्मात् कोशादित्यन्तः" (कौशिकसूत्र १४ । ३) ॥

ऋक्पाठस्तु ॥

यस्मा॒त् कोशा॑दु॒दभ॑राम॒ वेदं॒ तस्मि॑न्न॒न्तर॑व॒ दध्म एनम्

† ऐतरेय आरण्यक २ । १ । १ में कहा है, कि–"वायुरेव पवमानो दिशो हरित आदिष्टः" ॥

कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह १

यस्मात् । कोशात् । उत्ऽअभराम । वेदम् । तस्मिन् । अन्तः ।
अव । दध्म । एनम् ।

कृतम् । इष्टम् । ब्रह्मणः । वीर्येण । तेन । मा । देवाः । तपसा ।
अवत । इह ॥ १ ॥

यस्मात् "अव्यसश्च व्यचसश्च" इति मन्त्रे प्रतिपादिताद् मूलाधाररूपाद् वा कोशात् कोशवत्कोशः यथा कोशाद् धनवस्त्ररत्नादिपूर्णाद् अपेक्षितं वस्तु आनीयते एवम् अस्य सर्ववर्णमन्त्रायतनत्वाद् तत एवोद्धार इति तत्त्वेन व्यपदेशः । वेदम् विदन्त्यनेन प्रत्यक्षाद्यविषयम् उपायम् इति वेदः । उक्तं हि ।

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते ।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥

इति । श्रौतस्मार्तसकलकर्मप्रतिपादकमन्त्रब्राह्मणरूपं वेदम् उदभराम उद्धृतवन्तः । कर्मानुष्ठानार्थम् उच्चारितवन्तः स्मः । ❀ "हृग्रहोर्भः०" इति भत्वम् ❀ । तस्मिन् पूर्वोक्ते स्थाने एनं येन कर्माण्यनुष्ठितानि तम् एतम् अन्वादिष्टं वेदम् अन्तः मध्ये अव दध्मः पुनः स्थापयामः । कर्मप्रयोगार्थं स्वमुखाद् उच्चारिता वर्णरूपा मन्त्रास्तथैव यदि निःसरेयुस्तर्हि उत्तरकाले मन्त्राभावेन कर्मानुष्ठानं न भवेद् इति पुनः पूर्वोक्त एव वेदोद्धरणापादानस्थाने वेदनिधानम् उक्तम् इत्यभिप्रायः । ब्रह्मणः देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यस्य परमात्मनो वीर्येण वीर्यरूपेण कर्मप्रतिपादकेन वा वेदेन कृतम् यत् कर्म ब्रह्मयज्ञादिकं निष्पादितम् इष्टम् यत् स्वाहावौषडादिशब्दैर्देवतार्थं हविः प्रत्तं तेन कृतेन इष्टेन च कर्मणा हे देवाः यूयम् इह कर्मलोके तपसा । तपःशब्देन फलं विवक्ष्यते । कर्म-

फलेन मा माम् अनुष्ठातारम् अवत रक्षत तर्पयत । कर्म अविफलं कृत्वा तत्फलेन मां संयोजयतेति यावत् । यद्वा तपसा कृच्छ्रानुष्ठितेन कर्मणा माम् अवत । अथ वा तपसा । तपः पर्यालोचनम् । तद्रूपेण तेन ब्रह्मणो वीर्येण मां संतर्पयतेति ॥

एकोनविंशे काण्डे सप्तमेनुवाके त्रयोदशं सूक्तम् ॥

सप्तमोनुवाकः समाप्तः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।
पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजराजपरमेश्वरश्रीवीरहरिहरमहाराज-
साम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्यविरचिते माधवीये
अथर्ववेदसंहिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे
एकोनविंशं काण्डं

समाप्तम् ॥

श्रीविद्याशङ्करार्पणम् अस्तु ॥

जिस "अव्यसश्च और व्यचसश्च" मन्त्रमें प्रतिपादित मूलाधारसे वा कोशकी समान कोशसे (जैसे धन रत्न वस्त्र आदि से पूर्ण कोशसे अपेक्षित वस्तु निकाल ली जाती है इसीप्रकार इस सर्व वर्णोंके स्थानरूप कोशसे) हम वेदको निकालते हैं । [प्रत्यक्ष आदिके अविषय उपायको जिससे जानते हैं वह वेद कहलाता है । कहा भी है, कि-"प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते । एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ।- अर्थात् जो उपाय प्रत्यक्ष वा अनुमानसे न जाना जावे उसको वेदसे जाना जाता है, यही वेदकी वेदता है" अर्थात् श्रौत स्मार्तसकल कर्मोंके प्रतिपादक मन्त्रब्राह्मणरूप वेदको हम कर्मानुष्ठान के लिये उच्चारण करते हैं] और उस पूर्वोक्त स्थानमें जिससे

कर्म किये हैं उस वेदको फिर स्थापित करते हैं [कर्मप्रयोगके लिये अपने मुखसे उच्चारण किये हुए वर्णरूप मन्त्र यदि वैसे ही निकल जावें तो भविष्यमें मन्त्रके अभावसे कर्मका अनुष्ठान ही न होवे इसी लिये पूर्वोक्त वेद निकालनेके स्थान पर फिर वेदका स्थापन करना कहा है] देशकाल और परिच्छेदसे शून्य परमात्मा (ब्रह्म) के कर्मप्रतिपादक वीर्य वा वेदसे जो ब्रह्मयज्ञ आदि कर्म किया है और जो स्वाहा वौषट् आदि शब्दोंसे हवि दा है, उस कृत और इष्टकर्मसे हे देवताओं ! तुम इस कर्मलोक में फलके द्वारा मेरी रक्षा करो अर्थात् कर्मको अविकल करके उसके फलसे मुझे संयुक्त करो–मुझे तृप्त करो ॥ १ ॥

तेरहवाँ सूक्त समाप्त (६१६)

सप्तम अनुवाक समाप्त

विद्यातीर्थ महेश्वर वेदके अर्थको प्रकाशित करके मेरे हृदयके अंधकारको दूर करें और मुझे चारों पदार्थ प्रदान करें ॥

इति श्री अथर्ववेदसंहिताका एकोनविंशकाण्ड ऋ० कु०

प० रामस्वरूपशर्मात्मज सनातनधर्मपताका

सम्पादक ऋ० कु० प० रामचन्द्र

शर्मा कृत सायणभाष्यानुकूल

भाषानुवाद सहित

समाप्त.

॥ एकोनविंशः काण्डः समाप्तः ॥

